पुस्तक वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।
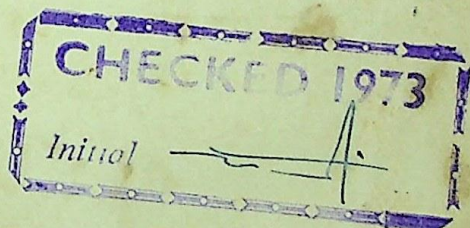
पुस्तक-पारिजात-मालाका १ ला, पुष्प

पद्म-पराग

प्रथम भाग

(विविध-विषयक ललित लेखोंका संग्रह)

लेखक

पण्डित श्रीपद्मसिंह शर्म्मा

सम्पादक

पारसनाथ सिंह, बी० ए०, एल-एल० बी०

[प्र]थम संस्करण] १९८६ विक्रमाब्द [मूल्य २।।।)]

प्रकाशक—

भारती-पब्लिशर्स, लिमिटेड

मुरादपुर (पटना)

मुद्रक—रावतमल चौधरी

वणिक् प्रेस,

१, सरकार लेन, कलकत्ता।

समर्पणम्

" श्रीमातुः पाद पद्मयोः "

— लेखक

संपादकीय वक्तव्य

श्रद्धेय पण्डित श्रीपद्मसिंहजी शर्माकी 'विहारीकी सतसई'-के प्रकाशकोंकी ओरसे, कई बरस पहले, यह सूचना दी गयी थी कि पण्डितजीके फुटकर लेखोंका संग्रह भी, 'पद्म-पराग' के नामसे शीघ्रही प्रकाशित होगा। पर उन लोगोंके दुर्भाग्यसे जो पण्डित जीके लेखोंके रसास्वादनके लिये अधीर हो रहे थे, इस कार्य्यमें कई विघ्न-बाधाएं आ पड़ीं और प्रतिज्ञात संग्रह न निकल सका। इससे निराश होनेवालोंमें इन पंक्तियोंका लेखक तथा उसके कई अन्तरङ्ग मित्र भी थे। हम लोगोंने अपनी फ़र्याद पण्डितजीके दरबारमें पहुंचायी और अर्ज़ किया कि अपने लेखोंके प्रकाशन-का प्रबन्धकर आप हम जैसे पाठकोंको अनुगृहीत करें। इस प्रस्तावसे अनुकूलता रखनेवाले प्रकाशक भी पण्डितजीको मिल गये, पर कार्य्यका श्रीगणेश न हो सका। जब पण्डितजी मेरे तक़ाज़ोंसे तंग आ गये तब उन्होंने एक दिन काग़ज़ी चिथड़ोंका एक बहुत बड़ा बंडल उठाकर मेरे पास भेज दिया और लिख दिया कि ऐसा हठ है तो लो यह सारी सामग्री और जो जी चाहे करो। मेरे 'संपादक' बननेका थोड़ेमें यही इतिहास है।

मालूम नहीं पण्डितजीने क्या समझकर वह बंडल मेरी ओर फेंका और उन शब्दोंका प्रयोग किया। पर मेरे लिये यही बहुत था कि ऐसी चीज़ मेरे हाथ लग गयी और मुझे अपने विचार-

से सहानुभूति रखनेवालोंकी सेवामें उसे उपस्थित करनेका अवसर मिल गया। फिर मैंने इस बातकी परवा न की कि मैं ऐसे ग्रन्थ-को सम्पादन करनेकी कुछ भी योग्यता नहीं रखता और मेरे सहयोगसे विशेषता आना तो दर-किनार कुछ न कुछ अक्षम्य साहित्यिक अपराध होके ही रहेगा। आनन्दातिरेकसे, मैं पीने और पिलानेके लिये यह रस-भरा कटोरा हाथमें लेकर बाहर निकल पड़ा। मुझे इस बातकी फ़िक्र न रही कि मेरी अयोग्यता-के कारण कटोरा छलके बिना और उसके रसकी मात्रा न्यून हुए बिना न रहेगी। स्वयं पण्डितजीके विषयमें मैंने यह सोच लिया कि अगर आपने सचमुच मुझे इस कार्य्यका अधिकारी समझकर मेरी ओर यह निबन्ध-निक्षेप किया तो आप भक्त-वत्सल हैं, मेरे कारण रह जानेवाली त्रुटियोंको कभी ध्यानमें लायेंगे ही नहीं—और—अगर—आपने मुझसे पिण्ड छुड़ाने और साथ ही मेरा परिहास करानेके लिये यह उपाय ढूंढ निकाला, तो लीजिए, मेरे सम्पादनका यही नतीजा है—इसे शल्यवत् हृदयमें धारण कीजिए!

रुचि-वैचित्र्यके अनुसार इस लेख-संग्रहमें किसीको कुछ पसन्द पड़ेगा, किसीको कुछ। मैं, अपनी धृष्टताके लिये क्षमा-प्रार्थना करता हुआ पाठकोंसे विशेष अनुरोध उन लेखोंके पढ़नेके लिये करूँगा जो कतिपय महापुरुषोंकी पवित्र स्मृति या प्रशंसामें लिखे गये हैं। इनमें कहीं कहीं पण्डितजीकी वर्णन-शैली, सौष्ठव या सौन्दर्यके इतने ऊंचे शिखरपर पहुंच गयी है कि उसकी यथेष्ट प्रशंसा करना असंभव हो जाता है। इस मार्गसे चलते-

वालोंको पण्डितजीकी पद्धतिके अनुसरणसे बहुत कुछ लाभ पहुंचनेकी आशा है। पण्डितजी हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फ़ारसीके पारङ्गत विद्वानोंमें हैं। शब्दोंपर उनका असाधारण अधिकार है। पर इन लेखोंमें उन्हें जो आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई है, मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार, उसका प्रधान कारण उनकी सहृदयता, उनकी तल्लीनता है। पण्डितजी अगर किसीको याद-कर चार आंसू बहाते हैं तो इसका कारण यह नहीं कि उन्हें ख्वाह-मख्वाह कुछ लिखना है, किसी पत्र-सम्पादकके अनुरोधकी रक्षा करनी है। उनके 'चार आंसू' यथार्थमें आंसू होते हैं, और लिखते समय उनकी यह अवस्था हो जाती है कि—'नैननिके मग जल बहै, हियौ पसीजि पसीजि'!—बिना सच्ची सहानुभूति या सम-वेदनाके किसी भी विषयकी विवेचना सार्थक नहीं हो सकती। सच्चे सुलेखककी विशेषता यही है कि वह हृदयके आदेशसे लिखता है और लेखके विषयमें लीन या मग्न-सा हो जाता है। वह अपनी लेखनीको साहित्यके सन्मार्गसे इधर-उधर होने नहीं देता, साथही उसका ध्यान क्षण भरके लिये भी प्रतिपादनीय विषयको छोड़ दूसरी ओर नहीं जाता। पण्डितजीसे उनके पाठक बहुत कुछ सीख सकते हैं, पर मैं फिर उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट करूंगा कि, साहित्यिक दृष्टिसे भी, पण्डितजीका सबसे अनुकर-णीय गुण उनकी सहृदयता, उनकी संवेदनाशीलता, उनकी सचाई है। लेखकके पास सभी साधन हों पर सच्चा हृदय न हो तो उसकी कृति कभी स्थायी नहीं हो सकती।

लेखोंकी संख्या अधिक होनेके कारण सबके सब एक ही भागमें उपस्थित नहीं किये जा सकते। बाक़ी—जो प्रायः समालोचनात्मक हैं—दूसरे भागके लिये रख छोड़े गये हैं और यथासमय प्रेमी पाठकोंकी भेट किये जायँगे। प्रस्तुत भागमें लेखोंके अलावा पण्डितजीके दो संभाषण भी दिये गये हैं। इनमें पहला, संयुक्त प्रान्तीय षष्ठ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापतिकी हैसियतसे दिया गया था और दूसरा, अखिल भारतीय अष्टादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापतिकी हैसियतसे। साहित्यिक दृष्टिसे दोनोंही स्थायी महत्त्व रखते हैं और दोनोंही इस संग्रहमें स्थान पानेके सर्वथा योग्य थे।

जैसा कि 'निबन्ध-निर्देश' से ज्ञात होगा, इस भागके सभी लेख विभिन्न सामयिक पत्रोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। किसी किसी विषयपर एकसे अधिक लेख थे, पर यहां उन्हें स्वतंत्र रूपसे न देकर, उपशीर्षकोंकी सहायतासे, अनेकको एक कर दिया गया है। इसके लिये आवश्यकतानुसार कहीं कुछ काट-छांट करनी पड़ी है। किसी किसी लेखमें—उदाहरणार्थ 'दिव्यप्रेमी मन्सूर' और 'महाकवि अकबर'में—पण्डितजीने कुछ अंश, ख़ास इस पुस्तकके लिये, बढ़ा दिया है, जिससे उसमें और विशेषता आ गयी है।

लेखोंको पढ़ते समय इतना ध्यानमें रखना चाहिये कि उनमें अधिकांश ख़ास मौक़ोंपर लिखे गये थे। उनमें यत्र तत्र कुछ बातें ऐसी हैं जो देश-काल-विशेषसे सम्बन्ध रखती हैं। परिस्थिति बदल

जानेके कारण उनका वह अंश इस समय अपनी यथार्थता खो बैठा है। पर इसी कारण उसको लेख-संग्रहसे अलग कर देना मुनासिब न होता। वस्तु-स्थितिमें परिवर्तन होजानेपर भी उनमें साहित्यिक छटा है, उस समयकी और उस विषयकी दशाका शब्द-चित्र है, जब जिस विषय पर वह लिखे गये थे। उनसे कई ऐसी बातें मालूम हो सकती हैं जिन्हें सर्वसाधारण नहीं जानते, उस विषयके आगामी इतिहास-लेखकोंके लिये वह अंश भी उपादेय हो सकते हैं।

इस संग्रहके लिये लेखोंको चुननेमें कितनी ही कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। लेख रूपी कितने ही लाल ऐसी गुदड़ियोंमें छिपे पड़े थे जिन्हें हाथ लगाते डर लगता था कि कहीं छूतेही टुकड़े-टुकड़े होकर छू-मन्तर न हो जायँ। सम्पादकका काम बहुत कुछ जीर्णोद्धार हो गया। फिर यह प्रश्न उठा कि लेखोंका क्रम क्या रहे। अपनी विवेक-बुद्धिके अनुसार इसका निश्चय कर-लेनेपर निबन्ध-निर्देशके लिये कई बातोंका अनुसन्धान करना पड़ा। इसके फल-स्वरूप जो कुछ समझमें आया उसका विवरण अन्यत्र दे दिया गया है। सम्भव है कि लेखोंका क्रम इत्यादि सबके लिये सन्तोषजनक न हो—क्रम-विभाग ठीक न हुआ हो, पर इस विषयमें सूचना मिलनेपर दूसरे संस्करणमें त्रुटियोंको दूर करनेकी चेष्टा की जायगी।

एक बात और; पण्डितजीने कभी एक भी शब्द किसीका जी दुखाने या किसीको लोगोंकी दृष्टिमें गिरानेके विचारसे नहीं लिखा,

जो उन्हें जानते हैं उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि ऐसा करना उनकी प्रकृतिके—स्वभावके सर्वथा विरुद्ध है। फिर भी संभव है कि सत्यके अनुरोध या हृदयकी चोटसे कोई बात ऐसी निकल गयी हो जो व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेषके मानसिक क्लेशका कारण हो। मैं विश्वास दिलाता हूं कि उस अवस्थामें हम सबको भी कम कष्ट न होगा, पर यथार्थ बात यह है कि आलोचना अत्यन्त पवित्र उद्देशसे और सच्ची सहृदयतासे की गयी है और आलोचकके हृदयमें किसीके प्रति राग द्वेषका लेश न कभी था, न अब है।

इस पुस्तककी एक विशेषता यह है कि संस्मरणात्मक लेखोंके साथ जहांतक हो सका, चित्र देनेकी चेष्टा की गयी है। पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ महाकवि अकबरकी हस्तलिपिका नमूना—उनके पत्रका एक फ़ोटो भी, दे दिया गया है। उनका जो चित्र इस पुस्तकमें दिया गया है वह हिन्दी-संसारके लिये बिलकुल नया है और यह उनका सबसे अन्तिम चित्र है जो अकबर साहबके सुपुत्र सैयद इशरत हुसैन साहबकी विशेष कृपासे प्राप्त हो सका है। पण्डितजीसे अकबर साहबका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था। वह इन्हें अपनी कविताका अनन्य मर्मज्ञ समझते थे। सितम्बर १९२५ ई० की सरस्वतीमें पण्डित जनार्दन भट्ट एम० ए० "अकबरका निराला रंग"-शीर्षक लेखमें महाकवि अकबरसे अपने मिलनेका ज़िक्र करते हुये लिखते हैं—

"अपने हिन्दू मित्रोंमें उन्होंने श्रद्धेय पण्डित पद्मसिंह-जीका भी नाम लिया था और कहा था कि कभी कभी तो

पण्डितजी मेरे शेरोंमेंसे ऐसे मानी निकालते हैं कि खुद मुझको भी ताज्जुब करना पड़ता है।"

महाकवि अकबरसे पण्डितजीका बरसों पत्र-व्यवहार जारी रहा है। उनके कई पत्रोंके कुछ अंश और एक पूरा पत्र इस लेख-संग्रहमें उद्धृत हैं और अब उनकी हस्तलिपिका नमूना दिखानेके लिये एक ऐसा ही पत्र काममें लाया गया है। चित्रोंके संबन्धमें मुझे इस बातका दुःख है कि प्रयास करनेपर भी समयाभावके कारण मैं स्वामी श्रीश्रद्धानन्दजीके चित्रका ब्लाक न प्राप्त कर सका।

पण्डितजीने मेरी प्रार्थना स्वीकारकर इस लेख-संग्रहकी 'जीवनी' लिख देनेकी कृपा है—एतदर्थ उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

'पद्म-पराग'का प्रकाशन बिहारके कुछ साहित्यानुरागी नवयुवकोंके उत्साह और उद्योगका फल है। यह अनूठा लेख-संग्रह पुस्तक-पारिजात-मालाके पहले पुष्पके रूपमें हिन्दीप्रेमियोंकी भेट किया जाता है। मुझे आशा है कि इस ग्रंथमालामें जो कुछ भी प्रकाशित होगा वह उच्च कोटिका साहित्य होगा। मैं हृदयसे अपने उन उत्साही बन्धुओंकी सफलता चाहता हूं।

"विशालभारत"के सम्पादक सुहृद्वर श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदीका इसलिये ऋणी हूं कि उन्होंने उदारता-पूर्वक इस पुस्तकके लिये चित्रोंका प्रबन्ध कर दिया और अन्य प्रकारसे भी इस कार्य्यमें मेरा हाथ बँटाया। पण्डित श्रीकाशीनाथजी शर्मा काव्यतीर्थ तथा श्रीविश्वनाथजी मण्डलसे पुस्तककी छपाई और संशोधनमें

बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। इन सज्जनोंका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूं।

पुस्तक-सम्पादनकी त्रुटियोंके लिये सहृदय पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूं।

कलकत्ता,
श्रीकृष्णजन्माष्टमी
सं० १६८६ वि०

पारसनाथ सिंह

पद्म-परागकी जीवनी
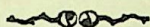
लेख-संग्रह—'पद्म-पराग'—के प्रकाशित होनेकी चर्चा बहुत दिनोंसे चल रही थी। अनेक साहित्य-प्रेमियोंका अनुरोध था, अनुरोध करनेवालोंमें सब श्रेणिके सज्जन थे, गुरुजन, सुहृत्समुदाय, सहृदय समालोचना-प्रेमी, अपने पराये—घरके बाहरके—जिसे कोई लेख किसी कारणसे पसन्द आ गया, समझा ऐसे ही और भी होंगे, बस वह इसी आशासे अनुरोध करने लगे, लेखोंके कुछ ऐसे प्रेमी भी थे, जो बराबर देखते आ रहे थे—कोई लेख कहीं किसी पत्रमें छपा, उन्होंने ढूंढ-भालकर ज़रूर पढ़ा; उनका तक़ाज़ा बहुत तेज़ था—वह तरह तरहसे दिल बढ़ाते और उकसाते थे। अफ़सोस है उनमेंसे कई आज न रहे, उनके जीवनमें यह लेख-संग्रह न छप सका, वह इसे अपनी आँखोंसे प्रकाशित न देख सके! यह बात जब याद आती है, दिलपर एक चोटसी लगती है—स्वर्गीय पण्डित भीमसेनजी शर्मा, पण्डित राधाकृष्ण झा (एम० ए०) और पाण्डेय जगन्नाथप्रसाद(एम० ए०) आदि कई मित्रोंकी यादने इस वक्त तड़पा दिया।

संवत् १९७५ वि० में काशीके ज्ञान-मण्डलमें "विहारीकी सतसई"का भूमिका-भाग पहली बार अभी छपही रहा था कि लेख-संग्रहका सवाल सामने आया—यार दोस्तोंने याद दिलाया कि

दूसरे लेखोंका संग्रह भी साथ ही छपा डालो। चिरञ्जीवी राम-नाथकी उम्र उन दिनों दस बारह बरसकी रही होगी, और तो और; उसने भी तक़ाज़ा लिख भेजा कि लेख-संग्रह ज़रूर छपना चाहिए और उसकी सूचना मेरे नामसे छपे ! लेख-संग्रह तो क्या, इसे उस वक्त अपना नाम छपा हुआ देखनेका चाव था ! इस बातनें मुझे अपील किया और उसका मन रखनेके ख्यालसे—बाल-हठ पूरा करनेके विचारसे सतसईकी पीठपर लेख-संग्रहकी सूचना रामनाथ शर्माके नामसे छपा दी। लेख-संग्रहकी चर्चाका जन्म या श्रीगणेश यहींसे हुआ।

'विहारीकी सतसई' के साथ-साथ संग्रहकी बात फैल गई। चारों ओरसे पत्र आने लगे, लोग लेख-संग्रहकी ग्राहक-श्रेणिमें नाम लिखाने लगे। पर यहां अभी क्या था, बातोंकी एक बात थी।

संवत् १९७९ वि० में "विहारीकी सतसई" का दूसरा संस्करण निकालनेकी नौबत आई; पहला संस्करण समाप्त हो चुका था, पुस्तककी मांग बढ़ रही थी। मैं उन दिनों बीमार पड़ा था, और मुरादाबादमें मित्रवर पण्डित ज्वालादत्तजी शर्मा और श्रीयुत बाबू रामचन्द्रजी गुप्तकी देख-रेखमें—परिचर्यामें श्रीमान् डाक्टर गंगोली-से इलाज करा रहा था। रोगने निराशाजनक रूप धारण कर लिया था, अच्छा होनेकी आशा न थी। पण्डित नारायणप्रसाद 'बेताब' नया प्रेस खोलनेको बेताब थे, कलकत्तेसे दिल्ली जा रहे थे। सत-सईके दूसरे संस्करणकी समस्याकी बात उन्हें मालूम थी, कवि थे; 'समस्या-पूर्ति'के इरादेसे, वह वहीं मेरे पास पहुंचे, और 'विहारीकी

सतसई' के साथ-साथ अपने नये प्रेसमें लेख-संग्रहके छापनेकी भी आग्रह-पूर्वक प्रबल इच्छा प्रकट की। उधर उन्हें, इधर मुझे, ज़रूरत थी--"दोनों तरफ़ थी आग बराबर लगी हुई—" यानी 'ग़रज़ मुश्तर्का' थी, बात तै हो गई। 'विहारीकी सतसई' (भूमिका-भाग) के पहले संस्करणकी छपी हुई कापी और सतसई-सञ्जीवन भाष्यके प्रथम खण्डकी हस्तलिखित प्रति लेकर 'बेताब'जी रवाना हो गये। पर लेख-संग्रहकी सामग्री अस्तव्यस्त—अव्यवस्थित अवस्थामें थी। चि० काशीनाथ शर्माने छपे हुए लेखोंकी कतरन—(कटिंग्स्)—तो इधर उधरसे जोड़-बटोरकर जमा कर रक्खी थीं, पर उनका कोई क्रम न था, बहुतसे लेख थे, जो अभी पत्रोंकी फ़ाइलसे नक़ल करने बाक़ी थे। काम देरका था, इधर जल्दी थी। मेरी घातमें मौत मुँह-बाए बैठी थी, लोग लेख-संग्रहकी ताकमें उत्सुकतासे मुंह उठाए थे! अजीब हालत थी—

'मलिकुल्-मौत अड़ा था कि मैं जां लेके टलूँ,
और मसीहाकी य ज़िद थी कि मेरी बात रहे!'

इसी दशामें लेखोंकी व्यवस्था करनेके लिये काशीनाथने पत्र लिखकर पण्डित हरिशंकर-शर्मा-(आर्य-मित्र-सम्पादक)-को मुरादाबाद अपने पास बुलाया, और इन दोनोंने मिलकर लेख-संग्रहकी एक व्यवस्था की, जिन लेखोंकी नक़ल करनी थी, उनकी ढूंढ-भालकर नक़ल की, करक्शन—कामा, फ़ुलस्टाप आदि ठीक किया, लेखोंका एक क्रम भी बैठाया, इस प्रकार अपनी समझसे इन्होंने लेखोंकी प्रेस कापी तयार कर दी, लेखोंकी संख्या अधिक

थी; संग्रहका काम परिश्रम-साध्य था, फिर भी हिम्मत करके इन जवांमर्दोंने उसे बड़ी लगनसे कर ही डाला। थोड़े दिनों बाद दिल्लीमें 'विहारीकी सतसई' का दूसरा संस्करण छपने लगा।

अदृष्टकी महिमासे इस बीचमें मैं मौतके मुँहसे निकलकर ज़िन्दोंमें आ मिला—उस प्राणघातक रोगसे छुटकारा पा गया। आठ-दस महीनेकी लंबी बीमारीसे अभी उठाही था, जिस्ममें जान पूरी तरह न आने पाई थी कि उसी हालतमें प्रेसमें पिसनेके लिए मुझे दिल्ली जाना पड़ा। ३ महीनेकी दौड़-धूपके बाद ज्यों त्यों करके 'विहारीकी सतसई' के दोनों भाग तो छप गये, लेकिन लेख-संग्रहके लिए, उधर प्रेसने, इधर मेरी हिम्मतने, जवाब दे दिया—प्रेसको और काम मिल गया, मुझमें दम न रहा कि तीन महीने और इसी तरह प्रेसके आस्तानेपर धूनी रमाए पड़ा रहूं। निर्बलताकी दशामें लगातार, शक्तिसे बाहर परिश्रम करनेके कारण स्वास्थ्यका संहार हो गया, लेख-संग्रहके प्रकाशनका विचार मैंने छोड़ दिया। पण्डत हरिशंकर शर्मा सतसईकी वर्णक्रम-आदिकी सूचियां बनानेमें मेरा हाथ बँटानेके लिए दिल्ली आये हुए थे, उनकी राय हुई, उधर काशीनाथ शर्माने लिखा कि लेख-संग्रह भलेही कुछ दिन बाद छपे, पर उसकी सूचना इस बार भी सतसईके अन्तमें अवश्य दे दी जाय कि लेख-संग्रह छप रहा है। मैंने मना किया कि जाने दो, अब इसका नोटिस न दो—छपनेकी सूचना न छपाओ, जब कभी छपनेकी व्यवस्था होगी तो देखा जायगा। पुस्तक छप नहीं रही, नाहक तक़ाज़े सुनने पड़ेंगे, ग्राहकोंको

क्या जवाब दोगे ? 'सूत न कपास जुलाहेसे लट्ठमलट्ठा'—थान अभी बुना भी नहीं जा रहा है और बज़ाज है कि ग्राहकोंको ख़रीदनेकी दावत दे रहा है! पर मेरी यह बात न मानी गई; लेख-संग्रहका नाम-करण करके सूचना छाप दी गई कि "पद्मपराग" * छप रहा है! इस नई सूचनाकी महक पाकर 'पद्म-पराग'-के ग्राहक-मधुप गुंजारने लगे! ग्राहकोंके तक़ाज़ेका ताज़ियाना फिर पड़ने लगा, जिस बातका डर था वही हुई। पर मैं करता तो क्या करता, कोई उपाय न सूझता था, प्रेसोंके अलफ़ेड़का जो अनुभव अबतक मुझे हुआ था और चतुर व्यवसायी पुस्तक-प्रकाशकोंका जो व्यवहार देखा सुना था, उससे इस नये बखेड़ेमें पड़नेकी हिम्मत न होती थी, अपने परायोंकी शिकायतें सुनता था और चुप रह जाता था, अनुरोध और उपालम्भोंकी बौछाड़ पड़ती थी, सिर झुकाकर झेल जाता था। मैं इस दुःख-प्रद व्यापार-को दिलसे भुला देना चाहता था, पर यार लोग भूलने न देते थे, कहींसे न कहींसे, कोई न कोई याद दिलाही देता था—प्रसुप्त संस्कारको झटका देकर जगाही देता था, मैं इस छेड़खानीसे तंग आ गया, छुटकारा पानेका उपाय सोचने लगा।

---

* लेख-संग्रहका यह नाम-करण संस्कार श्रीयुत पण्डित उदित मिश्रजीने (जो उस समय दिल्लीमें थे) और पं० हरिशङ्करजीने किया था, महाकवि 'शंकर'जीने 'वायस-विजयके'—(जो मेरी सम्पादकतामें 'भारतोदय'में प्रकाशित हुआ था) —उपसंहारमें लिखा था—

"पाठक-चञ्चरीक समझेंगे इस प्रसङ्गको पद्म-पराग"

शंकरजीकी इस सूक्तिने ही शायद यह नाम सुझाया था!

तक़ाज़ोंसे नाकमें दम करने वाले और दाद दे-देकर दिल खुश करनेवाले तो बहुत मिलते थे, लेकिन —

"मगर सब हो गये ख़ामोश जब मतबेका बिल आया"—

अकबरकी इस सूक्तिके अनुसार मतबेके 'बिल'में हाथ डालनेको— छपानेकी ज़िम्मेदारी सिरपर लेनेको कोई तयार न होता था। दो एक सज्जन मिले भी तो ऐसे जो—"दिलमें कहते थे कि मुफ्त हाथ आये तो माल अच्छा है"—इसलिए उनसे मीज़ां न मिली। इसी बीचमें 'पद्म-पराग'के पुराने प्रेमी प्रिय पारसनाथ सिंहजी योरपकी यात्रासे लौटे और आते ही फिर तक़ाज़ा शुरू किया। इस बार उन्होंने लिखा कि—'ठीक करके पद्म-परागकी सामग्री भेजिए तो छपानेका प्रबन्ध किया जाय।' ठीक करके यानी सम्पादन करके भेजनेकी बात, एक कठिन समस्या थी। सुस्थ चित्त होकर सब लेखोंको धैर्यपूर्वक ध्यानसे पढ़ना, पित्ता मारेका काम था। फिर उन लेखोंका—जो न मालूम किस किस वक्त, किस किस तरंग और उमंगमें लिखे गये थे, पढ़ना—कुरेदकर दिलके सूखे ज़ख्मोंको नये सिरसे हरा करना—सोये फ़ितनोंको जगाना था, दिलका इतना जिगर न था, जो इस मुसीबतका आसानीसे सामना करनेकी ताब ला सकता। कैसा ही हो, अपना लेख आख़िर जिगरका टुकड़ा होता है, उसे किसी बेदर्दको सपुर्द करते दर्द मालूम होता है, डर लगता है, जी नहीं चाहता, ममता नहीं मानती कि काट-छाँटके-लिए योंही किसीको सौंप दिया जाय। हिन्दीसंसारमें सम्पादकोंकी दशा कुछ विचित्र सी है, यहां पुस्तक-प्रकाशक और प्रूफ़-रीडर ही

स्वयम्भू सम्पादक हैं ! जो अक्सर अपनी धुनमें लेखका काया-कल्प कर देते हैं, समझते नहीं, और रगपर नश्तर मार बैठते हैं, लेखका नहीं, लेखकके दिलका खून कर देते हैं। यह मुझे मंज़ूर न था। दूसरेके लेखोंका सम्पादन करना, बड़ी सहृदयता और सावधानताका काम है, जो इस कामको कर सकते हैं, उन्हें फुरसत कहां कि किसीकी बला अपने सिर लें, इधर उधर नज़र दौड़ाई, पर कोई नज़र न आया। किसे पड़ी थी जो इस बेगारमें पड़ता ! आख़िर तंग आकर जी कड़ा करके जिगरके टुकड़ोंका—लेखोंका पुलिन्दा श्रीयुत पारसनाथ सिंहजीके पास भेज दिया और लिख दिया कि—'इस गड़बड़-झालेमेंसे जो पसन्द हो चुन लो और स्वयं सम्पादन कर लो; पर देखना, कहीं सम्पादकीय अधिकारका दुरुपयोग न हो—लेखोंपर अत्याचार न हो, जहां कहीं ज़रूरत समझो, काट-छाँटका पूरा अधिकार है, पर सोच-समझकर, सहृदयताके साथ, यह ध्यान रखना कि जल्दीमें कहीं रगपर नश्तर न लगने पावे; और यह भी सोच लेना कि लेख चुनने और क्रम-विभाग करनेका सारा पाप पुण्य सम्पादकके सिर है।'—

पुलिन्दा तो भेज दिया, श्रीपारसनाथ सिंहजीकी विद्वत्ता और सहृदयतापर मुझे पूरा भरोसा था, पर साथ ही ख्याल आया कि वह कारबारी—एक बहुधन्धी आदमी हैं, उन्हें अपने ही काम इतने रहते हैं कि उनसे ही फुरसत नहीं मिलती—कार्य-व्यग्रताके कारण पत्र लिखने और पत्रोत्तर देनेका भी अवकाश कम रहता है, जिसके-लिए उन्हें कभी-कभी अपने मित्रोंसे उपालम्भ तक सुनना पड़ता है,

किसी एक जगह जमकर बैठनेका मौका भी उन्हें कम मिलता है, कभी इधर, कभी उधर, बराबर दूर दूर दौरेमें दौड़ना पड़ता है, और अपने ही लेखोंका और कविताओंका संग्रह और सम्पादन उनसे आजतक न हो सका, फिर यह झंझटका और फालतू काम ऐसे पारसनाथसिंहजीसे कैसे सरन्जाम होगा! इसपर 'मीर'का यह मशहूर शेर याद आया—

"खुदाको काम तो सौंपे हैं मैंने सब लेकिन,
रहे है खौफ़ मुझे वां की बे-नियाज़ी का।"

यह गत वर्षके नवम्बरकी बात है, श्रीपारसनाथ सिंहजीने संग्रहका पुलिन्दा सम्हाल लिया, किसी ज़रूरी काममें मशगूल थे, पहुंच लिखनेकी भी फुरसत न मिली, दो एक पत्र लिखनेपर जवाब मिला—'हां; लेख पहुंच गये, यथावकाश देखूंगा',—मेरा माथा ठनका कि यही हाल है तो लेख-संग्रह प्रकाशित हो चुका! यह बेल मगरे चढ़ती नज़र नहीं आती। मैं चुप हो रहा, पर जिन लोगोंको मालूम हो गया था कि संग्रह छपने गया है, उन्होंने चारों-ओरसे चुटकियां लेनी शुरू कर दीं—'अभी छपकर नहीं आया! कबतक छपेगा?' मैं, हां, हूं, करके टाल जाता। आखिर पद्म-परागके सम्पादकजी चेते; इतने दिनों बाद गत जुलाईके प्रारंभमें मुझे अचानक सूचना मिली—'पहले भागके लिये लेख चुन लिये हैं, क्रम-विभाग कर लिया है, यानी सम्पादन हो चुका, प्रेसमें देना बाकी है, प्रेस भी ठीक कर लिया है, अब विलम्ब नहीं है, यहां आजाइए तो जल्द छप जाय।'—बहुत अच्छा, ठहरिए, आता हूं।

२४ जुलाई (१९२९ ई०) को मैं सम्पादकजीके पास आ पहुंचा। तबीयत कुछ पहलेहीसे ख़राब थी, उसपर कलकत्तेकी आब-हवाने सोनेपर सुहागेका काम किया। यहां आते ही 'बाक़ायदा बीमार' हो गया, पुस्तक छपती रही और मैं चारपाईपर पड़ा-पड़ा देखता रहा! आख़िर पुस्तक किसी तरह छप गई। सिरसे एक बड़ी बला टली, पर पूरी फिर भी नहीं, अधूरी ही, पद्म-परागका यह केवल प्रथम भाग ही इस समय प्रकाशित हो सका, इसके साथही साथ दूसरा भाग इस वक्त न छप सका। वह इससे कुछ बड़ा होगा, उसमें कोई समालोचनात्मक लेख-मालाएं हैं—कई बड़े बड़े लेख हैं, उसका सम्पादन अधिक परिश्रम-साध्य है, कुछ समय चाहता है। श्रीपारसनाथ सिंहजी बाहर जा रहे हैं, मैं बीमार हूं, उन्हें फ़ुर्सत नहीं, मुझमें इतना दम नहीं! कोशिश तो की जायगी कि यह बोझ भी सिरसे शीघ्र उतर जाय—दूसरा भाग भी इसी तरह, या किसी तरह, यहां, या वहां, कहीं, जल्द छप जाय। पद्म-परागके प्रेमी पाठक इतने इससे ही सन्तोष करें, और दूसरे भागके समालोचनात्मक लेखोंके लिये उत्सुक वह पाठक जो उन्हींके लिए विशेष रूपसे उत्कंठित हैं, ज़रा और सब्र करें।

इसके सम्पादन और प्रकाशनमें श्रीपारसनाथ सिंहजीने पर्याप्त परिश्रम किया है, अपनी योग्यता और सम्पादन-कुशलता-का अच्छा परिचय दिया है, पर इसके लिये उन्हें मैं धन्यवाद क्या दूँ, और क्यों दूँ? यह बला उन्होंने खुद ही बुलाई थी, सो अपने कियेका फल पाया। हां, सम्पादनमें उन्होंने प्रायः

स्वयम्भू सम्पादकोंके समान सम्पादकीय अधिकारका दुरुपयोग नहीं किया—काट-छांटमें कहीं रगपर नश्तर नहीं लगने दिया, सम्पादन-कार्यमें लेखोंके साथ उनका व्यवहार आदर्श सहानुभूति, सावधानता और सहृदयताका रहा, इसके लिये इन्हें धन्यवाद या साधुवाद बेशक दे सकता हूं। पद्म-परागके पाठकोंसे प्रार्थना है, वह भी इनके इस सद्-व्यवहारकी दाद दें।

संग्रहकी राम-कहानी लिखते लिखते यहांतक पहुंचकर अब आगे बढ़ना कठिन हो रहा है, इस समय जी ठिकाने नहीं है, दिलके टुकड़े—जिगरके पारे—जुदा हो रहे हैं, इनके आनेसे पहले-का और चले जानेके बादका नक्शा आंखोंके सामने है—

"वक्त मुझपर दो कठिन गुज़रे हैं सारी उम्रमें,
उनके आजानेसे पहले और चले जानेके बाद।"

जो मुद्दतसे छिपे पड़े थे, अब छपकर बाहर निकल रहे हैं, बहुत छिपाया, पर ग्राहकोंने ज़बरदस्ती छीनही लिया—कागज़ोंके कोनेसे खींचकर नुमायशके बाज़ारमें लेही आये! बरसोंका साथ छूट रहा है, छोड़नेकोजी नहीं चाहता, ममता लिपट रही है, बेबसी खड़ी हो रही है, भविष्यकी चिन्ता बेचैन कर रही है, कि देखिए बाहर निकलनेपर इन ग़रीबोंके साथ क्या सलूक हो, आदर पायें या दुत्कारे जायँ! दुनिया है, हर तरहके लोग हैं, दुर्गम मार्ग है, चारों ओर पग-पगपर कांटे बिछे हैं—कहीं दलबन्दीको दल-दल है, कहीं पक्ष-पातका जाल है, मत्सरकी बालूके ऊंचे टीले हैं, ईर्षाकी गहरी खाड़ी है, न मालूम क्या पेश आवे, अच्छा था, एक कोनेमें फटे-पुराने चिथड़ोंमें

छिपे पड़े थे, नज़र-बदसे बचे हुए थे, इसीमें कुशल थी, चमक-नेका—नुमायां होकर निकलनेका चाव, सौ आफ़तोंमें फँसाता है, क्या पड़ा था जो यों प्रकाशमें—प्रकाशित होकर—निकल पड़े ! मेरे थे, मेरे पास पड़े रहते, मैंने बहुत छिपाया, बहुत बचाया, पर न बच सके, कई 'आई' टालीं, पर अबकी न टल सकी !

बड़ी आरज़ुओंसे—मिन्नतोंसे बुलाया था, न जाने तुम्हारी आराधनामें कितनी रातोंको दिन और कितने दिनोंको रात करके तुम्हारे दर्शन नसीब हुए थे, दिलका खून सुखा-सुखाकर—आंखोंके रहटसे सींच-सींचकर तुम्हें हरा भरा किया था, पूरी निगरानी और सावधानीसे पाल पोसकर बड़ा किया था। अब जुदा हो रहे हो, इतने दिनोंका साथ छोड़ रहे हो, किस दिलसे कहूं और कैसे कहूं कि जाओ ! अच्छा; कोई डर नहीं, भगवान् भला करेगा, जाओ, भयहारी भगवान् श्रीकृष्णके पावन कीर्तनका पाथेय तुम्हारे पास है, अनेक महात्माओंके संस्मरणकी छत्र-छाया तुम्हारे सिरपर है, इनका पुण्य प्रताप तुम्हारी रक्षा करेगा, तुम्हारे प्रेमी तुम्हें अपने दिलमें जगह देंगे, सिर-आंखोंपर लेंगे।

जाओ—'शिवा वः सन्तु पन्थानः'

श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
भौम वार, सं० १९८६ वि० } **पद्मसिंह शर्मा**

निबन्ध-निर्देश

—:※:※:※:—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण ['आर्यमित्र', आगरा, गुरुवार, १३ अगस्त, १९२५ ई०]

(२) श्रीदयानन्द स्वामी [इसमें ये तीन लेख सम्मिलित हैं :—

(१) 'उपकार-वीर श्रीदयानन्द स्वामी' ('भारतोदय', कार्तिक कृष्ण, अमावस्या, सं० १९७१ वि०)

(२) 'स्वामी दयानन्द' ('आर्यजगत्', १९ फरवरी, १९२६ ई०)—इस पुस्तकका 'खण्डनका झगड़ा'-उपशीर्षक,

(३) 'स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी' 'स्वतन्त्र'का दिवालीका विशेषांक, संवत् १९८२ वि०—इस पुस्तक में—'स्वामीजी और उनके अनुयायी' उपशीर्षक]

(३) श्रीपण्डित गणपति शर्मा [यह लेख तीन स्वतंत्र लेखोंका संकलन है। वे हैं, यथाक्रमः—

(१) 'विपत्ति-वज्रपात' ('भारतोदय', आषाढ़-श्रावणकी युग्म-संख्या, सं० १९६९ वि०)

(२) 'श्री पण्डित गणपति शर्माजी' ('हिन्दी चित्रमय जगत, सं० १९६९ वि०)—प्रस्तुत पुस्तकमें 'पण्डित-जीका परिचय'-उपशीर्षक,

(३) 'स्थावरमें जीव-विषयक विचार'-शीर्षक शास्त्रार्थकी भूमिकाके रूपमें, यह लेख 'भारतोदय'में प्रकाशित हुआ था और पृथक् पुस्तकाकार भी—इस पुस्तक में यह अंश पृष्ठ ४८ से आरम्भ होता है

(४) श्रीहृषीकेश भट्टाचार्य शास्त्री ['सरस्वती', दिसम्बर १९१४ ई०]

(५) स्वामी श्रीश्रद्धानन्दजी ['आर्यमित्र'का बलिदान-अंक—शिवरात्रि, सं० १९८३ वि०]

(६) पण्डित श्रीभीमसेन शर्मा ['विशालभारत', कलकत्ता, कार्तिक, सं० १९८५ वि०]

(७) पण्डित श्रीसत्यनारायण कविरत्न [पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी द्वारा लिखी गयी कविरत्नजीकी जीवनीकी भूमिका-"चार आंसू-" शीर्षक,—कार्तिक सुदि ७,सं०१९८३ वि०]

(८) कविरत्न पं० श्रीनवनीतलाल चतुर्वेदी ['माधुरी' वैशाख ३०४ तुलसी-सं०; वर्ष ६, खंड २, संख्या ४]

(९) ख़लीफ़ा मामूं-रशीद ['श्रीशारदा', जुलाई १९२१ ई०]

(१०) दिव्यप्रेमी मन्सूर ["दिव्यप्रेमी मन्सूरकी राम-कहानी" 'श्रीशारदा', जबलपुर, दिसम्बर १९२२ ई०]

(११) अमीर खुसरो ['माधुरी', श्रावण ३०३ तु० सं०, वर्ष ५, खंड १, संख्या १]

(१२) सरमद शहीद ['सरस्वती', जनवरी, फ़रवरी—१९२९ ई०]

(१३) मौलाना आज़ाद [इस में ये दो लेख सम्मिलित हैं—

(१) 'मौलाना आज़ादका स्वर्गवास' ('भारतोदय', माघ, संवत् १९६६ वि०

(२) 'कविताके सम्बन्धमें 'आज़ाद'के विचार' ('मर्यादा', काशी, कार्तिक, संवत् १९७८ वि०)

(१४) महाकवि अकबर ['महाकवि अकबरके कुछ संस्मरण और एक पूरा पत्र' 'विशालभारत', अगहन, १९८५ वि०]

(१५) संभाषण—(१) [संयुक्त प्रान्तीय षष्ठ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मुरादाबाद, आश्विन कृष्ण १४ संवत् १९७७ वि०

(१६) संभाषण—(२) [अखिल-भारतीय अष्टादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मुज़फ़्फ़रपुर, आषाढ़ शुक्ल १०, संवत् १९८५ वि०]

(१७) हिन्दीके प्राचीन साहित्यका उद्धार ['मनोरमा', भाग २, संख्या ५]

(१८) हृदयकी जीवनी ['सौरभ', भाग १, संख्या १, १९७७ वि०]

(१९) मुझे मेरे मित्रोंसे बचाओ ['प्रतिभा', मुरादाबाद, जुलाई, १९१८ ई० भाग २ अङ्क ४]

(२०) प्रेम-पत्रिका ['प्रतिभा', एप्रिल, १९१९ ई०]

(२१) बुढ़िया और नौशेरवां [यह शायद 'प्रताप' में प्रकाशित हो चुका है]

(२२) गीताके एक श्लोकका अर्थ ['कल्याण', भाग २, संख्या १०]

विषय-सूची

चित्रसूची

पंडित श्रीपद्मसिंहजी शर्मा (ग्रन्थकर्ता—१९०९ ई०)

पद्म-पराग

भगवान् श्रीकृष्ण

पाँच हज़ार वर्ष बीते भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्द इस धराधामपर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटनाकी याद दिलाता है। आर्यजाति बड़ी श्रद्धा भक्तिसे इस परमपावन पर्वको मनाती है। विश्वकी उस अलौकिक विभूतिके गुण-कीर्तनसे करोड़ों आर्य-जन अपने हृदयोंको पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्तमान अधोगतिमें, निराशाके इस भयानक अन्धकारमें, उस दिव्य ज्योतिको ध्यानकी दृष्टिसे देखकर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःखदावानलसे दग्ध भारतभूमि घनश्यामकी अमृत-वर्षाकी बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा-द्रौपदी रक्षाके लिये कातर स्वरमें पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गतिपर सिर धुनता हुआ 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञाभंगकी 'नालिश' कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंसके कष्ट-कारागारमें पड़ी दिन काट रही है, गौएं अपने 'गोपाल'को यादमें प्राण दे रही हैं, जान गँवा रही हैं। इस प्रकार भगवानके जन्मदिनका शुभ अवसर भी हमें अपनी मौतका

मर्सिया ही सुनानेको मजबूर कर रहा है, आनन्द बधाईके दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधिकी विडम्बनासे 'प्रभाती'के समय 'विहाग' अलापना पड़ रहा है। संसारकी अनेक जातियां क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शोंके सहारे उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ हो गई हैं और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नतिका प्रधान अवलम्ब है। अवनतिके गर्तमें पतित जातिके लिये तो आदर्श ही उद्धार-रज्जु है। आर्यजातिके लिये आदर्शोंका अभाव नहीं है। सब प्रकारके एकसे एक बढ़कर आदर्श सामने हैं। संसारकी अन्य किसी जातिने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी— इतने महत्त्वशाली आदर्श पाकर भी आर्यजाति क्यों नहीं उठती ! यही नहीं, कभी कभी तो 'आदर्शवाद' ही दुर्दशाका कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण संसारभरके आदर्शोंमें सर्वाङ्गसम्पूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कला सम्पूर्ण अवतार—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' मानते हैं। अवतार न माननेवाले भी उन्हें आदर्श 'योगिराज' 'कर्मयोगी' सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्यजीवनको सार्थक बनानेके लिये जो आदर्श अपेक्षित है वह सब स्पष्ट रूपमें प्रचुर परिमाणमें श्रीकृष्णचरितमें विद्यमान है। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टिसे देखिये, जिस कसौटीपर कसिये, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषाका साहित्य कृष्णचरितकी महिमासे भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्यसे हम उसके

तत्त्वको हृदयङ्गम नहीं करते। हम 'आदर्श'का अनुकरण करना नहीं चाहते, उलटा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगतिका कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् कृष्णके आदर्शका अनुसरण करते तो आज इस दयनीय दशामें न होते। महाभारतके श्रीकृष्णको भूलकर 'गीत-गोविन्द'के कृष्णका काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श महापुरुषको 'चोरजारशिखामणिः' की उपाधि दे डाली है। पतनकी पराकाष्ठा है! कृष्णचरित्रके सर्वश्रेष्ठ लेखक श्रीबंकिमचन्द्रने एक जगह खिन्न होकर लिखा है —

"जबसे हम हिंदू अपने आदर्शको भूल गये और हमने कृष्णचरित्रको अवनत कर लिया तबसे हमारी सामाजिक अवनति होने लगी, जयदेव (गीतगोविन्द-निर्माता) के कृष्णकी नक़ल करनेमें सब लग गये पर 'महाभारत' के कृष्णकी कोई याद भी नहीं करता है"।

श्रीकृष्णको हिंदूजाति क्या समझ बैठी है, इसका उल्लेख श्रीबंकिमने इस प्रकार किया है—

"पर अब प्रश्न यह है कि भगवान्‌को हम लोग क्या समझते हैं। यही कि वह बचपनमें चोर थे, दूध दही मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवावस्थामें व्यभिचारी थे और उन्होंने बहुतेरी गोपियोंके पतिव्रत धर्मको नष्ट किया, प्रौढावस्थामें वंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादिके प्राण लिये। क्या इसीका नाम मानव-चरित्र है? जो

केवल शुद्ध सत्त्व है, जिससे सब प्रकारकी शुद्धियां होती हैं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित्र है ?

"सनातन-धर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्रकी ऐसी कल्पना करनेके कारण ही भारतवर्षमें पापका स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसीको कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं (बंकिमचन्द्र) श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् मानता हूं और उनपर विश्वास करता हूं, अंग्रेजी शिक्षासे मेरा यह विश्वास और दृढ़ होगया है, पुराणों और इतिहासमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रका वास्तवमें कैसा वर्णन है यह जाननेके लिये मैंने जहांतक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया, इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्रके विषयमें जो पाप-कथाएं प्रचलित हैं वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारोंने श्रीकृष्णके विषयमें जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देनेपर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित आदर्श चरित और कहीं नहीं है। न किसी देशके इतिहासमें और न किसी काव्य में।"

श्रीकृष्ण-चरितका मनन करनेवालोंको श्रीबंकिमचन्द्रकी उक्त सम्मतियोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण-के चरित्रके रहस्यको अच्छी तरह समझकर उसके आधारपर

यदि हम अपने जाति-जीवनका निर्माण करें तो सारे संकट दूर होजायँ। उदाहरणके तौरपर नेताओंको लीजिये। आजकल हमारे देशमें नेताओंकी बाढ़ आई हुई है, जिसे देखिये वही 'सार्वभौम नेता' नहीं तो 'आल-इन्डिया लीडर' है। इस बाढ़को देखकर चिन्ताके स्वरमें कहना पड़ता है—

'लीडरोंकी धूम है और फ़ालोअर कोई नहीं।
सब तो जनरल हैं यहां आख़िर सिपाही कौन है ?'

पर उनमें कितने हैं, जिन्होंने आदर्श नेता श्रीकृष्णके नेतृ-चरित्रसे शिक्षा ग्रहण की है ? नेता नितान्त निर्भय, परम निष्पक्ष और विचारोंका शुद्ध होना चाहिये, ऐसा कि संसारकी कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशामें भी अपने व्रतसे विचलित न कर सके।

महाभारतके युद्धकी पूरी तय्यारियां हो चुकी हैं, सन्धिके सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, धर्मराज युधिष्ठिरका सदय हृदय युद्धके अवश्यम्भावी दुष्परिणामको सोचकर विचलित होरहा है, इस दशामें भी वह सन्धिके लिये व्याकुल हैं, बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है, श्रीकृष्ण स्वयं सन्धिके पक्षमें थे। सन्धिके प्रस्तावको लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध कपट-कुशल और 'जीते जुआरीके' दरबारमें ऐसे अवसर पर दूत बनकर जाना, जानसे हाथ धोना, दहकती हुई आगमें कूदना था। श्रीकृष्णके दूत बनकर जानेके प्रस्तावपर सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधनकी कुटिलता और क्रूरताके विचारसे श्रीकृष्णका वहां जाना किसीने उचित न समझा, इसपर खूब वाद-

विवाद हुआ। उद्योग-पर्वका वह प्रकरण 'भगवद्यान-पर्व' बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णके सन्धि-प्रस्तावको लेकर जानेका वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धिके प्रस्तावमें सफलता न होगी, दुर्योधन किसीकी मानने वाला जीव नहीं है। यात्रा आपज्जनक है, प्राण-संकटकी सम्भावना है, पर कर्तव्यानुरोधसे जानपर खेलकर भी उन्होंने वहां जाना ही उचित समझा।

दुर्योधनको जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं तो उसने श्रीकृष्णको साम, दान, दण्ड, भेद द्वारा जालमें फँसानेका कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्गमें जगह जगह उनके स्वागतका धूमधामसे प्रबन्ध किया गया। रास्तेकी सड़कें खूब सजाई गईं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्णके हाथमें है, जो वह चाहेंगे वही होगा, उनकी आज्ञासे पाण्डव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्णको काबूमें कर लिया जाय तो बिना युद्धके ही विजय हो सकती है, श्रीकृष्णके बलबूतेपर ही पाण्डव युद्धके लिये सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधनने श्रीकृष्णको फँसानेकी प्राणपणसे चेष्टा की। पर 'अच्युत' श्रीकृष्ण अपने लक्ष्यसे कब चूकनेवाले थे। सन्धिका प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। दुर्योधन कर्ण, शकुनि आदि अपने साथियोंके साथ सभासे उठकर चला गया। जब उसने साम, दानसे काम बनते न देखा तो आवश्यक दण्ड देने—कैद कर लेनेका षड्यन्त्र रचा, उन्हें अपने घरपर निमन्त्रित किया। दुर्योधनकी इस दुरभिसन्धिको विदुर आदि

दूरदर्शी ताड़ गये, उन्होंने श्रीकृष्णको वहां जानेसे रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वह जिस कामको आये थे उसके लिये एक बार फिर प्राणपणसे प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा, वह दुर्योधनके घर पहुंचे, और निर्भयतापूर्वक सन्धिका औचित्य समझाया। पाण्डवोंको निर्दोषता और दुर्योधनका अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकारकर चलने लगे, दुर्योधनने भोजनके लिये आग्रह किया, इसपर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्णने दिया वह उन्हींके योग्य था। कहा कि—

'संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि ह्यापद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥'

अर्थात् या तो प्रीतिके कारण किसीके यहां भोजन किया जाता है, या फिर विपत्तिमें—दुर्भिक्षादि संकटमें। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हमपर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशामें तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें?

इस प्रत्याख्यानसे क्रुद्ध होकर दुर्योधनने उन्हें घेरकर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रमने उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धृष्टतापर लज्जित होकर रह गया।

हमारे लीडर लोग भगवान्के इस आचरणसे शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोकका कल्याण हो।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्णके सम्बन्धी थे, दोनों हो उन्हें अपने पक्षमें लानेके लिए समानरूपसे प्रयत्न-शील थे।

'लोक-संग्रह' के तत्त्वसे भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने आजकलके ज़मानासाज़ लीडरोंकी तरह 'सर्व-प्रियता' या हरदिल-अज़ीज़ोमें फँसकर अपने करारेपनको दाग़ नहीं लगाया। मेल मिलापकी मोह मायामें भूलकर न्यायको अन्याय और धर्मको अधर्म नहीं बताया। निरपराधको अपराधी बताकर अपनी 'समदर्शिता' या 'उदारता'का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणोंका मोह छोड़कर दुर्योधनको समझाने गये और भयानक संकटके भयसे भी कर्तव्यपराङ्मुख न हुए। एक आजकलके लीडर हैं, किसी दुर्घटनाको रोकनेके लिये तार पर तार दिये जाते हैं पधारने-की प्रार्थना की जाती है, पर 'हमारी कोई नहीं सुनता' कहकर टाल जाते हैं। पहुंचते भी हैं तो उस वक्त जब मार काट हो चुकती है, सो भी सरसरी तहक़ीक़ातके बहाने लीपापोतीके लिये। लेकचर देना और तहक़ीक़ातके लिये पहुंचजाना, लीडरीके लिये इतना ही काफ़ी है। 'गोली बीस क़दम तो बन्दा तीस क़दम !'

श्रीकृष्णने अपने सगे सम्बन्धी, पर अन्यायी, दुर्योधनका निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। और एक यह आजकलके लीडर हैं जो हर कहीं निमन्त्रण पानेके प्रयत्नमें रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोगकी घोषणा करते हैं, कल उड़ती चिड़िया-के द्वारा निमन्त्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं ! इन्हें ही लक्ष्य करके कविने कहा है:—

'क़ौमके ग़ममें डिनर खाते हैं हुक्कामके साथ।
रंज लीडरको बहुत है मगर आरामके साथ॥'

निस्सन्देह सभी लीडर ऐसे नहीं हैं, कुछ इसका अपवाद भी हो सकते हैं।

हमारे इस युगके लीडरोंमें तिलक महाराजने श्रीकृष्णचरित-के तत्त्वको सबसे अधिक समझा था, और उनको दृढता और तेजस्विताका यही कारण था, महाभारतका भगवच्चरित्र उनके मननकी सबसे प्रिय वस्तु थी। मालवीयजी महाराज और श्री-लालाजी भी श्रीकृष्णके अनुयायी भक्तोंकी श्रेणिमें हैं।
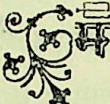
आर्यजातिके लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्णचरितको अपना आदर्श मानकर यदि अपने चरित्रका निर्माण करें तो देश और जातिका उद्धार करनेमें समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

श्रीदयानन्दस्वामी

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥'

महर्षि मनुने प्रलयदशामें स्थित संसारका जो चित्र ऊपरके श्लोकमें खींचा है, अबसे कुछ समय पूर्व ठीक ऐसीही दशा वैदिक धर्म और आर्यजातिकी थी। अविद्यान्धकारकी घनघोर घटा, आर्यजाति और उसके चिरसहचर 'वैदिकधर्म' पर कुछ इस प्रकार छाई हुई थी कि उस सूचीभेद्यान्धकारमें कुछ न सूझता था। चारोंओर शून्य ही शून्य था, धर्म और जातिके लक्षण, स्वरूप, गौरव महत्त्व और मर्य्यादा आदि सब तमोऽभिभूत होकर विलीनताको प्राप्त हो रहे थे। उस दशामें उक्त धर्म और जातिका गौरव आदि न प्रत्यक्षगोचर था, न अनुमानगम्य और अतएव कथनीय भी नहीं था!

इस जाति और धर्मकी दशा यद्यपि महाभारतके पीछेसे ही बिगड़ने लगी थी, इस महारात्रिके प्रदोषका प्रवेश और महाप्रलयका प्रारम्भ, उसी समय संघटित हो चुका था, 'भारतलक्ष्मी' और 'सरस्वतीदेवी' तभी यहांसे सदाके लिये अपना लटू पटू बांधकर चल खड़ी हुई थीं, 'धर्मदेव' अपना सब सामान पहलेही पैक करा चुके थे, अन्तमें स्वयं भी चलते बने। परन्तु बीच बीचमें अपनी जन्मभूमिके स्नेहसे विवश होकर अथवा महात्मा बुद्ध, भगवान्

शंकराचार्य आदि महापुरुषोंके अनुरोधका प्रतिपालन करके, ये (धर्मादि) प्रवासित या प्रोषितजन कभी कभी पधारकर अपनी इस प्राचीन भूमिको पवित्र करते रहे। कालरात्रिके उस अन्धकारावृत आकाशमें भी कभी कभी चन्द्रालोक और तारोंकी चमकसे कुछ कुछ प्रकाश दिखलाई देता रहा! कई बार समय समयपर तो वह इस तेजो-से चमका कि दिनका धोखा होने लगा! तपेदिक़के बीमारने ऐसा सँभाला लिया कि तन्दुरुस्तीका गुमान होने लगा। परन्तु फिर इकबार ही ऐसा घटाटोप अंधेरा छाया कि 'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः' के समान उसे किसीसे उपमा नहीं दे सकते, बस वह अपनी मिसाल आपही था। उस अन्धकारमें आर्यजाति ऐसी अचेत और बेसुध होकर सोई कि उसे अपने तन बदन और जान-मालकी कुछ ख़बर न रही।

चोर उचक्कोंने ख़ूब हाथ साफ़ किये, ख़ूब लूटा खसोटा, अनेक भुक्कड़ इधर उधरसे आये और मालामाल होकर गये। कुम्भकर्ण छः महीने सोता था, यहां वैदिकधर्मी सात सौ वर्ष एक करवट सोते रहे! कभी किसी महात्माके झँझोड़नेपर आंखें खुलीं भी तो उसके हटते ही फिर खुर्राटे लेने लगे! मुर्दों से बाज़ी बांधकर नहीं, मुर्दे होकर सो रहे थे! निद्रा नहीं, प्राणहरी मूर्च्छा थी!

कर्मोंका भरपूर फल मिल चुकनेपर, ईश्वरकी दयासे दुःखरजनी-के अन्त होनेका समय निकट आया। पश्चिम दिशासे 'शनैः शनैः प्रकाश प्रकट हुआ। निशाचर, लुटेरे खिसकने लगे, लूटमार बन्द हुई, अराजकता और अशान्ति मिटी, व्याकुलता कम हुई, मूर्च्छा हटी,

बेसुध और अचेत होकर सोनेवालोंमें चेतनताका संचार हुआ,उन्होंने करवट बदली, आंखें खोलीं, सिर उठाकर इधर उधर देखा तो बाला-तपकी ज्योति मन्द मन्द फैल रही है। सुख-सूर्यके दर्शन किये, हर्षो-च्छ्वासके साथ ईश्वरका धन्यवाद किया। राम राम करके उठ बैठे; कई सौ वर्षकी निरन्तर-व्यापिनी घोरनिद्रा और महामूर्छाने शरीरको निश्चेष्ट बना दिया था, जागनेपर कुछ समय तक बैठे बैठे चित्रवत् देखते रहे, प्रबल ब्रिटिशराज्यकी छत्रछायामें विश्राम लेकर बाह्य बखेड़ोंसे निश्चिन्तता पाने और सक्षमता तथा स्वस्थता प्राप्त होनेपर कुछ करनेकी सूझी। घरबार टटोला, वहां अब क्या था! 'बुरेकी जानको पहिलेही रो चुके थे' सब कुछ खो चुके थे,जो कुछ बचा खुचा था, उसे समझे कौन? भूमण्डलपर सबसे पहिले विद्या और सभ्यता-का प्रकाश फैलानेवाले जगद्गुरु ऋषियोंकी सन्तानने 'नीम वहशियों' की श्रेणिमें नाम लिखाकर ए०बी०सी० शुरू की। अपनी असलियत और पूर्वजोंके गौरवको भूल चुके थे, गन्तव्य पथसे भटककर ग़लत रास्तेपर पड़ लिये थे, जितने आगे बढ़ते जाते थे उतनेही सत्य मार्गसे हटते जाते थे, चलते चलते दूर जा पहुंचे, घर छूट गया, देखा तो नई दुनिया सामने है! भौंचक खड़े रह गये, सावनमें आंखें बनी थीं, चारों ओर हरा ही हरा नज़र आता था! सीस-महलमें पहुंचकर कुत्तेकी जो दशा हो जाती है, बम्बईके बाज़ारमें जंगली आदमीकी जो हालत होती है,नई चमक दमक और प्रकृतिके बाह्य आडम्बरको देखकर हमारे नवशिक्षितोंकी भी वही दशा हुई। पूर्वजोंको भूल चुके थे, घर छोड़ चुके थे, जीवन उद्देश्यहीन

था, प्राचीन आदर्श सामने नहीं था, बिकाऊ बैलकी तरह खरीदारकी तलाशमें खड़े थे कि दया करके पादरियोंने इन भटकी भेड़ोंको प्रभु-ईसामसीहके रेवड़में धड़ाधड़ मिलाना प्रारम्भ कर दिया, बेठिकानोंको ठिकाने लगा दिया। अब क्या था, रास्ता साफ होगया था, भेड़ोंने बाड़ा देख लिया, भेड़ियाधसानका भला हो, भेड़ें स्वयं ही रेवड़में पहुंचने लगीं, आगे गडरियेको उन्हें बटोरनेके लिये अधिक परिश्रम न करना पड़ा! ब्रिटिश राज्यके शासनमें आर्यजाति और वैदिक-धर्म, बलात्कारके पन्जेसे बचे तो मोहमायाके अवतार पादरियोंने अन-भिज्ञ आर्यसन्तानको फुसलाकर फांसनेके लिये अपना माया-जाल फैला दिया! पादरियोंने अपने मतके प्रचारमें कोई बात उठा न रखी। तीर्थ और मेले, हाट, बाट और घाट, जहां देखो पादरी प्रचारक मौजूद हैं, 'ईसामसी मेरा प्राण बचैया' गीत गाया जा रहा है, 'रामपरीक्षा' 'कृष्णपरीक्षा' 'पुराणपरीक्षा' बांटी जारही हैं, 'जो प्रभु इसूकी शरणमें आजायगा वह सब पापोंसे छूटकर बेरोक टोक स्वर्गराज्यमें दाखिल हो जायगा' की घोषणा हो रही है।

अंग्रेज़ी शिक्षा, वायु बनकर इस मतप्रचार-दावानलके प्रसारमें सहायक हुई। ईसाईमतावलम्बी होनेपर भी गवर्नमेन्टकी नीति धर्मके विषयमें उदार थी, मतस्वतन्त्रता सबके लिये बराबर थी, प्रत्येक धर्म अपने प्रचारके लिये समान अधिकार रखता था, परन्तु जिस प्रकार पराधीन और अनुन्नत देशोंके लिये अप्रतिहत-वाणिज्यनीति प्रायः लाभके बदले अत्यधिक हानिकारक सिद्ध होती है, वैदिक धर्मके लिये यह पादरियोंकी प्रचारस्वतन्त्रता भी कुछ इसी प्रकार

सिद्ध हुई। 'शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य लक्षणम्' को प्रमाण माननेवाली, निरीह, सन्तोषशील आर्यजाति पादरियोंके साथ विवादमें प्रवृत्त होती, यह कब सम्भव था! उसने सैकड़ों नहीं; हज़ारों नहीं, किन्तु लाखोंकी संख्यामें अपनी सन्तान, चुपचाप पादरियोंके हवाले करदी, परन्तु 'विज्ञता'के नामको वट्टा नहीं लगने दिया! धन्य है यह अलौकिक 'विज्ञता' और 'सन्तोषशीलता'!!

आर्यजातिकी गोदसे छूटकर प्रभु ईसामसीहके गल्लेसें मिलनेवाले निरे नीच और ऐरा गैरा नत्थूखैरा ही न थे; उनमें गोलकनाथ और नीलकण्ठशास्त्री जैसे द्विजशिरोमणि विद्वान् भी थे। हिन्दूधर्म एक कच्चा धागा, छुईमुईका पौदा या मकड़ीका जाला बना हुआ था कि ज़रा किसीने छुआ, अंगुली उठाई और फूंक मारी नहीं कि वह टूट गया और मुरझा गया! नवशिक्षित हिन्दू, या ईसाई होने लगे या नास्तिक, अपनी प्रत्येक बात उन्हें हेय और तुच्छ जँचने लगी। अधार्मिक प्रवाहमें इस प्रकार बही जाती हुई आर्यजातिपर दयामय परमात्माको दया आई। योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र आनन्दकन्दकी इस विश्वविश्रुत उक्तिकी यथार्थता परखनेका समय आया कि :—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥'

जिस दैवी शक्तिने समय समयपर वैदिक-धर्मकी डूबती नैय्याको पार लगाया है उसीका चमत्कार फिर संसारको चकित करनेके लिये प्रकट हुआ :—

'तौफ़ीक़ ने हमेशा ली तन्त पर ख़बर यहां ।
जब नाव डगमगाई पास आगया किनारा ॥'

दक्षिण देशमें एक कर्मठ धार्मिक ब्राह्मणके घर 'मूलशंकर' के रूपसें वर्तमान समयका सबसे बड़ा धार्मिकोपदेष्टा, वैदिक धर्मके मूलको बचानेवाला, एक अद्भुत बालक पल रहा है। शिवत्रयोदशीकी मङ्गलमयी रात्रि है, सारा परिवार शिवाराधनामें तत्पर है, बालक 'मूलशङ्कर' भी व्रती बना शिवप्रतिमाके समीप ध्यान लगाये बैठा है, कभी कभी नींदका झोका आजाता है तो मानो यह कहकर आंखें खोल देता है और एकटक प्रतिमाको निहारने लगता है—

'रात्रिः शिवा काचन सन्निधत्ते विलोचने जाग्रतमप्रमत्ते ।
समानधर्मा युवयोः सकाशे सखा भविष्यत्यचिरेण कश्चित्' ॥

—हे नेत्रो! यह शिवरात्रिका समय है, होशियार होकर जागते रहो, अभी बहुत जल्द तुम्हारा साथी एक तीसरा नेत्र (ज्ञानचक्षुः) खुलनेवाला है, अपने उस मित्रकी प्रतीक्षा करो!

आधी रातका समय है, सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ है, प्रतिमाके पास दीपक बल रहा है, व्रती बालक बैठा हुआ क्या देखता है कि एक मूषक-महात्मा, शिवजीके सिरपर चढ़ा नैवेद्य खा रहा है। 'त्रैलोक्यपति' शंकर भगवान्‌के साथ एक तुच्छ जीवकी ऐसी गुस्ताख़ी देखकर, मूलशंकरके मनमें कई प्रकारके भाव और विचार उठने लगे। जिस 'महेश्वर'के तृतीयनेत्रका ज़रा इशारा क्षण भरमें त्रिलोकीको नष्टनष्ट कर देता है, जिस महाकाल रुद्रके पादांगुष्ठके भारसे दब-

कर लोक-रावण रावण सा जगद्विजयी वीर रो देता है और 'वाण'*
सा अभिमानी असुर जिसके चरण-कमलोंमें लोटकर त्राण पाता
है, उसी देवादिदेव महादेवके मस्तिष्कपर एक ज़रासा चूहा इस
प्रकार अकाण्ड ताण्डव करे और, 'हर' महाराज कुछ न कहें ?

'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा, भस्मावशेषं मदनं चकार ॥'

जिन महात्माने देवताओंके हज़ार प्रार्थना करनेपर भी कुछ परवा न करके ज़रासे अपराधपर 'मदन'को भस्मावशेष 'अनङ्ग' बना दिया, वही इस दुष्ट चूहेके महापराधपर चूं तक न करें ! रुद्र महाराजकी अश्रुतपूर्व क्षमाशीलताको देखकर होनहार बालकके चित्त-में सन्देह उत्पन्न हो जाना कुछ ऐसे आश्चर्य्यकी बात न थी ।

परन्तु 'मूलशङ्कर'के चित्तमें उगे हुए इस संशयांकुरने, समय पाकर भारतवर्षके धार्मिक जगत्में बड़ा भारी परिवर्तन पैदा कर दिया, अस्तु । व्रती बालक उस लीलाको देखकर चुप न रह सका, और अपने विचार, पूज्य पिताके सामने प्रकट कर बैठा । पुत्रका प्रश्न सुनकर श्रद्धालु 'शैव' पिताका माथा ठनका; बहुत समझाया बुझाया और धमकाया, पर संशयान मूलशङ्करके चित्तका वह 'संशय' किसी प्रकार दूर न हो सका, निदान इसी विचार-विचिकित्सामें वह 'शिव-रात्रि' समाप्त हुई ।

शिवरात्रि तो समाप्त हो गई,पर बालक मूलशंकरकी विचिकित्सा

---

* 'जयन्ति वाणासुरमौलिलालिता, दशास्य-चूडामणिचक्रचुम्बिनः ।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥'

समाप्त न हुई, रातका वह अदृष्टपूर्व दृश्य रह रहकर उसकी आंखोंके सामने आने लगा, वही विचार बार बार हृदयमें उठने लगे। उसे दिलसे भुला देनेका उसने बहुत प्रयत्न किया पर न भुला सका, उस पहेलीको समझनेकी बहुत चेष्टा की, पर कुछ समझमें न आया।

मूलशङ्कर क्रमशः बढ़ने और पढ़ने लगा, इस घटनाको बहुत दिन बीत गये, पर इसकी याद उसके चित्तपर बराबर बनी रही।

खण्डनका झगड़ा

स्वामी दयानन्द भारतवर्षके सबसे बड़े नेता और आर्यजातिके सर्व-प्रधान सुधारक थे। उनका हृदय विशाल, दृष्टिकोण विस्तृत और प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनका अखण्ड ब्रह्मचर्य और प्रचण्ड तपोबल अतुलनीय था। वह स्पष्टवादिता और निर्भयताकी मूर्ति थे। उनका मस्तिष्क वैदिक ज्ञानकी ज्योतिसे समुज्ज्वल और हृदय परोपकारके भावोंसे भरा था। वैदिक धर्मका प्रचार, देश और जातिका उद्धार ही उनका लक्ष्य था।

शिवरात्रिके अन्धकारमें एक साधारणसी घटनासे उनके हृदयमें ज्ञानका अंकुर उगा, ज्योतिकी किरण जगी, प्राग्भवीय संस्कारोंसे समय पाकर वही अंकुर बृहदाकार उपकार-तरुके और प्रखर प्रकाश-राशिके रूपमें परिणत हो गया।

मौतके भयसे मुक्त होनेको वह घर बार छोड़कर भागे, मुक्तिकी खोजमें इधर उधर भटकते फिरे, दुश्चर तपोनुष्ठान और योगाभ्यास किया, प्रबल वैराग्य द्वारा सांसारिक प्रलोभनोंपर विजय पाई।

वह मुक्तिमार्गके पथिक थे, मुक्तिके द्वारपर पहुंच चुके थे, पर अपने देश और जातिको दुःख-दावानलमें दग्ध होता देखकर उनका हृदय पसीज गया, अपनी मुक्तिको भूलकर देश और जातिकी चिन्ताने उन्हें विचलित कर दिया। वह स्वयं संसार-सागरसे पार हो चुके थे, डूबतोंको उबारनेके लिये फिर उसमें कूद पड़े। यह परदुःख-कातरता, उनकी महत्ताका एक पुष्ट प्रमाण है।

स्वामी दयानन्दके कार्य-क्रमकी विस्तृत समालोचना छोटेसे निबन्धमें नहीं हो सकती। उनका कार्यक्रम बहुत व्यापक और विस्तृत था, उसपर अनेक दृष्टियोंसे विचार हो सकता है। यहां केवल उनके खण्डनके ढंगपर कुछ निवेदन करना है।

विरोधी लोग इसीको लेकर अकाण्ड ताण्डव किया करते हैं, उनके सब उपकारोंको भूलकर खण्डनके असली उद्देश्यको न समझकर भ्रम फैलानेकी और फूट डालनेकी चेष्टा करते हैं। स्वामी दयानन्दको किसीसे वैर न था, न इसमें उनका कोई स्वार्थ था, वह कोई नया पन्थ खड़ा करने न चले थे, पन्थोंकी बाढ़के वह बेहद विरोधी थे, वह आर्य जातिकी अवनतिका सम्प्रदाय-बाहुल्यको कारण समझते थे। उनका सारा प्रयत्न इसीलिये था कि परस्परविरोधी अनेक पन्थोंको एक किया जाय। सबको सार्वभौम वैदिक धर्मकी पवित्र वेदिपर इकट्ठा किया जाय। जो उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेषका संस्थापक समझते हैं, वह भयानक भूल करते हैं। स्वामी दयानन्दने बार बार अपनेको वैदिक धर्मका अनुयायी बतलाया है, ब्रह्मासे लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनियोंका जो वैदिक मार्ग था, उसीका उन्होंने अपनेको

पथिक बतलाया है, उन्होंने कहीं भी निर्भ्रान्त होनेका दावा नहीं किया, न किसी सम्प्रदाय-विशेषके आचार्यरूपमें अपनेको प्रकट किया। आर्यसमाजकी स्थापना उन्होंने किसी सम्प्रदाय या पन्थ-विशेषके रूपमें नहीं की थी, विधर्मियोंसे आर्यजातिकी रक्षाके लिये परस्परके अज्ञानमूलक मतविरोधको दूर करके आर्यजातिको संघटित करनेके पवित्र उद्देशसे ही आर्यसमाजकी रचनाकी थी। आर्यसमाज भी उन्हें इसलामकी तरह 'ख़ातिमुल्मुर्सलीन' नहीं मानता। वह सिर्फ वैदिकधर्मके प्रचारक और जातिके सुधारक थे। प्रत्येक सुधारक-को समयके अनुसार प्रचलित कुरीतियोंका खण्डन करना पड़ता है. संसारभरके सुधारकोंका इतिहास इसका साक्षी है, भगवान् शंकराचार्यने भी ऐसा ही किया था, 'शंकर-दिग्विजय'के लेखकने लिखा है:—

> 'शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
> रप्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम्।
> मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहेतोर्व्यधात्
> सर्वज्ञो न यतोऽस्य सम्भवति सम्मानग्रहग्रस्तता॥'

अर्थात्—शाक्त, पाशुपत, क्षपणक, कापालिक और दूसरे ऐसे ही अन्य मतोंने जो घासकी तरह जमकर वैदिक मार्गको ढक लिया था, उसे साफ़ करनेके लिये ही शंकराचार्यजीने वादियोंकी विजय की, अपना पाण्डित्य प्रकट करने या सम्मानप्राप्तिके लिये उन्होंने दिग्विजय नहीं किया था।

जिस समय स्वामी दयानन्दने वैदिक धर्मका प्रचार आरम्भ

किया था, उस समय आर्यजातिकी दुर्दशा पराकाष्ठाको पहुंची हुई थी, मत और पन्थोंके बढ़े हुए मतभेदने आर्यजातिको खोखला कर दिया था, विधर्मियोंने इस अवस्थासे लाभ उठाकर आर्यसन्तानको लाखोंकी संख्यामें ईसाई और मुसलमान बना डाला। आर्यजाति-पर चारों ओरसे आक्रमण हो रहे थे, हिन्दूजाति किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी हुई अचेत अवस्थामें पड़ी थी, विधर्मी सब ओरसे नोच खसोट रहे थे। वेद और वेदांगोंके पठन-पाठनका प्रचार उठ गया था। आर्यजाति अपने उच्च आदर्श, संस्कृति और इतिहासको भूलकर अनेक प्रकारकी नई पुरानी कुरीतियोंके जालमें जकड़ गई थी। इस संकटसे पार उतारनेके लिये स्वामी दयानन्दने जातिको झँझोड़ा। गाढ़ निद्रासे जगानेके लिये—होशमें लानेके लिये खण्डनके बहुत तेज़ नस्यकी ज़रूरत थी। खण्डनका उद्देश किसीको दुःख पहुंचाना न था। रोगीके हितकी दृष्टिसे डाक्टरको गले सड़े घावपर शस्त्र-क्रिया करनी पड़ती है। उससे कभी कभी रोगीको असह्य पीड़ा भी पहुंचती है। पर डाक्टरका प्रयोजन पीड़ा पहुंचाना नहीं होता। इस शस्त्रक्रियामें कोई असाध्य रोगी चल बसे तो भी डाक्टरपर हत्याके अपराधका आरोप नहीं किया जा सकता। अपराधमें भी भाव या नीयत देखी जाती है। पुरानी रूढियोंमें फँसे हुए किन्हीं लोगोंको स्वामी दयानन्दके खण्डनसे कुछ दुःख भी पहुंचा हो तो इसमें स्वामीजी का क्या अपराध है। सुधार और संशोधनके प्रारम्भमें प्रत्येक सुधारक या रिफार्मरको ऐसा करना ही पड़ता है।

निस्सन्देह उस समय इसकी आवश्यकता थी। पर अब अवस्थामें बहुत अन्तर पड़ गया है। इस समयके जो आर्य उपदेशक खण्डनमें स्वामी दयानन्दका अनुकरण करते हैं, वह भूलते हैं। उन्हें समयकी ओर और अपनी ओर देखना चाहिये। आजका समय वह समय नहीं है और खण्डन करनेवाले ये उपदेशकजी भी स्वामी दयानन्द नहीं हैं। सर्जन या शस्त्र-वैद्यने घावको चीर फाड़कर साफ़ कर दिया, अब कम्पौंडरोंका काम मर्हम पट्टी करनेका है। यदि कोई कम्पौंडर अनधिकार-चेष्टा द्वारा मर्हम पट्टी करना छोड़कर घावको नोचने खसोटने या नये सिरेसे फिर आपरेशन करने लगे तो घाव चंगा होनेके बदले और ख़राब हो जायगा। खण्डन बहुत हो चुका, अब मण्डनकी ज़रूरत है। यह बड़े खेदकी बात है कि कुछ जोशीले और अनुभव-शून्य उपदेशक हिन्दूजातिके संगठन और मेल मिलापके समय अरुन्तुद खण्डन द्वारा वैर-विरोध और कलहको बढ़ा रहे हैं, और इसकी ज़िम्मेदारी या दायित्व स्वामी दयानन्दके सिर डाला जा रहा है! इससे अधिक अनर्थ और क्या होगा कि हिन्दू जातिके एकमात्र रक्षक और हितैषीको, उस हितैषीको जिसने जाति और देशके हितपर अपनी मुक्तिके साधनोंको भी निछावर कर दिया, जातिको संगठित करना, देशको दुःखोंसे मुक्त करना ही जिसका उद्देश था, उस 'सर्वभूतहिते रतः' महात्माको कलहके लिये उत्तरदायी ठहराया जाय। ईसाई और मुसलमानोंका स्वामी दयानन्दको कोसनेका मतलब तो समझमें आ सकता है। स्वामी दयानन्दके प्रोग्रामसे इन्हें आघात पहुंचा है, इनके मन्सूबे मिट्टीमें मिल गये हैं,

पर हिन्दू भाई भी जब इनके स्वरमें स्वर मिलाकर स्वामी दयानन्दको कोसने लगते हैं तो दुःख होता है। सनातनधर्मी भाइयोंको स्वामी दयानन्दसे मतभेद हो सकता है पर वे इससे इन्कार नहीं कर सकते कि स्वामी दयानन्दने जो कुछ भी किया वह हिन्दूजातिके हितकी दृष्टिसे ही किया। हिन्दूजातिपर स्वामी दयानन्दके अनन्त उपकार हैं। इस समय हिन्दूजातिमें जागृतिके जो चिह्न दिखाई दे रहे हैं, संगठनका जो प्रयत्न हो रहा है, इसका श्रेय स्वामी दयानन्दको ही है। सनातनी भाइयो! तुम्हारी दृष्टिमें स्वामी दयानन्दने कोई भूल की हो तो उसे भूल जाओ, और उनके उपकारोंको याद करो। धर्म, जाति और देशकी रक्षाके लिये जो (उपाय) उन्होंने सुझाये हैं, कृतज्ञतापूर्वक उनमेंसे अपने अनुकूल उपादेय अंशोंको अपनाओ, आंखें खोलो, और समयको देखो। मेलमें मुक्ति और विरोधमें विनाश है। इससे बचो और उसकी ओर बढ़ो।

आर्यवीरो! स्वामी दयानन्दके असल उद्देशको समझो, कोई ऐसा काम जिससे स्वामी दयानन्दके नामपर लाञ्छन लगे, और जातिमें विरोध बढ़े, न करो। अपनी थोड़ी सी नाम मात्रकी सफलतापर मत फूलो। स्वामीजीके उद्देशकी पूर्ति अभी दूर है, अभी तो उसका प्रारम्भ ही हुआ है। प्रारम्भको पूर्ति समझ कर मत बहको। याद रक्खो, अभी दिल्ली दूर है। परमात्मा स्वामीजीके शिवसंकल्पको पूरा करे। शिवरात्रिका यह पुण्य पर्व आर्योंके अन्तःकरणमें कर्तव्य-परायणताका बोध उत्पन्न करे।
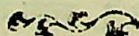
स्वामीजी और उनके अनुयायी

प्रातः स्मरणीय श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतवर्ष और आर्यजातिके आदर्श नेता थे। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इस देश और जातिके रोगका निदान जान लिया था। आर्यजातिमें समय समयपर बड़े बड़े नेता हुए हैं, जो सब परम आदरणीय हैं। इस समय भी नेताओंका अभाव नहीं रहा। कई महापुरुषोंने अपने अपने लक्ष्य और दृष्टिकोणके अनुसार, जाति और देशके सुधार और उद्धारके उपाय सोचे, प्रयत्न किये, पर प्रायः वे सब उपाय एक देशी थे। किसीने कुरीतियोंका संशोधन किया, किसीने स्त्री-शिक्षाके प्रचारपर ज़ोर दिया, किसीने विधवाओंके दुःख दूर करनेका बीड़ा उठाया, किसीने राष्ट्रभाषाके महत्त्वको समझाया और किसीने राजनीतिकी गुत्थीको सुलझाया। इन सब एकाङ्गी सुधारोंकी अपेक्षा स्वामीजीके सुधारका प्रकार सर्वाङ्गीण था। उनके प्रोग्राममें सब कुछ था। उन्होंने उस समय सिंहनादद्वारा, आर्यावर्त्त और आर्यजातिको जगाया, जब चारों ओर सन्नाटा छाया था, सब मोह-निद्रामें अचेत पड़े थे। अन्य आधुनिक सुधारकोंके सुधारका आधार प्रायः पाश्चात्य सभ्यतापर अवलम्बित था। पाश्चात्य आचार व्यवहारके वेताल-संचार द्वारा वे मुर्दा जातिको जिलाना और अधःपतित देशको ऊपर उठाना चाहते थे—पूर्वको पश्चिम बनाना चाहते थे, ब्राह्मसमाज इसका एक उदाहरण है।

श्रीस्वामीजीकी संस्कृति और आदर्श खालिस अपने थे।

वह आर्यजातिके सुधारक थे, संहारक नहीं। 'हिन्दू-संगठन'का जो ढांचा अब तैयार किया जा रहा है, वह स्वामीजीके प्रोग्रामका एक धुँधलासा ख़ाका है। उसकी नक़ल है। चारों ओर घूम फिरकर, क़िस्मत आज़माई करके, हिन्दू जातिने अब उसी मार्गपर आनेकी ठानी है, जो स्वामीजीने आर्यजातिकी उन्नतिके लिये निर्दिष्ट किई था। "समझ हमको आई पै बेवक्त आई।" पर ग़नीमत है आई तो सही! अफ़सोस! हिन्दू जातिने पूरी आधी सदी आपसके झगड़ोंमें ही गँवा दी। स्वामीजीने आर्य-समाजकी स्थापना, आर्यजातिके उद्धारके—सुधारके लिये ही की थी। वह आर्यजातिके बिखरे हुए मनकोंको सम्मेलनके सूत्रमें पिरोना चाहते थे। इस जातिमें जो अनेक कुसंस्कार प्रविष्ट हो गये हैं, मत-विरोधकी फूट जो दीमककी तरह इसे खोखला कर रही है, अपने स्वरूपको भूलकर जो यह पश्चिमी सभ्यताके प्रवाहमें बही जा रही है, इन अनिष्ट प्रसंगोंसे इसे बचाना, विधर्मियोंके आक्रमणोंसे इसकी रक्षा करना, यही उनका उद्देश्य था। इस मुख्य उद्देश्यकी सिद्धिके लिये जो साधन अपेक्षित हैं, उन्हींकी व्याख्या स्वामीजीने अपने व्याख्यानों और पुस्तकोंमें की है। स्वामीजीके व्याख्यान सुननेवाले और उनके सत्सङ्गसे लाभ उठानेवाले कुछ लोग अभी बाक़ी हैं। वे जानते हैं कि आर्यजातिके लिये और फिर भारतवर्षके लिये उनके दिलमें कितना दर्द था—हृदयमें कितनी वेदना थी—कितनी चिन्ता थी।

वह मृत्युके भयसे मुक्त होनेको घर-बार छोड़कर संन्यासी

बने थे। इसीके लिये बन बन भटकते फिरे। दुश्चर योगाभ्यास और कठिन तपस्या की। मुक्ति-मार्गकी दुर्घट घाटियोंसे बाहर निकलकर जब उन्होंने देश और जातिकी दुर्दशा अपनी खुली हुई आंखोंसे देखी, तो उनका हृदय पसीज गया। वह अपनी व्यक्तिगत मुक्तिकी बात भूल गये। अपनी जाति और देशको दुःखोंके दुर्वह भारसे दबा देखकर उन्हें यह अच्छा न मालूम हुआ कि स्वयं तो मुक्त हो जायँ और उनकी जाति यों ही अनन्त काल तक नरकमें पड़ी तड़पती रहे। वह एक 'सत्पुरुष'के समान स्वार्थ छोड़ कर परार्थ-साधनमें तत्पर हुए। स्वामीजी एक सर्वत्यागी, वीतराग संन्यासी थे। प्राणिमात्र, सारा संसार उनकी दृष्टिमें समान था, उनका कोई अपना-पराया न था। फिर भी इस दुःख-दलित जातिपर उन्हें ममता आ ही गई, योगारूढ़ मुमुक्षु दयानन्द आर्य-जातिके ममता-पाशमें बँध गये। अपनी मुक्तिका उपाय छोड़कर वह उसकी मुक्तिका—उसके उद्धारका उपाय ढूंढ़ने लगे।

रोगका निदान ठीक ठीक जान लेनेपर चिकित्सामें सफलता होती है, अन्यथा सिद्धौषधसे भी कुछ लाभ नहीं होता। स्वामी-जीने जो निदान निश्चित किया था, वही ठीक था। इसलिये उनकी निर्दिष्ट चिकित्साकी सफलतामें सन्देह नहीं था। पर देशके दुर्भाग्यसे चिकित्सक चल बसा! जिस समाजके सुपुर्द उसने रोगीकी परिचर्या की थी, वह परिचारकके स्थानमें स्वयम् 'चिकित्सक पाश' बन बैठा। नीम हकीमने अपने पेटेण्ट नुसखोंका-टोटकोंका तजर्बा शुरू कर दिया, रोग घटनेके बजाय बढ़ने लगा। रूपक नहीं

यथार्थ घटना है। स्वामीजीके पीछेके आर्यसमाजका इतिहास इसका साक्षी है। आर्यसमाजको यार लोगोंने ठोंक पीटकर बरजोरी "मठ"के रूपमें परिणत कर दिया। जिसके नाना रूपधारी अनेक पुजारी और महन्त बन बैठे, अपनी अपनी जुदा गद्दियोंकी स्थापना और रक्षाके लिये 'देवासुर-संग्राम' छिड़ गया। 'ऋषिके मिशन' की पूर्तिके नामपर लोग नये ढंगके ढोंग और 'पोप लीला' फैलाने लगे। जो पुरुषार्थ और उद्योग सुधारमें लगना चाहिये था, वह परस्परके द्वन्द्व युद्धमें खर्च होने लगा। एक दूसरेको ढकेलकर माहात्म्यकी ऊंची सीढ़ीपर चढ़ बैठनेकी चेष्टा करने लगा। "मुसल्लिमा लीडरी" की धूम मच गई। आर्यसमाज लीडरीका लीलाक्षेत्र बन गया। जिस आर्यसमाजकी स्थापना आर्यजातिमें एकता उत्पन्न करने, विरोध मिटाने और वैदिक धर्मको सार्वभौम बनानेके लिये हुई थी, वह स्वयम् अनेक पार्टियोंमें बँटकर इतना संकीर्ण हो गया कि एक पार्टीके लीडरके लिये दूसरी पार्टीका प्लेट-फार्म 'अछूत' और 'अगम्य' हो गया। आर्यसमाजके कुछ लीडरोंने पुराने 'रोमन कैथलिक पोपों'का सा रूप धारण कर लिया। आर्यसमाजके स्वर्ग-नरकके एकमात्र वही अधिकारी हो बैठे। जो आज 'दलितोद्धार'के लिये उठे हैं, उन्होंने कल अपनी सारी शक्ति प्रतिपक्षी पार्टीके दलके कुचलनेमें लगा रखी थी। ज़रा ज़रासे नाममात्रके मतभेदपर आर्यसमाजके 'मुफ़तियों' ने कुफ्रके फ़तवे दे देकर न जाने कितने आदमियोंको सामाजिक मृत्युका दण्ड दे डाला! और इस प्रकार अपनी धर्मप्राणताका प्रचण्ड परिचय

देनेमें ही समाजकी भलाई समझी ! मानो यह भी 'ऋषिके मिशन की पूर्ति' थी। कुछ अनुभव-शून्य 'लीडर-म्मन्य' नवयुवक आर्य-समाजमें ऐसे भी हैं जिन्हें 'अकाली आर्य" कहा जाय तो अनुचित न होगा। इनका दुष्प्रयत्न आर्य-समाजको, हिन्दू जातिसे सर्वथा भिन्न करनेका रहता है ! 'तत्तखालसा अकालियों' की तरह ये भी नया पन्थ बनानेकी धुनमें हैं। ये लोग कभी अपना नया धर्मशास्त्र बनाते हैं, कभी आर्य बिरादरी कायम करते हैं। कभी जुदा क़ानून बनवानेकी चेष्टा करते हैं। परमात्मा न करे यदि ये 'आर्य अकाली' अपने मनसूबोंमें कभी कामयाब हो गये तो ब्राह्म समाजके समान ये भी एक कोनेमें जा पड़ेंगे। पुराने आर्यसमाजी श्रीमान् लाला लाजपतरायजीने शायद इन्हीं 'आर्य अकालियों'को लक्ष्य करके आर्यसमाजको 'हिन्दुइज्मका घातक' कहा है।

आर्यसमाजमें संघ-शक्ति है, वह संगठनके महत्त्वको समझता है उसने हिन्दू जातिमें जागृति उत्पन्न की है, और विधर्मियोंके आक्रमणोंसे जातिकी रक्षामें प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। भारतवर्ष और आर्यजातिके अभ्युत्थानके लिये समय समयपर देशमें जितने अनुष्ठान हुए हैं, आर्यसमाज उन सबमें सहायक रहा है। आर्यसमाजके हिन्दू-जातिविषयक उपकारोंका अपलाप उसके शत्रु भी नहीं कर सकते। यह सब कुछ होनेपर भी आर्यसमाजसे जो आशाएं इसके प्रवर्तकको और सर्वसाधारण-को थीं, वह पूरी तरहसे पूरी नहीं हो रहीं। आर्यसमाजकी संघशक्तिको पार्टीबन्दीके प्राणहारी राजरोगने क्षीण कर दिया है।

संस्थाओंकी व्याधिने इसकी उदारताको अनुदारतामें परिणत कर दिया है। परस्परकी लाग-डांट कर्तव्यपथकी ओर अग्रसर नहीं होने देती। यदि यह दलबन्दी और संस्थावादका रोग, आर्य-समाजको खोखला न कर देता तो आज हिन्दू-संगठनकी इस नवीन रचनाकी आवश्यकता ही न होती। आश्चर्य तो इस बातपर है कि इस आपत्कालीन संगठनमें भी वैर विरोध और विघटनकी कुटेव नहीं छूटती। मद्रासमें एक पार्टी काम करने पहुंचती है, अनेक कष्ट सहकर जान जोखममें डालकर वह उस वक्त काम शुरू करती है जब वहां किसीको पहुंचनेका साहस न होता था। लगनसे काम करनेवालोंको सफलता होती ही है, प्रारम्भिक विघ्न-बाधाएं भी कुछ दिन बाद कम हो जाती हैं। इस पार्टीको सफलता प्राप्त होती देखकर दूसरी पार्टीको ईर्ष्या होती है और वह भी मैदान साफ देखकर वहीं जा डटती है। जो पार्टी इतने दिनोंसे वहां काम कर रही है, जिसने बहुतसी कठिनाइयोंको झेलकर अनुभ्व प्राप्त किया है, उसे वहांसे धकेलकर यह दूसरी पार्टी चाहती है कि सफलताका श्रेय उसे नहीं, इसे मिले! एक दूसरेका हाथ बंटाना अभीष्ट नहीं। काम कामके लिये नहीं किया जाता, बल्कि नाम और फण्डके लिये किया जाता है। प्रत्येक लीडर जो उठता है अपने ही नामपर फण्डकी अपील करता है। अपील 'सर्व साधारण, अमीर, गरीब हिन्दूमात्रसे की जाती है, पर वह होती है एक एक व्यक्तिके नामसे—'रुपया मेरे नामपर भेजो, हिन्दू जाति डूब रही है, मैं उसे बचाने जा रहा हूं।' जब

तक फण्डपर स्याह-सफेदका पूरा अधिकार है, तबतक तो ठीक है। फण्ड खत्म हुआ या उसपर किसी दूसरेका नियंत्रण हुआ, बस उसी दिन इस्तीफा देकर अलग !

यह प्रवृत्ति स्वामी दयानन्दके अनुयायी कहलानेवालोंके लिये शोभाकी बात नहीं है। दूसरे समाजोंमें भी ऐसे लीडरोंकी कमी नहीं है। वहां यहांसे भी हालत बदतर है। यह ठीक है, पर आर्यसमाजका आदर्श बहुत ऊंचा है। उसके अनुयायियोंको और खासकर किसी आर्य लीडरको बहुत उच्च आदर्श उपस्थित करना चाहिये—

'द्रुमसानुमतोः किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः।'

आगरा शुद्धि-सभाका काम बड़े जोरोंसे चल रहा था, सर्वसाधारणसे धन-जनकी पर्याप्त सहायता मिल रही थी। उत्साहका समुद्र उमड़ रहा था। जातिमें जीवनसंचार होने लगा था, विरोधियोंपर आतंक छा गया था, हिन्दू संघटनकी धाक बैठ गई थी; पर वहां भी सत्यानाशी पार्टी फीलिंगको स्पिरिटने बना बनाया काम बिगाड़ दिया, चलती गाड़ी रोड़ा अटकाकर रोक दी। कितने खेद, दुर्भाग्य और आश्चर्यकी बात है कि संघटनकी दुन्दुभि बजाई जाती है और कोई लीडर महात्मा स्वयं किसी संघटनके नियन्त्रणमें काम करनेको तैयार नहीं। सब सर्वतोमुखी प्रभुता चलाना चाहते हैं। सब काम मेरे ही शासनाधीन हो। मैं ही प्रधान रहूं। मेरे ही नाम फण्डका रुपया आवे, चाहे जैसे खर्च करूं। कोई ननु नच करनेवाला न हो, तब तो मैं काम करूंगा, नहीं तो मेरा 'इस संस्थासे

कोई सरोकार नहीं' की घोषणा करके अलग हो बैठूंगा। यही नहीं प्रच्छन्न रूपसे उसका विरोध भी करूंगा। जिस समाजमें ऐसे नेता हों, उसका बेड़ा कैसे पार होगा? शुद्धिकी धूम मचाकर सब एक एक करके किनारे हो बैठे, जिन्हें इतनी धूमधाम मचाकर शुद्ध किया था, उन्हें विरोधी फिर भ्रष्ट करके अपनेमें मिलानेका प्रयत्न कर रहे हैं। विरोधियोंने साम, दान, दण्ड और भेदके उपायोंसे अपना काम शुरू कर रखा है। पर इधर शुद्धिसभामें सन्नाटा है। शुद्धिसभाका दफ्तर आगरेसे लखनऊ उठ गया। वृद्ध ठाकुर माधवसिंहका दम गनीमत है जो शुद्धिके नामपर कुछ राम-रौला किये जाते हैं।

आर्यसमाजके सब छोटे बड़े लीडरोंने सब ओरसे ध्यान हटाकर एकदम मद्रासपर धावा बोल दिया है। "आगे दौड़ पीछे छोड़" इसे ही कहते हैं। विजित और अधिकृत स्थानको अरक्षित दशामें छोड़कर दिग्विजयके लिये दूर दिशामें दौड़ पड़ना, समझमें नहीं आता कहांकी युद्ध-नीति है। यदि एक संघटनके अधीन काम होता तो कार्यविभाग हो सकता, कुछ कार्यकर्त्ता वहां जाते, कुछ यहां रहते। मलकानोंकी शुद्धिपर लाखों रुपया खर्च हो चुका है। कितना भगीरथ-परिश्रम करना पड़ा है, अब सबपर पानी फिरा चाहता है। हम महात्मा हंसराजजीसे प्रार्थना करेंगे कि वह शुद्धि-सभाकी फिर खबर लें। मलकानोंकी शुद्धिका श्रेय बहुत कुछ उन्हें ही है। महात्माजीने जिस लगनसे शुद्धिके कामको चलाया था, वह उन्हींका हिस्सा था। मद्रासके अछूतोंका उद्धार भी जरूरी है,

और आपके आदमियोंने वहां भी वह काम किया है, जो दूसरोंसे नहीं हो सका। फिर भी शुद्धिका काम भुला देने योग्य नहीं है।

आर्यसमाजकी शक्तियां यदि केन्द्रीभूत हो जांय, पार्टी-स्पिरिट मिट जाय तो निःसन्देह हिन्दू जातिका उद्धार हो जाय। शुद्धि, अछूतोद्धार और संघटन सब कुछ हो जाय। आर्य-समाजकी स्थापनामें स्वामी दयानन्दका यही मुख्य अभिप्राय और उद्देश्य था।

दिवाली स्वामी दयानन्दको परमपद-प्राप्तिका दिन है। इस अवसरपर आर्य-पत्रोंके ऋष्यंक निकलते हैं, यादगारमें उत्सव किये जाते हैं, पर उनकी असली यादगार उनके उद्देश्यकी पूर्ति है। इस दिन उसीके साधनोंपर विचार होना चाहिये, सब पार्टियोंको एक होकर वर्षभरके लिये कार्यक्रम निर्धारित करना चाहिये, और फिर आपसमें काम बांटकर उसीके अनुसार काम होना चाहिये। इसीमें आर्यसमाजकी सफलता और सार्थकता है।

श्रीपण्डित गणपतिशर्मा

हा ! पंडित गणपति शर्माजी हमको व्याकुल छोड़ गये ! हाय हाय क्या हो गया ! यह वज्रपात, यह विपत्तिका पहाड़, अचानक कैसे सिरपर टूट पड़ा ! यह किसकी वियोगाशनिसे हृदय छिन्नभिन्न हो गया, यह किसके वियोग-बाणने कलेजेको बींध दिया, यह किसके शोकानलकी ज्वालाएं प्राणपखेरूके पंख जलाए डालती हैं ! हा ! निर्दय काल-यवनके एकही निष्ठुर प्रहारने किस भव्यमूर्त्तिको तोड़कर, हृदय-मन्दिर सूना कर दिया ! हा हन्त अपने यशःसौरभ और पाण्डित्य-परिमलसे सज्जन-मधुकरोंको तृप्त करनेवाले किस अपूर्व पुरुषकी जीवन-नलिनीको मृत्यु-मत्त-मातङ्गने उखाड़कर अपनी दुरन्तपूरा उदरदरीमें धर लिया ! हा दुर्दैव-निदाघ ! तू ने इस मूर्खबहुल मरुभूमिके एकमात्र विद्वत् सरोवरको सहसा सुखाकर कितने अनन्यगतिक जिज्ञासु-मीनोंको जीव-नहीन बना दिया ! हा दुरदृष्ट-प्रचण्डपवन ! तेरे एक ही प्रलयकारी झोंकेने उपदेशामृतवर्षी पण्डित-पर्जन्यको पिपासाकुल, शुश्रूषु चातकोंकी आशाभरी दृष्टिसे दूर करके यह क्या किया ! श्रमसन्तापहारी, सुस्निग्धच्छाय, वेदान्त-तरुको उच्छिन्न करके क्या लिया !

हा पण्डित-सूर्य ! आप हमें शोकान्धकारमें भटकता छोड़कर सहसा कहां जा छिपे ! आपके सेवक ओर प्रेमीजन किसका मुँह

पंडित श्रीगणपतिजी शर्मा

देखकर जीयें ! उस हृदयमें जिसमें आपके सिवा किसीके लिये जगह नहीं, अब किसे लाकर बिठावें ! और शून्यहृदय रहकर कैसे और कै दिन जीयें !

आर्यसमाज अब किसके पाण्डित्यपर अभिमान करे ! प्रतिपक्षियोंको किसके बलपर ललकारे और उनका चैलेन्ज किसके सहारे स्वीकार करे !

वह देखिये, अजमेरमें वैदिकधर्मी आस्तिकोंके साथ वेदविरोधी नास्तिकोंका घोर शास्त्रार्थ हो रहा है। चलते-पुर्ज़े प्रतिपक्षीके कुतर्क-जाल और वाक्-पाटवने श्रोतृ-समुदायको भ्रममें डाल दिया है। आर्यसमाजके शान्त संन्यासीकी (स्वामी दर्शनानन्दकी) प्रबल और संक्षिप्त सारगर्भित युक्तियोंका सर्वसाधारणपर वैसा प्रभाव नहीं पड़ रहा, जिसकी इस समय ज़रूरत है। वैतण्डिक प्रतिवादीके दमनार्थ, प्रतिवादि-भयङ्कर कन्ट्रोलर महारथी अपेक्षित है। आप वहां नहीं हैं, पर हिर-फिरकर सबकी नज़र आपपर ही पड़ रही है। 'पंडितजी कहां हैं, उन्हें बुलाओ, जहां हों वहींसे बुलाओ, जैसे हो वैसे बुलाओ, ज़रूर बुलाओ, बिना उनके काम न चलेगा'— यही शब्द हैं जो आर्य-कैम्पमें सबके मुंहसे निकल रहे हैं। पर हाय यह किसे मालूम है कि ठीक इसी समय पंडितजी मृत्युशय्या-पर पड़े, सब सम्बन्धों और बन्धनोंसे मुक्त होनेकी तय्यारी कर रहे हैं; वह प्रदीप्त बाणी जो दस दस हज़ार श्रोताओंको निष्पन्द और निश्चेष्ट करके चित्रलिखितसा बना देती थी, और वह सर्वाभिभावी स्निग्ध मधुर स्वर, सदाके लिये चुप होनेको है !

निदान, दुर्दैवके इस कान्फ़िडेन्शियल रहस्यसे अनभिज्ञ आर्य-समाजके अधिकारी, आपकी तलाशमें इधर उधरको तार भेजकर आगमनकी प्रतीक्षामें तन्मय बने बैठे हैं, चारोंओरसे आनेवाली ट्रेनोंपर आदमी दौड़ाये जारहें हैं, एक एक मिनट बरस बराबर बीत रहा है, तारके हरकारेकी ओर सबकी नज़र लगी हुई है—ऐन इन्तज़ारीमें हरकारेने तार लाकर दिया—उत्कण्ठित चित्तसे जल्दी जल्दी लिफ़ाफ़ा फाड़कर पढ़ा, हाय ! 'बस खूं टपक पड़ा निगहे-इन्तज़ार से'—

'पण्डित गणपतिशर्म्माका २७ जूनको दिनके ३ बजे, जगरांवमें देहान्त हो गया !!' ❀

इस तडित्समाचार, नहीं नहीं अशनिप्रहारने सबको मूर्छित कर दिया !

ऐं यह क्या हो गया ! हाय ग़ज़ब, पंडित गणपतिजी यों ग़ायब हो गये ! हा ! यह किसे ख़बर थी कि पंडितजीके बदले उनकी आकस्मिक मृत्युका समाचार आयगा ! उस समयकी उस निराशा बेबसी और हृदय-यन्त्रणाका चित्र खींचनेकी शक्ति किसमें है ! उस दशाका वर्णन कौन कर सकता है ! उसका हाल कोई अजमेरके आर्यसमाजिकोंके दिलसे या फिर श्रीस्वामी दर्शनानन्दजीसे पूछे, पर स्वामीजी तो स्वयं मूर्छित दशामें अचेत पड़े हैं उन्हें तो अपनी ही सुध बुध नहीं ! वह क्या बतायँगे ।

❀ यह दुर्घटना २७ जून सन् १९१२ ई० को हुई । उस समय पंडित गणपति-शर्म्माजीकी अवस्था ३९ वर्षकी थी ।

पण्डितजी ! यह आपको क्या हो गया ! आपका स्वभाव सहसा क्यों बदल गया ? शास्त्रार्थका नाम सुनकर तो आपका रोम-रोम प्रसन्न हो जाता था, अनीश्वरवादी प्रतिपक्षियोंका मुक़ाबला करनेके लिये तो आपके अस्थिचर्मावशिष्ट दुर्बल शरीरमें अलौकिक बलका संचार होने लगता था। 'आत्म-निरूपण' करनेके नाम तो आपकी जानमें जान आ जाती थी ! इस विषयपर बोलने और संवाद करनेके लिये तो आपकी अद्भुत प्रतिभा, अलौकिक वक्तृत्वशक्ति और अगाध पाण्डित्यका चतुरस्र विकाश हो उठता था, अकाट्य युक्ति और प्रबल प्रमाणोंका समुद्र उमड़ने लगता था, ऐसे सुअवसरकी प्राप्तिके लिये तो आप ईश्वरसे प्रार्थी रहते थे, शरीरकी अस्वस्थता और मार्गके अनेक दुःसह कष्टोंको झेलकर भी, ऐसे मौक़ोंपर ख़बर पातेही पहुंचते थे, फिर आज यह क्या बात है ? ऐसी अदृष्टपूर्व निष्ठुरता क्यों धारण कर ली ! अजमेरमें शास्त्रार्थ हो रहा है, पबलिक आपके आनेका बड़ी बेसब्रीसे इन्तज़ार कर रही है, साधारण पुरुष नहीं, वह स्वामी दर्शनानन्द, जिनकी अपूर्व प्रतिभा, शास्त्रार्थ-पटुता और विलक्षण युक्तिवादकी प्रशंसा आप हज़ार बार करते नहीं थकते थे, जिनके लिये आपके हृदयमें अत्यधिक आदरभाव और पूज्यबुद्धि थी, जिन्हें आप 'वीतराग' और 'मोहमायासे मुक्त' बतलाया करते थे, वही स्वामी दर्शनानन्दजी आपको ज़रूरत महसूस कर रहे हैं और सबसे अधिक अधीर हो रहे हैं, शीघ्र जाकर उनका हाथ बँटाइये ! यह देखिये, आपके 'वीतराग' और 'मोहमायासे मुक्त' महात्मा

आपके वियोग-बाणसे व्यथित होकर मूर्च्छित पड़े हैं ! इनकी ख़बर लीजिये ।

महाविद्यालयके विद्यार्थी, जिन्हें आप यहांसे चलते समय १५-२० दिन पीछे लौटकर, 'न्यायदर्शन' पर लेक्चर सुनानेका वादा कर गये थे, और कह गये थे कि—'दुरूह स्थलोंपर निशान कर रखो, जो शङ्काएं हों उन्हें लिख रखो, अबके आकर विशद और विस्तृत व्याख्या द्वारा सब सन्देह दूर कर देंगे'—वे काग़ज़-पेन्सिल लिये बड़े उत्कण्ठित चित्तसे, आंखें फाड़े, आपके आनेका मार्ग देख रहे हैं, अवधिके दिन अंगुलियोंपर गिन रहे हैं, अवधि बीत गयी और आप नहीं आये, वे बार-बार पूछ रहे हैं कि—'श्रीपण्डितजी क्यों नहीं आये ? कहां हैं ? कब तक आयँगे ?' उन्हें इसका क्या उत्तर दें ? कबतक आपके लौटनेकी आशा रखें ?

हा नानूराम ! तेरा बुरा हो, तू पण्डितजीको कहां छोड़ आया ? हा पाषाण हृदय ! पण्डितजीको नहीं लाया तो यह दारुण समाचार तो न लाया होता ! अरे निष्ठुर !

> 'अम्भो न चेज्जलद ! मुञ्चसि मा विमुञ्च
> वज्रं पुनः क्षिपसि निर्दय ! कस्य हेतोः ?'

इसका उदाहरण उपस्थित कनेकी क्या आवश्यकता थी ! कमबख़्त ! यह क्या किया ! सरल स्वभाव, शुद्ध हृदय, कोमलचित्त ब्रह्मचारियोंके नाज़ुक शीशए-दिल, शोक-समाचारके भारी पत्थरसे क्यों पीस डाले ! पण्डितजोके अन्तिम समाचाररूपी वज्रसे बच्चोंके कुसुम-कोमल चित्त क्यों छेद डाले !

'नोके-ज़बांने तेरी सीनोंको छेद डाला,
तरकशमें है य पैकां या है ज़बां दहनमें।'

हा कष्टम्! यह करुण दृश्य तो नहीं देखा जाता, बच्चोंका विलाप नहीं सुना जाता, दिल उछल रहा है, कलेजा मुंहको आता है! सारे ब्रह्मचारी, नानूराम* को घेरे बैठे हैं—इतने दिनों पण्डितजी कहां-कहां रहे? क्या-क्या किया? इत्यादि बातें एक-एक करके पूछ रहे हैं। वह कह रहा है और वे सुन रहे हैं। जगरांव पहुंचकर बीमार होनेके समाचारके साथही सुननेवालोंके चेहरेपर हवाइयाँ उड़ने लगीं। क्रमशः चिन्ता, विषाद और शोकके भावोंका प्रादुर्भाव मुखच्छविको मलिन करने लगा। पण्डितजीकी 'महायात्रा' का अन्तिम 'स्वर्गारोहण-पर्व' कहनेवालेने रो रो कर, रुक-रुककर और जिगर थामकर, सुनाना शुरू किया। सुनने-वाले जो अबतक किसी प्रकार ज़ब्त किये, दिल मसोसे बैठे सुन रहे थे, एक बार ही चीख़ उठे, आंसुओंके प्रबल प्रवाहमें, धैर्य तिनके-की तरह बह चला! 'आह' की आंधीने सब्रो क़रारको तूल (रूई) की तरह उड़ा दिया। शोक-नद हृदय-तटको तोड़कर भयंकर वेगसे बहने लगा! रोते-रोते आंखें सूज गईं, गला सूख गया, पर शोकावेग किसी प्रकार कम होनेमें नहीं आता!

दयार्द्र हृदय पण्डितजी! क्या आपका हृदय इस दृश्यको

---

*एक मारवाड़ी ब्राह्मणका नाम, जो कुछ दिनोंसे पण्डितजीकी सेवामें रहता था, अन्त समयमें भी पण्डितजीके पास था, उसीने पण्डितजीकी मृत्युका सविस्तर वृत्तान्त महाविद्यालयमें आकर सुनाया था।

देखकर भी नहीं पसीजता ? सुकुमार ब्रह्मचारियोंकी इस दयनीय दशापर भी आपको दया नहीं आती ? आइये, आइये, इन्हें तसल्ली दीजिये, इनको व्याकुलता दूर कीजिये, इन्हें समझा-बुझाकर चुप करना हमारी शक्तिसे बाहर है, यह आग आप ही की लगायी हुई है। आपही आकर इसे बुझाइये।

आपको याद है ? पुरैनीके उत्सवपर चौधरी अनूपसिंहजीसे नहटौर जाने और एक मास ठहरकर उनके संशय निवृत्त करनेका आपने वादा किया था ? वह बड़ी बेसब्रीसे आपके पधारनेका इन्तज़ार कर रहे हैं।

बिहार प्रान्तवाले—जहांसे आपको बराबर बुलावे आ रहे थे, जहां जानेका आपने पक्का वादा और इरादा भी कर लिया था, आपकी बाट जोह रहे हैं।

मेरठ शहरमें 'आर्य-कुमार-सभा' का उत्सव है, जहां अनेक दार्शनिक विषयोंपर विचार और वाद-विवाद होगा जहां वैदिक धर्मके गूढ़ सिद्धान्तोंपर शङ्का-समाधानके लिये अनेक अन्यमतावलम्बी विद्वान् पूरी तैयारी कर रहे हैं, आपको मालूम है, वहां आपकी कितनी आवश्यकता है ? आर्य्यकुमारसभाके मन्त्रीमहाशय आपको साग्रह बुला रहे हैं, आपके लिये महाविद्यालय-सभा और 'आर्य्यविद्वत्सभा' को लिख रहे हैं, वहां कौन जाय ?

महाविद्यालयके आगामी उत्सवकी सफलताकी चिन्ता तो आप अभीसे कर रहे थे। हाय अब क्या होगा ! मन्दभाग्य महाविद्यालय ! अपने दुर्भाग्यको रो, हा हत-विधिसे तेरा यह सहारा भी न सहा गया !

कश्मीर-यात्राका प्रोग्राम क्यों कैंसिल कर दिया ? कश्मीरसे अधिक मनोहर दृश्य, स्वर्गमें भी क्या होंगे ? जिनके लिये इतनी जल्दी की ? और वह राजपूतानेका डेपुटेशन बीच ही में रह गया ? वे पुस्तकें जिनके लिखनेकी आप तय्यारी कर रहे थे, कब प्रकाशित होंगी ? ग़रीब श्यामलालके लिये क्या किया ? उसे किसके ऊपर छोड़ गये !

हाय वह तपस्विनी वृद्धा माता, जो निरन्तर १५ वर्षोंसे देखनेको तरस रही थी, अब क्या कहकर जीको ढाढ़स देगी ! और कैसे धैर्य धारण करेगी ! उसका तो सर्वस्व लुट गया, अन्धीकी लकड़ी छिन गई ! हृदयका टुकड़ा, आंखों तारा, बुढ़ापेका सहारा, आशाका अवलम्ब, सब कुछ जाता रहा !! और सब लोग तो रो-पीटकर बैठ रहेंगे, कुछ दिनोंमें सब कुछ भूल जायँगे, झूठी और स्वार्थी दुनियामें एक माताका ही प्रेम निःस्वार्थ और सच्चा है। नलके हंसकी यह उक्ति बिलकुल ही ठीक है:—

'मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः! सुतशोकसागरः' ॥

संसारकी अनित्यता, दुःख-बहुलता और असारताकी निन्दा करके मित्रवर्ग, आपके वियोगको किसी प्रकार सहन करनेमें समर्थ हो सकेंगे; परन्तु बेचारी दुःखोंकी मारी वृद्धा माता, इस अपार 'सुत-शोकसागर' को कैसे पार कर सकेगी ! यह विचार करते ही हृदय दुःख-समुद्रमें डूब जाता है !

आर्यसमाजको जो हानि, आपके असमय वियोगसे पहुंची

है, उसकी पूर्त्ति क्या कभी हो सकती है ? इस वाटिकामें अनेक फूल खिलेंगे, जो देखनेमें मनोहर होंगे, पर उनमें वह दिव्य गन्ध न होगी। इस वेदिपर अनेक वक्ता आयँगे, पर उनमें वह बात कहांसे आयगी ! बहुतसे नक्काल निकलेंगे और निकल रहे हैं, वह असलियत कहांसे लायँगे ? डिप्लोमे और आडम्बरपूर्ण उपाधियां उस कमीको कैसे पूरा कर सकेंगी ! वह अलौकिक निःस्पृहता, स्पष्टभाषिता, विद्वत्ता और प्रतिभा, प्रयत्न-प्राप्य पदार्थ नहीं हैं। ये चीज़ें ईश्वर किसी विरले ही भाग्यवान्को कभी देता है।

ऐसे अपूर्व तथा असाधारण गुण-सम्पन्न महापुरुष, सैकड़ों वर्षों और लाखों मनुष्योंमें कभी कभी, प्रकट होकर अपना अद्भुत चमत्कार दिखा जाते हैं ! ऐसे ही अनर्घ नर-रत्नोंको धारण करनेके कारण पृथ्वी 'रत्नगर्भा' और 'वसुन्धरा' कहलाती है !

हा काल-दस्यु ! तू भी कैसा विचित्र परीक्षक है कि देशके असंख्य भूभार नरपिशाच-समूहमेंसे ऐसे ही रत्नको चुनकर उठाता है ! समाजका शरीर छोड़ जाता है और जान निकाल ले जाता है !

धिक् विधे ! तुम्हारे इस अनाड़ीपन और खिलाड़ीपनको कहां-तक रोवें, हज़ार दिक्कतों और लाख कोशिशोंके बाद ऐसा सुन्दर खिलौना बनाकर तय्यार करते हो और फिर उसे यों ही बेदर्दीसे तोड़ डालते हो !! योगिराज भर्तृहरिने इसी मूर्खतापर तुम्हें यह खूब ही फटकार बतलाई है:—

"सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः!"

अस्तु, कोई कुछ ही कहो, कितना ही रोओ चिल्लाओ, उपालम्भ दो, या फटकार बतलाओ, निष्ठुर विधिको अपने कामसे काम, वह वज्रहृदय किसकी सुनता है!

हा पण्डित गणपतिजी! आपकी वह भोली भाली प्रसन्न-वदन मूर्ति, आंखोंमें फिर रही है, आपकी वह मधुर और गम्भीर ध्वनि, कानोंमें गूंज रही है! आपका वह विचित्र भाषण, परिहास-प्रियता, विदग्ध-गोष्ठी, शास्त्रचर्चा, निष्कपट व्यवहार और वह प्यारी प्यारी, मीठी मीठी बातें, रह रहकर याद आ रही हैं!

हा भगवन्! यह कैसा इन्द्रजाल है! यह देखो हृदयके अन्दर और आंखोंके सामने फिर रहे हो, पर हाथ नहीं आते! पास बैठे बातें कर रहे हो, और आर्त-विलाप नहीं सुनते! अपनी सब कुछ कह रहे हो, पर हमारे करुण-क्रन्दनपर तनिक कान नहीं धरते! खूब, हमारे प्राणोंपर आ बनी है और आपको परिहासकी सूझी है! बस बहुत हो चुकी, अब दया करो, शीघ्र आओ, या अपने पास बुलाओ, इस दशामें तो नहीं रहा जाता!

पण्डितजीका परिचय

श्रीपण्डितजी, राजपूताना बीकानेर-राज्यान्तर्गत चूरू नामक प्रसिद्ध नगरके निवासी थे। आप पाराशरगोत्रीय पारीक ब्राह्मण थे। पिताका शुभ नाम श्री पण्डित भानीराम वैद्य था। पण्डित भानीरामजी ईश्वरके सच्चे भक्त और पक्के आस्तिक ब्राह्मण थे। पिताका यह प्रधान गुण पण्डित गणपतिजीमें भी विशेषतया वर्तमान था।

वह ईश्वरभक्त और आस्तिक परले दर्जेके थे, भगवद्भक्ति उनके व्याख्यानोंका मुख्य विषय था, इस विषयपर बोलते हुए वह स्वयं भी गद्गद हो जाया करते थे और श्रोताओंको भी पुलकित और चित्रलिखित-सा बना देते थे। नास्तिकता-वादको वह परिहासमें भी सहन नहीं कर सकते थे। वेदोंकी अपौरुषेयता और ईश्वर-सिद्धिपर भाषण करते हुए उनकी वाणीमें अलौकिक बलका संचार और प्रतिभामें अद्भुत विकास होने लगता था। इन विषयोंका प्रतिपादन वह बड़ेही हृदयङ्गम प्रकारसे युक्ति-प्रमाणद्वारा सफलता-पूर्वक किया करते थे। अनेक बार कई प्रसिद्ध साइन्टिस्ट नास्तिकोंके साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ, और विजयी हुए।

व्याख्यानशक्ति—उनमें ग़ज़बकी थी। बड़े-बड़े गहन विषयों पर १५-१५ सहस्र श्रोताओंकी उपस्थितिमें चार-चार घन्टे तक, हृदयहारिणी ओजस्विनी भाषामें, धाराप्रवाह भाषण करना उनके लिये साधारण बात थी। व्याख्यानमें फ़ेल होना वह जानते ही न थे, उत्सवोंपर व्याख्यानके लिये उन्हें प्रायः ऐसा अवसर दिया जाता था कि जब सभा भङ्ग होनेका समय हो, श्रोता बैठे-बैठे और सुनते-सुनते उकता चुके हों, और उठनेकी फ़िक्रमें हों; परन्तु ज्योंही कि पण्डितजी उठते, सब लोग फिर जमकर बैठ जाते, और घन्टोंतक सुनते रहते। पण्डितजीके व्याख्यानके पश्चात् फिर किसी दूसरे वक्ताका रंग जमना ज़रा मुश्किल होता था।

शास्त्रार्थ—करनेका प्रकार भी उनका बड़ा विचित्र और प्रभावशाली था। भाषणमें अपने प्रतिपक्षीके प्रति किसी प्रकारका कटु

प्रयोग या असद् व्यङ्ग्य न करते थे, किन्तु उस समय भी इनका व्यवहार बड़ा प्रेमपूर्ण और सद्भाव-भरित रहता था, इस सौजन्यके कारण भिन्नधर्मी प्रबल प्रतिपक्षी भी इनके मित्र बन जाते थे। गत वर्ष महाविद्यालय ज्वालापुरके उपोत्सवपर रुड़कीके सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेन्ड जे० बी० फ्रैंक साहब बी० ए० से पण्डितजीका शास्त्रार्थ हुआ। पादरी साहब अपना पक्ष समर्थन नहीं कर सके; पर पण्डित-जीके मधुर भाषण, सद्व्यवहार और पाण्डित्यका पादरी साहबपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उनके गाढ़े मित्र बन गये। पण्डितजीकी मृत्युपर पादरी साहबने एक अंग्रेजी पत्रमें बड़ा ही शोकसम-वेदना और करुणापूर्ण पत्र प्रकाशित कराया है, जिसके प्रत्येक शब्दसे प्रेम और प्रतिष्ठाका भाव प्रकट हो रहा है।

शास्त्रार्थमें पंडितजी अपने प्रतिपक्षीको छल, जाति या निग्रहस्थान द्वारा निगृहीत करनेकी कभी चेष्टा न करते थे। परन्तु यदि कोई वैतण्डिक विवादी, धूर्ततासे अपना सिक्का बिठाना चाहता, तो फिर उसकी ख़बर भी ऐसी लेते थे कि आयुभर याद करे।

जिन्हें रात-दिन व्याख्यान देने और शास्त्रार्थ करनेका काम रहता है, ऐसे कई प्रसिद्ध उपदेशकोंको भी देखा गया है कि किसी प्रबल प्रतिपक्षीसे सामना होनेपर, लम्बी-लम्बी नियमावलि निर्माण करके या पूरी न होनेवाली कोई शर्त लगाकर शास्त्रार्थ टालनेकी कोशिश किया करते हैं। परन्तु पण्डितजी उलटा ऐसे शिकारकी तलाशमें रहते थे। जितने ही प्रबल प्रतिपक्षीका सामना हो, उतना ही उनका उत्साह और जोश बढ़ता था, स्मरणशक्ति तीव्र और

प्रतिभा प्रदीप्त हो उठती थी, वास्तवमें उनकी गुणगरिमा, अगाध वैदुष्य और प्रत्युत्पन्न-मतिताका परिचय ऐसे ही समय मिलता था जब कि किसी प्रबल प्रतिभटका मुक़ाबला हो।

एक बार वह कश्मीर (श्रीनगर) में गये हुए थे। दैवात् उन्हीं दिनों वहां काशीके सुप्रसिद्ध वावदूक और असाधारण संस्कृतभाषण-पटु पादरी 'जानसन साहब' भी जा पहुंचे। पादरी साहबने अपने स्वभावानुसार कश्मीरके पण्डितोंको शास्त्रार्थके लिये ललकारा और 'हिन्दूधर्मकी निःसारता' तथा 'संस्कृतभाषाकी अपूर्णता' का अपना पुराना रटा हुआ राग अलापना शुरू कर दिया।

शास्त्रार्थकी नई प्रक्रियासे अनभिज्ञ कश्मीरके पुराने फ़ैशनके पण्डित लोग, पादरी साहबको परास्त करनेका साहस न कर सके, मजबूरी समझकर चुप हो रहे। इसपर पादरी साहबकी ओर बन आई, और वह महाराजाधिराज कश्मीरके—(जो उन दिनों श्रीनगरमें ही विराजमान थे) पास पहुंचे कि 'या तो अपने पण्डितोंसे मेरा शास्त्रार्थ कराइये, नहीं तो मुझे विजय-पत्र प्रदान कीजिये'—

परन्तु जब महाराजा साहबकी प्रेरणासे भी पण्डित-मंडल शास्त्रार्थ करनेको उद्यत न हुआ और प्रतिज्ञानुसार महाराजा साहब पादरीको विजयपत्र देनेका वचन दे चुके, और इसकी ख़बर पंडित गणपतिजीको मिली तो वह कश्मीरके प्रधान पंडितोंसे मिले और कहा कि 'मुझे महाराजा साहबके पास ले चलिये; आप सबका प्रतिनिधि बनकर मैं पादरीसे शास्त्रार्थ करूंगा'। जब पादरी साहब-

को इसका पता चला तो बहुत सटपटाये, क्योंकि वह पण्डितजीको अच्छी तरह जानते थे, और कहने लगे कि 'मेरा शास्त्रार्थ तो कश्मीरके पण्डितोंसे ठहरा है, इनसे नहीं'। पर पादरीसाहबकी यह चालाकी चल न सकी और उन्हें महाराजा साहबके सभापतित्वमें, एक बड़ी भारी सभाके बीच पंडितजीसे शास्त्रार्थ करना ही पड़ा। पादरी साहबको पंडितजीने ऐसा छकाया कि अबतक याद करते हैं। शास्त्रार्थ करते समय साहब ऐसे घबराये कि संस्कृत भूलकर हिन्दी बोलने लगे, यह लीला देखकर सभापति और सभ्य जन अपने हास्यको रोक न सके! पादरी जी न अपना पक्ष समर्थन कर सके, न पण्डितजीके प्रश्नोंका ही कुछ समाधान कर सके! निदान 'विजयपत्र' की जगह विशुद्ध 'पराजय' पादरी साहबके पल्ले पड़ी और आशाके विरुद्ध क्षणभरमें 'विजेता' के स्थानमें 'विजित' बनकर साहब बहादुरको कश्मीरसे कूच करना पड़ा। सुना है, इस बने-बनाये खेलके बिगड़नेका उन्हें अबतक अफ़सोस है। गुणज्ञ महाराजा साहबने अपने यहांके नियमानुसार बड़े आदर सत्कारपूर्वक पण्डितजीको विदा किया, और अनुरोध किया कि कभी फिर भी यहां पधारिये।

बहुत दिनोंके बाद, इस बार फिर पण्डितजी, कश्मीर जानेका विचार कर रहे थे कि उस बड़े कश्मीर (स्वर्गलोक) की महायात्राने यह विचार बीचमें ही दबा दिया।

पण्डित गणपतिशर्मा, आर्यसमाजके अनुयायी थे, इसलिये उन्हें कभी-कभी सनातनी पण्डितोंके साथ भी शास्त्रार्थ करना

पड़ता था, इस प्रकारके कई शास्त्रार्थ, महाराजाधिराज झालरापाटन, धार और देवास आदिके सभापतित्वमें समय समयपर हुए हैं।

पण्डितजीमें प्रतिभा और स्मरणशक्ति बड़ी विचित्र थी। पहलेसे बिना किसी विशेष प्रकारकी तय्यारी किए या नोट लिए, निर्दिष्ट गहन विषयोंपर अव्याहतगतिसे वह घन्टों बोल सकते और शास्त्रार्थ कर सकते थे।

स्वभावके वह बहुत सरल और निरभिमान थे, परन्तु मक्कार और दुरभिमानी जनोंके (भारतेन्दुके शब्दों में) 'नक़द दामाद' थे। चाहे कोई कितना ही बड़ा आदमी हो, वह यदि उनपर अपनी श्रीमत्ता या लीडरीका प्रभाव डाल कर दबानेकी कोशिश करता तो बेतरह उसकी ख़बर लेते थे। प्राचीन भावोंके पोषक और अपने विचारोंके बड़े दृढ़ थे। समयके प्रवाहमें तृणकी तरह बहनेवाले, प्राचीनता-विनिन्दक, नई रोशनीके परवाने, बाबू-सम्प्रदायसे उनकी अक्सर नहीं बनती थी। वह एक प्राचीन आदर्शके स्पष्ट-वक्ता ब्राह्मण थे। आजकल सभा-सोसाइटियोंमें काम करनेवाले लोगोंका, प्रायः जिस विसर्प-रोगने ग्रस रखा है, उस लीडर बननेकी लालसा और शोहरत-पसन्दीके रोगसे वह रहित थे। अपने नामकी धूम मचाने और टका कमानेसे उन्हें घृणा थी।

ग्रामोफ़ोनकी तरह पेटमें भरे हुए दो एक पेटेन्ट लेकचर उगलनेवाले, कई लेकचरर देखते-देखते थोड़े दिनोंमें ही हज़ारोंके स्वामी और श्रीमान् बन बैठे, और वह वैसेके वैसे ही बने रहे! कष्ट उठाया, पर आमरण अपने अयाचित-व्रतको न भुलाया,

परगुणासहिष्णु प्रभुताप्रिय लीडरम्मन्य दुर्जनोंके निन्दावाद और मिथ्यापवादका लक्ष्य बने, पर पाखण्डियोंकी हां में हां मिलाकर अपने करारेपनको दाग़ नहीं लगाया, दुःख उठाया, पर धनमदान्धोंके आगे हाथ नहीं फैलाया !

पण्डितजीका चरित्र अपने उदात्त उदाहरणसे भर्तृहरिकी इस उक्तिकी सत्यताका प्रमाण दे रहा है—

'अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थाः
तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।—'

खेद है कि एक ऐसा विद्वद्रत्न आर्यजातिसे असमयमें (सिर्फ़ ३९ सालकी उम्रमें) उठ गया, जिसकी जगहको पूरा करनेवाला मुश्किलसे पैदा होगा।

पण्डितजीके कोई सन्तान नहीं, उनकी धर्मपत्नी और पुत्रका देहान्त कई वर्ष हुए, होगया था। वृद्धा माता और एक छोटा भाई, चूरूमें हैं।

पण्डितजीने कुछ दिनोंसे अपना प्रधान स्थिति-स्थान (हेड-क्वार्टर) ज्वालापुर महाविद्यालयको बना लिया था। महाविद्यालयकी उन्नतिके लिये वह विशेषरूपसे सचेष्ट और प्रयत्नशील थे।

महाविद्यालय-सभाने पण्डितजीकी यादगारमें दस हज़ार १००००) रुपयेकी लागतसे एक 'गणपति-भवन' बनाना निश्चित किया है। *

* शोक है कि कार्य्यकर्ताओंकी अकर्मण्यतासे दरिद्रके मनोरथकी तरह यह पूरा न हो सका—गणपति-भवन न बन सका।

स्थावरमें जीव-विषयक विचार

श्रीगणपतिशर्माजीका वह अन्तिम और अपूर्व शास्त्रार्थ जिन महाशयोंने स्वयं सुना था वे तो अबतक उस समयको याद करके सिर धुन रहे हैं, और यह सोचकर कि अब ऐसा अवसर फिर इस जन्ममें नहीं मिलेगा, अपनेको धन्य समझ रहे हैं कि सौभाग्यसे ही यह सुयोग हमें प्राप्त होगया जब कि आर्यसमाजके दो अप्रतिम-तार्किक, निरुपम-वक्ता, अद्वितीय-शास्त्रार्थकर्त्ता, अलौकिक-प्रतिभाशाली और अपने विषयके अपूर्व-विद्वान् तथा प्रतिवादि-भयङ्कर वाग्भट उपदेशकप्रवरोंके संवाद-संगर देखने और श्रवणसुधावर्षी वाग्विलास सुननेका अलभ्य लाभ मिल गया।

आ हा! सचमुच ही वह कैसा विचित्र समय और पवित्र अवसर था। महाविद्यालयकी सुरम्य भूमिके समीप विशाल बागमें कुदरती शामियानेके नीचे हज़ारों मनुष्योंका समाज जुटा है, एक ओर पीतवस्त्रधारी ब्रह्मचारि-समूह, पंक्ति बांधे शान्तभावसे, पर उत्कर्ण हुआ, अपने आसनपर आसीन है, दूसरी ओर गैरिक-रागरञ्जित-वेष-विभूषित, पर वैराग्यसम्पन्न अनेक सम्प्रदायोंके साधु महात्मा जन—जिन जीवन्मुक्तायमानोंको विवादसंगर-दिदृक्षा और शास्त्रार्थ-शुश्रूषा खींच लाई है, आसन मारे विराजमान हैं।

शेष श्रोतृमण्डल फ़र्शपर परा बांधे डटा हुआ है, कोई नोट लेनेके लिये चाकू निकाले पेन्सिल गढ़ रहा है, कोई काग़ज़के
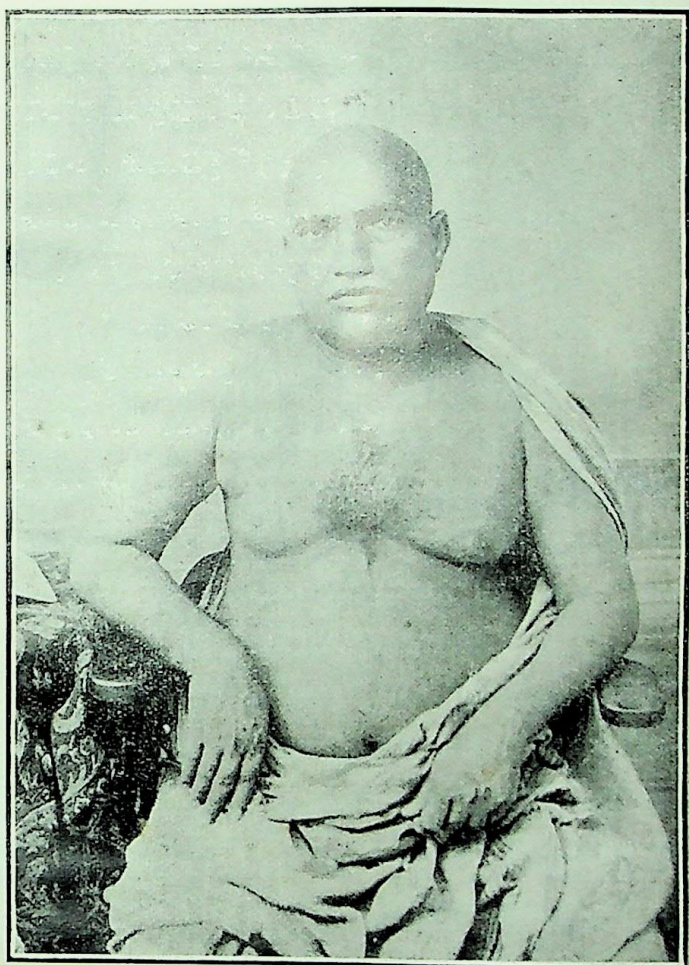
स्वामी दर्शनानन्दजी

[जिस शास्त्रार्थकी ४८ पृष्ठपर चर्चा है वह पंडित श्रीगणपति शर्मा तथा इन्हीं स्वामी दर्शनानन्दजीके बीच हुआ था]

दस्ते सँभाल रहा है, कोई पाकट-बुकके पन्ने पलट रहा है, कोई किसीसे काग़ज़ पेन्सिल मांग रहा है। कोई बार-बार घड़ी निकाल-कर देख रहा है। कोई वक्त पूछ रहा है। शास्त्रार्थ शुरू होनेमें अभी कुछ देर है, पर श्रोता अभीसे उतावले-बेसब्रे हो रहे हैं, उन्हें एक एक मिनट भारी हो रहा है, बैठे बैठे गर्दन उठा उठाकर देख रहे हैं कि पण्डितजी और स्वामीजी आते तो नहीं !

निदान जिस घड़ीका इन्तज़ार था वह आई, और सुनने वालोंकी दिली कशिश, इन्तज़ारके बढ़े हुए तारमें खींचकर वाग्भट-वीरोंकी जुगल जोड़ीको सभामण्डपमें ले ही आई।

ठीक निर्दिष्ट समयपर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ, और जिस प्रकार हुआ, वह आगे देखिये। परन्तु प्रिय पाठक ! इन शब्दोंमें वह अलौकिक आनन्द कहां है जो उस समय वक्ताओंके धाराप्रवाह मधुर भाषणों से टपक रहा था। यह समझिए कि सुधारस-निष्यन्दी, भाषण-नद, बड़े प्रबल वेगसे बह रहा था, जिसमें ग़ोते खाते हुए, श्रोतृजन भी साथ साथ बहे जा रहे थे। कई महाशय जो उस समृद्धवेग नदको काग़ज़ पेन्सलके छोटे छोटे पात्रोंमें भरना चाहते थे, देखते रह गये ! क्योंकि दरियाको कूज़ेमें बन्द करना, हर-एकका काम नहीं है।

हमारे मित्र पण्डित रलारामजी 'ब्रह्म' की लेखन-पटुता और आशु-ग्राहिता प्रशंसनीय है कि उन्होंने उस प्रबल प्रवाहमेंसे इन रले-हुए मोतियोंको रोलकर इकट्ठा कर लिया, और उनसे यह सुन्दर कण्ठा बनाकर प्रस्तुत कर दिया, जो प्रिय पाठकोंके कमनीय-कण्ठमें सादर समर्पित है,

इस शास्त्रार्थ-मौक्तिकमाला-निर्माणका सारा श्रेय, पण्डित रलारामजीको ही है, इसके लिये पाठकोंको उनका ही कृतज्ञ होना चाहिये।

'भारतोदय' अपने पण्डितजीकी इस अन्तिम यादगारको सुरक्षित दशामें सर्वसाधारणके सन्मुख रखकर, बड़ा हर्ष अनुभव कर रहा है।

शास्त्रार्थकी पाण्डुलिपि नोटोंके आधारपर, पण्डितजीके सामने ही प्रस्तुत हो चुकी थी। जब अन्तिम बार वह पंजाब जा रहे थे, निवेदन किया था कि महाराज ! इसे सुनकर तसदीक़ कर दीजिए; कुछ भाग सुना, और कहा कि अबकी बार आकर सब सुनेंगे, पर अफ़सोस ऐसे गये कि अबतक न लौटे।

विचार था कि वादी प्रतिवादी, दोनों महोदयोंको एक-बार सुनाकर 'शास्त्रार्थ' प्रकाशित किया जाय, किन्तु दुःख है कि दुर्दैवने यह इरादा पूरा न होने दिया। ईश्वरकी कृपा है कि 'प्रतिवादी' अभी मौजूद हैं, पर हाय 'वादी' को कहांसे लायें ? अब तो यह कहनेका मौक़ा भी नहीं रहा—

'लोग कुछ पूछनेको आये हैं,
अहले-मय्यत जनाज़ा ठहरायें।'

ओह ! संसार भी कैसा संसरणशाली और परिवर्तनशील है ! कुछ ठिकाना है। यारो, कलकी बात है कि हम तुम सब अपूर्व शास्त्रार्थ-नदके प्रवाहमें ग़ोते लगा रहे थे, वाद-प्रतिवादकी ज़बरदस्त लहरें, कभी इस किनारे और कभी उस किनारे उठा उठा-

कर पटक रहीं थीं, किसी एक तटपर जमकर बैठना थोड़ी देरके लिये भी मुश्किल था, पर जिस ओर जाते, अपूर्व आनन्द पाते थे, और यही चाहते थे कि इसी प्रकार हर्ष-पयोधिमें हिलोरें लेते रहें।

आहा वह समय, अबतक आंखोंमें फिर रहा है, वक्ताओंकी वह स्निग्ध-गम्भीर ध्वनि कानोंमें गूंज रही है, वह दिव्य-दृश्य हृदयपर अबलों अङ्कित है, जिसे स्मृतिकी आंखें अच्छी तरह देख रही हैं, पर देखो तो कुछ भी नहीं !

'ख्वाब था, जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था।'

प्रत्यक्ष, परोक्ष, और वर्तमान, अतीत होगया, साक्षात् अनुभवका विषय स्मृतिशेष रह गया, जिसे आंखोंसे देख और कानोंसे सुन रहे थे, वह सिर्फ़ सोचने और याद करनेके लायक़ रह गया ! आह ऐसा समय क्या कभी इस जन्ममें फिर देखनेको मिलेगा ! उस शान्त पावन मूर्तिके फिर भी दर्शन हो सकेंगे ! इन कानोंसे वे विचित्र बातें फिर सुन सकेंगे ? किसीने सच कहा है कि—

—मनुष्य अपने चित्त-पटपर नानाभाव और अनेक विचार-रूपी रंगोंसे, मनोरथ-चित्र बनाकर तैयार करता है, और विधि, एक नादान बच्चेकी तरह हाथ फेरकर उसे मेट देता है !

'मेरे मन कुछ और है कर्त्ताके मन और'

आगामी वर्षके लिये जिन जिन महोदयोंके साथ जिस जिस विषयपर शास्त्रार्थ और संवाद करनेका प्रोग्राम पण्डितजी बना रहे थे, वह यों ही रह गया। सुननेवालोंके दिलकी दिलहीमें रह गई, अफ़सोस !

'यह आरज़ू थी, तुझे गुलके रू-बरू करते,
हम और बुलबुल बेताब गुफ्तगू करते।'

होनेको अब भी सब कुछ होगा, उत्सव होगा, व्याख्यान होंगे और शास्त्रार्थ भी होगा, सभा जुटेगी, श्रोता आवेंगे, कहने-वाले कहेंगे, सुननेवाले सुनेंगे, वक्ताकी वाणीसे निकले हुए शब्द श्रोताओंके इस कानसे उसमें होकर निकल जायँगे, 'पल्ला-झाड़' कथा सुनकर उठ खड़े होंगे—

'कहने सुननेकी गर्म-बाज़ारी है,
मुश्किल है मगर असर पराये दिलमें।
ऐसा सुनिये कि कहने वाला उभरे,
ऐसी कहिये कि बैठ जाए दिलमें॥'

दिलमें बैठनेवाली बात कहनेवाला मिलना मुश्किल है। अनेक शास्त्रार्थ देखे, बहुतेरी वक्तृताएं सुनीं, पर ऐसा प्रतिभाशाली ऊहवान् और मधुरभाषी शास्त्रीय विषयोंका सुवक्ता, विचित्र व्याख्याता हमारे देखनेमें तो आया नहीं। आगे आशा भी नहीं है-

"मानो न अलीक भूमिकम्प ही से कांपता है,
विद्युदादि-वेगों से पहाड़ हिलता नहीं;
भानुका प्रकाश भव्य कारण विकाश का है,
तारोंकी चमक पाय 'पद्म' खिलता नहीं।
'शङ्कर' रबोली कड़ी रेती रेत डालती है,
क्षुद्र छुरी छैनियों से हीरा छिलता नहीं;
हाय गणपति की अनठी वक्तृता के बिना,
अन्य उपदेश सुने स्वाद मिलता नहीं॥'
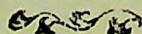
श्रीहृषीकेश भट्टाचार्य्य शास्त्री

श्रीहृषीकेश भट्टाचार्य शास्त्री

कुछ दिनोंसे संस्कृत-साहित्यपर कुछ ऐसी विपत्ति आ रही है कि कुछ कहा नहीं जाता। यह दुःख सहा नहीं जाता कि उसे असहाय दशामें छोड़कर एक-एक करके उसके रक्षक विद्वान् संसारसे उठे जा रहे हैं, और पीछे उनकी जगहको सँभालने-वाला नज़र नहीं आता। संस्कृतानुरागी समाजके लिये यह बड़े दुर्भाग्यकी बात और चिन्ताका विषय है। बहुत थोड़े समयमें, देखते देखते एकके पीछे एक महामहोपाध्याय श्रीगङ्गाधर शास्त्री, महामहोपाध्याय श्रीभागवताचार्य, श्रीअप्पा शास्त्री, और श्रीहृषीकेश शास्त्री इस प्राकृत जगत्को त्यागकर देव-लोकमें जा विराजे। इनमें से पहले दो महानुभावोंका संक्षिप्त चरित यथासमय 'सरस्वती'में प्रकाशित हो चुका है। अन्तिम महोदयका यह पवित्र चरित 'सरस्वती'-भक्तोंकी भेंट है।

पण्डित श्रीहृषीकेश शास्त्रीकी जन्मभूमि, ज़िले चौबीस-परगनेमें, कलकत्तेसे १२ कोस उत्तरकी ओर गङ्गाके किनारे, सुप्रसिद्ध भाटपाड़ा नगरी है। अबसे कोई दो सौ वर्ष पूर्व नारायण-नामक इनके आदिपुरुष, जो एक अलौकिक सिद्धि-सम्पन्न महात्मा पुरुष थे, वहां आकर बस गये थे। थोड़े समयमें ही इनके वंश-विस्तारसे वह जन-पद व्याप्त हो गया। केवल विस्तृतिके कारण ही नहीं, किन्तु सदाचार, ब्रह्मवर्चस, न्याय, स्मृति, पुराण,

तन्त्र आदि समस्त शास्त्रोंके पाण्डित्य, धर्म-निष्ठा, तथा अन्य ब्राह्मणोचित सद्गुणोंके कारण इस वंशने अत्यधिक प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त की। इन्हीं गुणोंसे मोहित होकर बङ्गालके कुलीन ब्राह्मणोंने एतद्वंशीय ब्राह्मणोंको आग्रहपूर्वक अपना 'दीक्षा-गुरु' बनाया। इससे 'गुरुता' ही इस वंशवालोंकी जीविका हो गई। इस गये गुज़रे ज़मानेमें भी इन दीक्षा-गुरुओंमें अनेक ब्राह्मणोचित सद्‌गुण वर्त्तमान हैं। अस्तु।

अनेक-शाखा-समन्वित इसी सुप्रसिद्ध नारायण-वंशके पण्डित-परम्परालंकृत एक शाखामें १७७२ शकाब्दके ज्येष्ठ मासकी दशमी तिथिको, इस चरितके नायक श्रीमान् हृषीकेशने जन्म लिया। इनके पितामह श्रीमान् आनन्दचन्द्र शिरोमणि अनेक शास्त्रोंके पारदर्शी विद्वान, सुकवि और बङ्गालके पण्डितोंमें सुप्रसिद्ध थे। इनके पिता श्रीमधुसूदन शर्म्मा स्मृतिरत्न स्मृति-शास्त्रके अध्यापक और चचा यादवचन्द्र शर्मा तर्करत्न नवीन न्यायके प्रसिद्ध विद्वान् थे। पितृकुलकी तरह इनका मातृकुल भी परम प्रतिष्ठित और विद्वज्जनालङ्कृत था। आयुका पांचवां वर्ष बीतनेपर बालक हृषीकेशका यथाविधि विद्यारम्भ हुआ। एक वर्षमें ही बङ्गाक्षरोंके लिखने-पढ़नेमें निपुणता प्राप्त करके इन्होंने संस्कृत-भाषाका पद्मनाभ-विरचित 'सुपद्म-व्याकरण' पढ़ना प्रारम्भ किया। आयुके तेरहवें वर्षमें हृषीकेशजीने व्याकरणमें अच्छी व्युत्पत्ति प्राप्त कर ली। बिना पढ़े हितोपदेशादि बाल-पाठ्य संस्कृत ग्रन्थ समझने और गद्य-पद्यात्मक संस्कृत वाक्य-रचनामें

यह कौशल दिखलाने लगे। इसी अवस्थामें इन्होंने अनुष्टुप् छन्दमें बहुत सी कविता भी रची। इसी समय बड़ी घूमधामसे इनका पाणिग्रहण भी हो गया। पर पढ़ने-लिखनेका क्रम जारी रहा। इसके पश्चात् चार वर्षतक अपने पितामहसे यह काव्य, अलङ्कार और छन्दःशास्त्रके ग्रन्थ पढ़ते रहे। सत्रह वर्षकी आयुमें इन्होंने नवीन न्याय पढ़ना शुरू किया, जिसे शुरूमें एक वर्ष महामहोपाध्याय श्रीयुत राखालदास न्यायरत्नसे पढ़कर, फिर यह अपने चचा पण्डित यादवचन्द्र तर्करत्नके शिष्य हुए। न्यायशास्त्रके पाठके समय ही बीच बीचमें, स्मृति-शास्त्रके सुप्रसिद्ध अध्यापक अपने पिता श्रीमधुसूदन शर्मा स्मृतिरत्नके पास नवीन स्मृति ग्रन्थोंका पाठ भी सुनते रहे। इसी व्यापारमें तीन-चार वर्ष बीत गये। अब इसे अदृष्टकी प्रबलता कहो, या भवितव्यताका खेल समझो, या तक़दीरकी खूबी मानो कि इन्हीं दिनों सहसा स्वतः बिना किसी बाह्य-प्रेरणाके अङ्गरेजी पढ़नेकी ओर इनका चित्त चला, और बड़ी तेज़ीसे चला। आजकल अङ्गरेजी पढ़ना कोई बात नहीं समझी जाती। पर उस समय ज़माना ही और था। खासकर कुलीन ब्राह्मण अङ्गरेजोके नाम कानोंपर हाथ धरते थे और उसके पढ़नेको छठा महापातक समझकर दूर भागते थे। विशेषकर हृषीकेशजीके 'दीक्षा-गुरु' कुटुम्बके लिये तो यह बात बड़े ही कलङ्ककी थी। हृषीकेशजीकी यह 'कुप्रवृत्ति' देखकर इनका संस्कृत-कुटुम्ब बड़ा घबराया। सारे कुटुम्बको यद्यपि हृषीकेशजीसे बड़ा प्रेम था, उसने उनके लालन-पालन और इच्छापूर्त्तिमें कोई

उपाय उठा न रक्खा था, पर पतित होनेकी शङ्का और प्रबल लोकापवादके भयसे इस नई प्रवृत्तिको रोकनेकी चेष्टा इनके कुटुम्बको करनी ही पड़ी। कुटुम्बियोंने हर तरहसे समझा-बुझाकर हृषीकेशको अंगरेजी पढ़नेसे रोका। पर :—

'क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्'

—अभीष्ट अर्थकी ओर झुके हुए मन और नीचेकी तरफ ढले हुए जलकी गतिको कौन है जो फिर उलटा फेर सके ?

गुरु-जनोंकी आज्ञासे कुछ समयतक अंगरेजी पढ़नेकी उस प्रबल प्रवृत्तिको रोककर हृषीकेशजी पूर्ववत् अनन्य मनसे संस्कृत पढ़नेमें लग गये सही, पर उस इच्छाको वह बिलकुल छोड़ न सके। थोड़े दिनोंके पीछे, ज़बरदस्ती रोकी हुई उस प्रवृत्तिका प्रबल प्रवाह, आंसुओंकी झड़ीकी तरह, फिर वेगपूर्वक बह निकला। इस बार इन्होंने एक और उपाय ढूंढ़ निकाला। उसी गांवके रहनेवाले जयगोपाल वन्द्योपाध्याय नामक एक महाशय हुगली कालेजमें पढ़ते थे। उन्हें उनके पाठ्य संस्कृत ग्रन्थ पढ़ानेके बहाने, बदलेमें गुप्तरूपसे आप उनसे अंगरेजी पढ़ने लगे। इस ढंगसे यह चुपचाप तीन वर्षतक अंगरेजीका अभ्यास करते रहे। इतनेमें इन्होंने एंट्रेन्सकी योग्यता प्राप्त कर ली। अन्य विद्यार्थी निरन्तर १२ वर्षके अध्ययनसे जो फल पाते हैं वह इन्होंने तीन ही वर्षमें प्राप्त कर लिया। पर यह 'चोरी' भी बहुत दिनोंतक छिपी न रह सकी। आखिरको ज़ाहिर हो ही गई। फिर चारों ओरसे निन्दा-बाण चलने लगे, जिनसे बेतरह घबराकर इनके कुटुम्बियोंने इन्हें एकान्तमें

समझाना, डराना, धमकाना और बराबर लानत मलामत करना शुरू किया। इस दबावसे खिन्न होकर हृषीकेशजी संस्कृताध्ययनसे पराङ्मुख होकर किंकर्त्तव्य-विमूढ हो बैठे। इसी बीचमें इनके वह प्रच्छन्न अंगरेज़ी-अध्यापक जयगोपाल, बी० ए०की परीक्षामें अनुत्तीर्ण होकर लज्जा और पश्चात्तापके कारण घर छोड़ कहीं पंजा-बकी ओर चल निकले। इस दुघटनासे हृषीकेशजीके दो वर्ष बड़ी मुसीबतमें कटे। एक ओर अंगरेजी पढ़नेकी प्रबल इच्छाका व्याघात और दूसरी ओर संस्कृत-शिक्षाके अनादरसे गुरुजनोंकी फटकार। इन दो सन्तापोंने मिलकर इन्हें व्याकुल कर दिया। इस दशामें इन्हें घरमें रहना भारभूत प्रतीत होने लगा। इसलिए यह भी सन् १८७२ ई० में छिपकर बिना किसीसे कहे सुने, अपने एक बाल-मित्रके साथ, पंजाबको चल दिये। उन दिनों वह पूर्वोक्त जय-गोपाल महाशय गुजरांवालेके मिशन स्कूलमें सेकण्ड मास्टर हो गये थे। सो यह भी वहीं उनके पास जा पहुंचे। जयगोपाल इन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए, और बड़े आरामसे एक महीनेतक इन्हें अपने पास ठहराये रहे। उन्हीं दिनों पंजाब-विश्वविद्यालय-ने पहली बार संस्कृत-परीक्षा लेनेकी घोषणा की। सो जयगोपाल-जीने इन्हें परीक्षासे तीन दिन पहले अपने खर्चसे 'प्राज्ञ' परीक्षा देनेके लिये लाहौर भेज दिया। लाहौर पहुंचकर यह पंजाब महा-विश्वविद्यालय-सभाके प्रधान सभ्य, श्रीयुत बाबू नवीनचन्द्रराय और श्रीराधाकृष्ण गोस्वामीसे मिले। उन्होंने इनकी परीक्षा लेकर सम्मति दी कि तुम्हारी योग्यताके आगे प्राज्ञ परीक्षा तुच्छ

है ; इस वर्ष शास्त्रि-परीक्षाका प्रबन्ध नहीं किया गया ; इसलिए तुम इस वर्षकी सबसे बड़ी 'विशारद' परीक्षा दे डालो। अगले साल शास्त्री कर लेना। हृषीकेशजीने धन्यवादपूर्वक कहा कि मैंने अबतक न तो विशारद-परीक्षाकी नियमावली ही देखी है, न उसके पाठ्य-ग्रन्थ ही मेरे पास हैं। परीक्षा प्रारम्भ होनेमें सिर्फ एक ही दिन बीचमें है। इसके अतिरिक्त फ़ीस दाखिल करनेको भी मेरे पास कुछ नहीं है। यह सुनकर उक्त दोनों महाशय बोले कि इसकी चिन्ता मत करो। यह लो, पुस्तकें हमारे पाससे ले जाओ और फ़ीस भी दाखिल हो जायगी। तुम नियत समय-पर परीक्षा-भवनमें उपस्थित हो जाना। यह सुनकर, खुशी खुशी पुस्तकें ले, यह अपनी जगहपर लौट आये। उस दिन तमाम रात एकाग्र-मनसे पाठ्य पुस्तकें देखते-देखते ही इन्हें दिन निकल आया। दूसरे दिन केवल पहले दिन होनेवाली परीक्षाके ग्रन्थ इन्होंने देखे, उसके अगले दिन परीक्षा प्रारम्भ हो गई। तीनों दिन परीक्षा-पत्रोंके उत्तर इन्होंने अच्छे लिखे। चौथे दिनकी मौखिक परीक्षामें भी इन्हें बहुत अच्छे नम्बर मिले। परीक्षा समाप्त होनेपर उक्त दोनों महानुभावोंने इनकी संस्कृत-रचना-निपुणता और कवित्व-शक्तिपर प्रसन्न होकर कहा कि बहुत दिनोंसे हमारा विचार एक संस्कृत-मासिक-पत्र निकालनेका है। पर कोई योग्य सम्पादक न मिलनेसे अबतक पत्र प्रकाशनकी इच्छा पूरी न हो सकी। अब हमें आशा है कि आप इस कामको अच्छी तरह कर सकेंगे। यदि आप पत्र-सम्पादनके भारको ग्रहण करें

ता इस कामके लिये २५) रुपया मासिक वेतन आपको मिलेगा। इन्होंने बड़ी ख़ुशीसे यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उसी समय 'विद्योदय' पत्रका जन्म हुआ। एक मास पश्चात् परीक्षा-परिणाम भी निकल आया। हृषीकेशजी 'विशारद' हो गये। उत्तमतापूर्वक परीक्षा पास करनेके उपलक्ष्यमें इन्हें १२) रुपया मासिक वज़ीफ़ा मिलने लगा। फिर यह गुजरांवाले लौटकर न गये। लाहौरमें रहकर पत्र-सम्पादन और शास्त्रि-परीक्षाकी तैयारी करने लगे। साथ ही अंगरेज़ीमें एंट्रेन्सकी पाठ्य पुस्तकें भी देखते रहे। एक वर्षके पश्चात् इन्होंने एक साथ दोनों परीक्षायें—शास्त्री और एंट्रेन्स—दे डालीं। और दोनों परीक्षाओंमें पास हो गये।

सबसे पहले शास्त्री

उस साल शास्त्रि-परीक्षामें सिर्फ़ एक यही पास हुए थे। इस हिसाबसे भारत भरके शास्त्री-उपाधि धारियोंमें सबसे प्रथम 'सरकारी शास्त्री' श्रीमान् हृषीकेश शास्त्री ही हुए। क्योंकि सन् १८७३ ईसवीमें सबसे पहले पंजाब-विश्वविद्यालयने ही शास्त्रि-परीक्षा जारी की। उस वर्ष सब परीक्षार्थियोंमें केवल यही उत्तीर्ण हुए। सन् १८७३ ईसवीका पंजाब-विश्वविद्यालयका कैलेण्डर इस बातका साक्षी है। पंजाब-विश्वविद्यालयके अनुकरणमें कलकत्ता-विश्वविद्यालयने योग्य विद्यार्थियोंको 'शास्त्री' उपाधि देनेका प्रस्ताव उसके बहुत पीछे जारी किया।

शास्त्रि-परीक्षाकी उत्तीर्णताके उपलक्ष्यमें इन्हें १०) रुपया

इनाम और ३३) रुपया मासिक वज़ीफ़ा मिला। इसके आगे दो वर्ष तक यह एफ़० ए० की तैयारी करते रहे और परीक्षा भी दी। परन्तु उस परीक्षामें पास न हो सके। बस इतने हीमें इनकी छात्रावस्था समाप्त हो गई। इसके पश्चात् यह लाहौरके ओरियण्टल कालेज (Oriental College) में संस्कृत-प्रोफ़ेसर हो गये, और दस वर्षतक बड़ी योग्यतासे इस पदपर प्रतिष्ठित रहे। अध्यापक-दशामें विद्यार्थी और अफ़सर सब इनके कार्य्यसे बहुत सन्तुष्ट रहे।

पण्डित हृषीकेशजीकी इस प्रकार उत्तरोत्तर उन्नति और प्रतिष्ठाको देखकर भाटपाड़ेके उन धार्मिक लोगोंकी राय भी बदल गई, जिन्होंने इनके अंगरेज़ी पढ़नेपर फबतियां उड़ाई थीं और धर्मकी दुहाई देकर प्रबल विरोध प्रकट किया था। उन लोगोंने भी इनकी ईर्ष्यासे या समयके शासनके आगे सिर झुकाकर अपनी सन्तानको अँगरेज़ी पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे उस पण्डित-प्रधान भाटपाड़ेमें अंगरेज़ी पढ़े लिखे कुलीनोंकी संख्या संस्कृत-ज्ञोंकी अपेक्षा कहीं बढ़ गई।

लाहौरमें स्थितिके समय पण्डित हृषीकेश शास्त्रीको कई शोकमयी दुर्घटनाओंसे पराहत होना पड़ा। चार वर्षके भीतर ही इनके कुटुम्बमें चार मृत्यु हो गईं। पहले इनकी स्नेहमयी माताका स्वर्गवास हुआ। माताकी मृत्युसे इन्हें असह्य दुःख पहुंचा। यह शोक अभी ताज़ा ही था—चार महीने भी न बीते थे कि इनकी पत्नी भी चल बसीं। डेढ़ वर्ष पीछे प्राण-प्रिय एक-मात्र कनिष्ठ भ्राताके परलोक-गमनकी ख़बर पहुंची। इस दारुण

दुर्घटनासे इनका चित्त बिलकुल ही व्याकुल हो गया। यह घर गये और अपनी जगहपर लाहौर लौटनेका विचार छोड़ दिया। पर समझाने बुझानेसे किसी प्रकार लाहौर चले आये। लाहौर आये इन्हें अभी एक ही वर्ष बीता था कि इनके कुटुम्बके प्रधाना-वलम्ब इनके पितामहका भी स्वर्सवास हो गया। पितामह महो-दयकी अवस्था यद्यपि ८२ वर्षकी थी, पर इस अवस्थामें भी वह बड़े क्रियाशील थे। उनका अदम्य उत्साह और अप्रतिहत पुरुषार्थ नौजवानोंसे कहीं बढ़ा चढ़ा था। घर-भरकी देखरेखका भार उन्हींपर था। उनके उठ जानेसे वह सारा भार इनके वृद्ध पितापर आ पड़ा। ऐसी दशामें इन्होंने अपने कुटुम्बसे इतनी दूर लाहौरमें रहना अच्छा न समझा। लाहौरका वास छोड़कर कहीं घरके पास रहनेका विचार करने लगे। इनके इष्ट-मित्रोंने बहुत समझाया कि ऐसे दुष्प्राप्य पदको, जिसमें आगे चलकर उन्नति की यथेष्ट आशा है, छोड़ना ठीक नहीं, परन्तु इन्होंने अपनी भावी उन्नति की सब आशाओंको तिलाञ्जलि देकर पितृ-शुश्रूषा करना ही उचित समझा। इत्तफ़ाक़से उस समय कलकत्ता संस्कृत-कालेजमें एक अध्यापककी जगह ख़ाली हुई। उक्त कालेजके प्रधानाध्यापक महामहोपाध्याय महेशचन्द्र न्यायरत्नके अनुरोधसे वह पद इन्होंने स्वीकार कर लिया। नियत समयके पश्चात् यहीं इनकी पेन्शन हो गई।

पण्डित हृषीकेश शास्त्रीके जीवनके साथ पंजाब-विश्व-विद्यालयके रजिस्ट्रार और ओरियन्टल कालेजके प्रिन्सिपल डाक्टर

लाइटनरका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये इसका उल्लेख भी संक्षेपमें कर देना उचित प्रतीत होता है। डाक्टर साहब प्राच्य-विद्याओंके बड़े अनुरागी थे। अरबीके तो वह असाधारण विद्वान् थे ही, संस्कृतसे भी उन्हें बड़ा प्रेम था। उनके प्रबल उद्योगसे ही पंजाब-विश्वविद्यालय और ओरियन्टल कालेजकी नींव पड़ी थी। हृषीकेश शास्त्रीका जब लाहौरमें प्रवेश हुआ तब डाक्टर लाइटनर किसी सरकारी कामसे सीमा-प्रदेशोंमें गये हुए थे। उनकी जगह पियरसन साहब काम कर रहे थे। डाक्टर लाइटनरने लौटकर अपने कालेजमें जो एक अपरिचित बङ्गालीको काम करते देखा तो यह बात उन्हें बहुत खटकी, क्योंकि बङ्गालियोंसे उन्हें नफ़रत थी। इस कारण उन्होंने आते ही हृषीकेश शास्त्रीके साथ अनादर-व्यवहार शुरू किया। परन्तु थोड़े ही दिनोंमें यह अनादर-भाव प्रगाढ़ स्नेहमें परिणत होगया। डाक्टरसाहब पण्डित हृषीकेशजीकी अपूर्व योग्यतापर इतने मोहित हो गये कि उन्होंने इन्हें अपना अन्तरङ्ग मित्र बना लिया। अब बिना शास्त्रीजीके डाक्टर साहबको चैन न पड़ता था। शास्त्रीजीकी सम्मतिके बिना वह विद्यालय-सम्बन्धी कोई काम न करते थे। अन्तिम बार शास्त्रीजीके लाहौर छोड़नेसे ६ महीने पूर्व, डाक्टर साहब, स्वास्थ्य ख़राब होनेके कारण, दो वर्षकी छुट्टी लेकर विलायत जाने लगे तो शास्त्रीजीके लिये गवर्नमेंट-कालेजके संस्कृत प्रोफ़ेसरके पदकी ख़ास तौरपर सिफ़ारिश करते गये। वह पद कुछ दिनों बाद ख़ाली होनेवाला था। परन्तु शास्त्रीजीने उपर्युक्त कारणोंसे डाक्टर साहबके लौट-

नेसे पहले ही लाहौर छोड़ दिया। डाक्टर लाइटनर विलायतसे लौटकर अपनी जगहपर आये तो शास्त्रीजीको वहां न पाया ; तब उन्हें बहुत अफ़सोस हुआ और जल्दी ही किसी आवश्यक कार्यके बहाने वह शास्त्रीजीको लाहौर वापस लाने कलकत्ते पहुंचे। डाक्टर साहबने शास्त्रीजीको गवर्नमेंट-कालेजके संस्कृतके प्रोफ़ेसर पदके साथ ही पंजाब-विश्वविद्यालयके असिस्टेन्ट रजिस्ट्रारकी जगह देनेका भी वादा किया। ग़रज़ किसी तरह समझा-बुझाकर इन्हें वह अपने साथ लाहौर ले ही आये। पर अब लाहौर रहना और डाक्टर साहबकी कृपाका फल पाना शास्त्रीजीके भाग्यमें न बदा था, शास्त्रीजीको लाहौर पहुंचे एक महीना भी न हुआ था कि सख्त बीमार पड़ गये। अच्छे होनेकी आशा कम हो चली। यह दशा देखकर डाक्टर साहबने शास्त्रीजीकी बदक़िस्मतीपर अफ़सोस ज़ाहिर किया, और २००) रु० देकर उन्हें विदा कर दिया। परन्तु जीसे नहीं भुलाया। डाक्टर साहब पेन्शन पाकर जब विलायत गये तब भी बराबर २५) रुपया मासिक, 'विद्योदय' के प्रकाशन-का खर्च, शास्त्रीजीको भेजते रहे। जबतक डाक्टर साहब जीवित रहे यह खर्च बराबर भेजते रहे। डाक्टर साहबकी मृत्युके एक वर्ष पीछे उनके पुत्रने यह वृत्ति बन्द कर दी। यद्यपि डाक्टर साहब संस्कृतके स्वयं विद्वान् न थे, परन्तु देव-वाणीके साथ उनका यह अकृत्रिम प्रेम सहस्र बार प्रशंसनीय था। वास्तवमें डाक्टर साहबकी उदारतासे ही 'विद्योदय' निर्बाध अवस्थामें प्रकाशित होता रहा। पीछे, अर्थाभावसे उसके प्रकाशनमें शिथिलता आ गई। डाक्टर

साहबकी मृत्युपर 'विद्योदय'में जो 'महाशनिपात' नामक विशे
छपा था, वह बड़ा ही करुणोत्पादक और हृदय-द्रावक है।

शास्त्रीजीका हिन्दी-प्रेम

शास्त्रीजीका जन्म बङ्गालके एक पण्डित-कुलमें हुआ
उन्नति उर्दू भाषाके केन्द्र पंजाबमें हुई। स्वयं संस्कृतके महा
लेखक और संस्कृतके सबसे पुराने पत्रके जन्मदाता बने। तथापि-
हिन्दी भाषाके एकसे बढ़कर एक विरोधी कारणोंकी विद्यमानता
भी, हिन्दीभाषापर उनका असीम प्रेम और निरुपम कृपा थी। इन्हों-
ने कई शास्त्रीय ग्रन्थोंका हिन्दीमें अनुवाद किया और कई स्वतन्त्र
ग्रन्थोंकी रचना हिन्दीमें की। यद्यपि किसी हिन्दी-प्रधान प्रदेशमें
उनकी स्थिति नहीं रही, न हिन्दी-लेखकोंके साथ ऐसा साहचर्य ही
रहा, तथापि वह कामचलाऊ हिन्दी-अच्छी लिख लेते थे। उनके ग्रन्थ
इस बातका प्रमाण हैं। सबसे अधिक आदरणीय हिन्दीके लिये उनका
वह अहैतुक प्रेम और आदर भाव था, जो उन्हें इस दशामें भी हिन्दी
लिखनेके लिये प्रवृत्त करता था। शास्त्रीजी संस्कृत-पत्रोंका भी
उत्तर अक्सर हिन्दीमें देते थे। इस लेखका लेखक प्रायः उन्हें संस्कृतमें
पत्र लिखा करता था। पर वह प्रायः हिन्दीमें पत्र लिखते थे।
यद्यपि संस्कृतकी अपेक्षा हिन्दी लिखना उनके लिये कुछ कष्टसाध्य
था। एक बार एक संस्कृत-पत्रका उत्तर आप हिन्दीमें लिख
गये। शायद उत्तर संस्कृतमेंही लिखनेकी उनसे प्रार्थना की गई
थी, क्योंकि उनकी संस्कृत लिखनेकी शैली इस लेखकको बहुत
पसन्द थी। अन्तमें आपको ख़याल आया तो लिखते हैं:—

—'श्रीमद्भिर्देवगिराऽहमनुगृहीतो मया त्वनवधानतो नृगिरोत्तरं प्रत्तं तत्क्षाम्यन्त्वत्रापराधे श्रीमन्तः ।'

शास्त्रीजीका हिन्दीप्रेम अन्य भारतीय पण्डितोंके लिये अनुकरणीय है। शास्त्रीजीका उदात्त उदाहरण इस बातका एक अच्छा प्रमाण है कि चाहें तो भारतके सब प्रान्तोंके पण्डित हिन्दी भाषाको अपना सकते हैं, और हिन्दी भाषाके व्यवहारसे उनके पाण्डित्यको कुछ भी पातित्य-दोष नहीं लग सकता। हिन्दीपर कृपा करते हुए भी वे संस्कृतमें पत्र निकाल सकते और ग्रन्थ लिख सकते हैं। साथ ही अंगरेज़ी आदि वैदेशिक तथा बँगला आदि अपनी प्रान्तिक भाषाओंपर बराबर अपना अधिकार अक्षुण्ण रख सकते हैं।

शास्त्रीजीके हिन्दी तथा अन्य ग्रन्थ

लाहौरकी स्थितिके समय, अबसे कोई ४० वर्ष पहले, शास्त्रीजीने 'हिन्दी व्याकरण' और 'छन्दोबोध' नामक दो स्वतन्त्र ग्रन्थोंका सङ्कलन किया। 'हिन्दी व्याकरण' अब नहीं मिलता; इस लेखके लेखकने उसे नहीं देखा कि किस ढंगका था। 'छन्दोबोध' देखा है। उसमें अनेक छन्दोग्रन्थों, और साहित्य-निबन्धोंके आधारपर, बड़े अच्छे ढंगसे, गद्य-पद्य-रचनाकी शैलीका नियम-निर्देश-पूर्वक उदाहरण-सहित वर्णन है। वह विद्यार्थियोंके बड़े कामकी पुस्तक है। वह आवश्यक संशोधनके पश्चात् फिर प्रकाशित होनी चाहिये। लौगाक्षि-प्रणीत मीमांसा-शास्त्र-सम्बन्धी 'अर्थ-संग्रह' का हिन्दी-अनुवाद भी शास्त्रीजीने किया था। वह

भी अब अप्राप्य है। धर्मशास्त्र-सम्बन्धी 'दत्तक-चन्द्रिका' और वैशेषिक शास्त्र-सम्बन्धी 'तर्कामृत' पुस्तकोंके आपके रचित, हिन्दी अनुवाद बहुत सरल और पाण्डित्यपूर्ण हैं। बङ्ग-भाषाके तो आप प्रसिद्ध लेखक और कवि थे ही। सुप्रसिद्ध रघुनन्दन भट्टाचार्य्यके दुरूह संस्कृत-ग्रन्थोंके, इनके किये हुए, बँगला-अनुवादों का बङ्गालकी पण्डित-मण्डलीमें बड़ा आदर है। 'मेघदूत' का समश्लोकी अनुवाद भी आपने बंगलामें अपूर्व ही किया है। 'विद्योदय'के अतिरिक्त संस्कृतमें भी आपने अन्य अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन और प्रणयन किया है। उनमें 'सुपद्म-व्याकरण' की प्रायः सहस्र-पृष्ठ-व्यापिनी सुविस्तृत टीका बड़े प्रौढ़ पाण्डित्यसे लिखी गई है। एक 'प्राकृत-व्याकरण' भी आपने संस्कृतमें लिखा है और अंगरेज़ीमें उसकी टीका की है। कालिदासके संस्कृत 'श्रुतबोध'के शृङ्गार-रस-पूर्ण सम्बोधन-पदोंका परिवर्तन करके उसे आपने ब्रह्मचारी विद्यार्थियोंके पढ़ने योग्य बना दिया है। 'कवितावली' में आपकी कुछ फुटकर संस्कृत-कविताओंका सुन्दर संग्रह है।

'विद्योदय'

पण्डित हृषीकेश शास्त्रीने 'विद्योदय' द्वारा संस्कृत-भाषाकी जो सेवा की है वह कदापि भूलने योग्य नहीं। यद्यपि 'विद्योदय'से पूर्व भी दो संस्कृत-पत्र निकले थे—एक काशीसे 'काशी-विद्या-सुधा-निधि' दूसरा कलकत्तेसे 'प्रत्न-कम्र-नन्दिनी'। पर इन दोनोंमें प्राचीन ग्रन्थ ही प्रकाशित होते थे। सामयिक-पत्रताका अ

सर्वथा अभाव था। प्राचीन ग्रन्थोंके उद्धारके साथ सामयिक घटनाओंपर लिखने और नवीन रचनाओंको प्रकाशित करनेवाला सबसे पहला संस्कृत-मासिक-पत्र 'विद्योदय' ही निकला। वह १८७३ ईस्वीमें शास्त्रीजीके सम्पादकत्वमें लाहौरसे प्रकाशित हुआ। आमरण—४० वर्षतक, शास्त्रीजी उसे चलाते रहे। इस बेक़दरीके ज़मानेमें इतने दिनोंतक संस्कृत-पत्रके भारी चर्खेको चलाये जाना शास्त्रीजीके असीम साहस और महा-प्राणताका पूरा पता देता है। 'वत्सरान्तः' और 'नूतन-संवत्सरः' शीर्षक जो लेख 'विद्योदय'के पुराने अङ्कोंमें हैं उनसे उन कठिनाइयोंका पता चलता है जिनका सामना पत्र-प्रकाशनमें उन्हें पद-पदपर करना पड़ता था। कई बार पत्र बन्द करनेके सामान दीखने लगे। पर शास्त्रीजीने हिम्मत न हारी। वह विघ्नोंको ललकारकर बराबर यही कहते रहे कि—

'नखल्वस्ति भगवतः कृतान्तस्यापि प्रथमं मामनुच्छिद्य विद्योदयस्योच्छेदाय सामर्थ्यम्' ❀

शास्त्रीजीकी लेख-शैली

वर्तमान समयके संस्कृत-लेखकोंमें शास्त्रीजी निःसन्देह एक प्रतिभाशाली और अपूर्व लेखक थे। उनके लेखोंमें माधुर्य, प्रसाद, चमत्कार और व्यङ्ग्यका अपूर्व समावेश है। उनकी लेखशैली

❀ शास्त्रीजीके साथ "विद्योदय" का अन्त नहीं हुआ। वह उनके पीछे कुछ कालतक जीवित रहा। शास्त्रीजीके सुयोग्य विद्वान् पुत्र श्री भवविभूति विद्याभूषण, एम० ए० और पण्डित श्रीभवभूति विद्यारत्नने योग्यतापूर्वक उसे चलाया। पर अपेक्षित सहायताके अभावसे बादको बन्द करना पड़ा।

सुप्रसिद्ध गद्य-कवि बाणभट्टके ढंगकी है। बाणके ढंगकी संस्कृत लिखनेवालोंमें सबसे अधिक सफलता शास्त्रीजीको ही प्राप्त हुई है। उनके बहुतसे लेखोंमें 'कादम्बरी' का सा मज़ा आ जाता है।

'विद्योदय'के पुराने फाइलोंमें कई निबन्ध बड़े मार्केके निबन्ध हैं। वे यदि पृथक् पुस्तकाकार छपा दिये जायँ तो संस्कृत-साहित्य की शोभा और वृद्धिका हेतु हों और संस्कृत पढ़नेवाले उनसे बहुत कुछ लाभ उठा सकें।* गद्यके समान पद्य-रचना भी शास्त्रीजीकी अत्युत्तम होती थी। शास्त्रीजीने अपने लेखोंमें देशकी धार्मिक और सामाजिक दशाका चित्र कुछ ऐसे कौशलसे खींचकर दिखलाया है कि उसकी उत्तमता बस देखते ही बनती है। मर्मस्पृक् करुण और निगूढ़ व्यंग्य-पूर्ण हास्यरसके वह सिद्धहस्त लेखक थे। उनके 'यमराज-विचार-प्रहसनम्' नाटकमें, जो 'विद्योदय'में कई वर्ष तक निकलता रहा है, और 'यमं प्रति सम्भाषणम्' आदि लेखोंमें पद-पदपर इस बातका परिचय मिलता है। वर्तमान समयकी सम्मोहिनी सभ्यताकी छीछालेदरका जो सुन्दर चित्र उन्होंने 'महारण्य-पर्यवेक्षणम्' नामक लेखमें खींचा है, वह देखने ही योग्य है। 'विबुधामन्त्रणम्' निबन्धमें वर्णाश्रम-धर्म और संस्कृत भाषाके

---

* इस लेखके लेखकने ऐसे कई प्रबन्ध 'विद्योदय'के अप्राप्य फाइलोंसे उद्धृत करके और शास्त्रीजीसे ही उनकी नज़रसानी कराकर (जिनमें आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन कर दिया गया है, तथा एक अत्युत्तम प्रबन्ध जो अधूरा था पूरा कर दिया गया है) "प्रबन्ध-मञ्जरी" नामसे पुस्तकाकार छपाने का उद्योग किया था, पर यह कार्य्य अभी तक अधूरा पड़ा है। ... करनेका विचार हो है।

रक्षाके लिये जो ज़ोरदार अपील उन्होंने की है, वह उन्हींकी ओजस्विनी लेखनीके योग्य है। 'उदभिज्ज-परिषद्'में शास्त्रीय मतोंके अपूर्वतापूर्वक मनोहर निदर्शनके साथ, गर्वोन्नत मानव-समाजकी अहंमन्यताका जो ख़ाका शास्त्रीजीने उड़ाया है वह विचारशील लोगोंकी आंखें खोलनेके लिये सिद्धाञ्जनका काम देता है। 'दुर्गानन्द-स्वामिन आत्मवायोरुद्गारः' नामक लेखमाला और 'अनामिकादेव्याः पत्रम्' लेख शास्त्रीजीकी परिहासप्रियता और ज़िन्दादिलीके पर्याप्त प्रमाण हैं। उक्त दोनों लेख दूसरेके नामसे इस ढंगसे लिखे गये हैं जिससे पढ़नेवालोंको विश्वास हो जाता है कि सचमुच इनके लेखक कोई दूसरे ही व्यक्ति हैं, सम्पादक नहीं। इन लेखोंमें 'विद्योदय'के सम्पादकको भी ख़ूब जली कटी सुनाई गई है। पर सम्पादकने बड़ी गम्भीरतासे, उन आक्रमणोंको सहन करते हुए, आत्म-गोपनकलाका विचित्र कौशल दिखलाया है।। 'अनामिका-देव्याः पत्रम्' की लेखिका, प्रसिद्ध संस्कृतविदुषी पण्डिता रमाबाई समझी गई थीं। अबतक उस पत्रके पाठक प्रायः यही समझते रहे हैं। पर शास्त्रीजी वास्तविक बातको अन्ततक छिपाये रहे। इसमें उन्होंने पाण्डवोंके 'अज्ञातवास' को भी मात कर दिया। कई अंगरेज़ी-ग्रंथोंका अनुवाद भी शास्त्रीजीने प्रारम्भ किया था, जिनमें शेक्सपियरके हैमलेट (Hamlet)का गद्य-पद्यात्मक 'हैमलेट-चरितम्' और हर्मिट (Hermit) का पल्लवित पद्यात्मक अनुवाद 'परमहंसोपाख्यानम्' मुख्य हैं। जिन्होंने उक्त मूल ग्रन्थोंको उनके असली स्वरूपमें पढ़ा है उनकी सम्मति है कि अनुवाद बहुत ही

उत्तम हुए हैं। खेद है कि ये अनुवाद पूरे न हो पाये। पर जितने हैं उतने हीसे शास्त्रीजीके दोनों भाषाओंके प्रगाढ़ पाण्डित्यका परिचय अच्छी तरहसे मिल जाता है।

समालोचक भी आप पहले दर्जेके थे। 'आर्यालङ्कारो' 'प्रभात-स्वप्नम्' तथा 'अभिज्ञान-शाकुन्तलोत्तरचरितयोः' इत्यादि विषयोंपर जो विस्तृत और मार्मिक समालोचनायें 'विद्योदयमें' निकली हैं वे पढ़ने ही लायक़ हैं। आपकी खण्डन-मण्डनकी शैली बहुत ही निराली और मनोहारिणी थी। प्रतिपक्षीके प्रति कटूक्ति कहना आपको पसन्द न था। जो बात कहते थे बहुत संयत भाषामें-जँची, तुली, और व्यंग्यभरी, और ऐसी कि पढ़नेवालेके चित्तमें चुभ जाय।

सच्ची देशभक्ति और जातीयताके उभारनेवाले भाव आपके लेखोंमें ओत-प्रोत भरे हुए हैं। उनको पढ़ते समय सहृदय पाठक तन्मय हो जाता है। खेद है कि इस क्षुद्र निबन्धमें शास्त्रीजीकी उत्कृष्ट लेख-शैली और रसमयी कविताके उदाहरण देकर उनकी उत्कृष्टता दिखलानेका अवकाश नहीं है।

शास्त्रीजीके धार्मिक विचार

यद्यपि इस लेखके लेखकको शास्त्रीजीके साक्षात्कारका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, तथापि उनके लेखोंसे जो कुछ पता चलता है, उससे मालूम होता है कि उनके धार्मिक विचार बड़े उदार थे। वह वैदिक वैष्णव थे। उनके लेखों और ख़ानगी पत्रोंके प्रारम्भका मंगलाचरण—'श्रीरामः शरणम्' था। सरस्वती देवी-सुरभारतीके वह

अनन्य भक्त और परमोपासक थे। इस विषयमें उनकी यह प्रार्थना पठनीय और स्मरणीय है:—

'शर्वाणि! निर्वाणपदं न याचे, गीर्वाणभूयं नहि वार्थितं मे।
गीर्वाणवाणी कृपया चिराय, विलासनृत्यं प्रतनोतु कण्ठे॥'

शास्त्रीजीकी अस्वस्थता और 'स्वस्थता'

शास्त्रीजीका स्वास्थ्य बहुत दिनोंसे ख़राब चला आता था। दो तीन वर्ष पूर्व उनकी शारीरिक दशा नितान्त शोचनीय हो गई थी। उस समय डाक्टरों और वैद्योंने एक-मत होकर उनको अन्त-कालकी सूचना देकर साफ़ कह दिया था कि आपका यह जीर्ण-शीर्ण शरीर अब बहुत दिन नहीं टिकेगा। अब लिखना पढ़ना छोड़कर चुपचाप पड़े पड़े ईश्वरका भजन कीजिये। पर शरीरमें प्राण रहते शास्त्रीजी विद्या-व्यासङ्ग कैसे छोड़ सकते थे?
'प्रथमं मामनुच्छिद्य नास्ति कृतान्तहतकस्यापि 'विद्योदय' मुच्छेत्तुं शक्तिः'

प्राणपण-पूर्वक किये हुए अपने इस प्रणको आप कैसे भुला सकते थे। सारांश यह कि वह बराबर अपनी धुनमें लगे रहे और इस उक्तिको चरितार्थ कर गये कि—

'लिखे जबतक जिये सफ़रनामे—चल दिये हाथमें क़लम थामे'

इस वर्ष जब लेखकने उनसे 'विद्योदयके' कुछ निबन्धोंको पुस्तकाकार छपानेकी आज्ञा माँगी और साथ ही एक अधूरे निबन्धको पूरा करदेने तथा प्रकाशनीय निबन्धोंके पुनरालोचनको प्रार्थना की, तब आपने बड़े हृदयोल्लास-पूर्वक इसे स्वीकार किया। यद्यपि उस समय उनका स्वास्थ्य ठीक न था, तो भी अपूर्ण

निबन्धकी पूर्ति और अवशिष्ट निबन्धोंकी पुनरालोचनाके कठिन कार्यको आपने अनायास, बहुत ही स्वल्प समयमें, सम्यक्तया सम्पादन कर दिया। तथा 'विद्योदय'में प्रकाशित और भी कई उत्तम निबन्धोंके शुद्ध कर देनेकी आपने आशा दिलाई। शोक है कि दुर्भाग्यवश वह आशा पूरी न हो सकी। उनके हृदयमें अपने मुद्रित निबन्धोंको देखनेकी प्रबल लालसा रह गई और हमारे चित्तमें अभीष्ट निबन्धोंकी पूर्त्तिकी इच्छा, जो अब किसी प्रकार पूर्ण नहीं हो सकती। गत वर्ष १ दिसम्बरको हमारे चरित-नायक पण्डित हृषीकेश शास्त्रीजीको प्रबल ज्वर चढ़ा। क्रमशः बढ़ता हुआ वह सान्निपातिक रूपमें परिणत हो गया, और अन्तको उन्हें चारपाईसे उतारकर ही उतरा। शास्त्रीजी ९ दिनतक बीमार रहकर, ६५ वर्षकी अवस्थामें, नवीं दिसम्बर १९१३ ईसवीको मानव-लीला संवरण करके परम धामको पधार गये। इस प्रकार सुर-भारतीका एक सुपुत्र, विद्वन्मालाका नायकमणि, संस्कृत-साहित्यका महारथी द्रोण, विद्याव्यसनी प्राचीन ब्राह्मणोंका सच्चा प्रतिनिधि, आर्य-सभ्यताका अवष्टम्भक स्तम्भ,वर्तमान समयका'बाण' इस संसारसे उठ गया और संस्कृत-साहित्य-सेवियोंको यह भूली हुई उक्ति फिर याद दिला गया, जो अब कभी न भुलाई जा सकेगी—

'ध्वस्तः काव्योरुमेरुः कविविपणिमहारत्नराशिर्विशीर्णः,
शुष्कः शब्दौघसिन्धुर्विलयमुपगतो वाक्यमाणिक्य-कोशः।
दिव्योक्तीनां निधानं प्रलयमुपगतं हा हता हन्त वाणी,
'बाणे' गीर्वाणवाणी-प्रणयिनि विधिना शायिते मृत्युशय्याम्॥'

शास्त्रीजीकी सन्तति और शिष्य-समुदाय

इस विषयमें शास्त्रीजी बड़े भाग्यशाली थे। उन्हें शिष्य-वर्ग और सन्तान दोनों ही सुयोग्य मिले। उनके शिष्योंमें कई इस समय महामहोपाध्याय और विद्वन्मण्डलीके मण्डन हैं। कलकत्ता-संस्कृत-विद्यालयके प्रधानाध्यापक महामहोपाध्याय श्री-प्रमथनाथ तर्क-भूषण, नाना-दर्शन-परमाचार्य श्रीपञ्चानन तर्क-रत्न, पण्डितवर श्रीदुर्गाचरण वेदान्तशास्त्री, पण्डित श्रीवीरेशनाथ काव्यतीर्थ, कविवर श्रीहेमचन्द्रराय, एम०, ए०, विद्यानिधि वैद्याव-तंस कविराज महामहोपाध्याय श्रीगणनाथ सेन, सरस्वती एम० ए० एल० एम० एस, इत्यादि बङ्गालमें और ओरियण्टल-कालेज लाहौरके संस्कृताध्यापक पण्डितवर स्वर्गीय श्रीदुर्गादत्त शास्त्री आदि पंजाबमें शास्त्रीजीके प्रधान शिष्योंमें हैं। आपके चार पुत्र हैं, जिनमें वड़े श्रीभवभूति विद्यारत्न संस्कृत और अंग्रेज़ीके सुयोग्य विद्वान्, संस्कृत-कालेज-कलकत्तेके प्रोफ़ेसर हैं। दूसरे श्री-भवविभूति विद्याभूषण, एम० ए० 'विद्योदय'के प्रधान सम्पादक, एक होनहार विद्वान् हैं। छोटे दो, कालेज-स्कूलोंमें अभी शिक्षा पा रहे हैं, जो आशा है. समय पा कर, अच्छे पण्डित बनेंगे और —

'आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः'—

इस उक्तिको चरितार्थ करेंगे। इत्योम्।

श्रीहृषीकेशविदुषश्चरितं परमाद्भुतम्।
यशश्च विशदं लोके विदुषां मुदमावहेत्॥
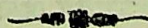
स्वामी श्रीश्रद्धानन्दजी

स्वामी श्रीश्रद्धानन्द संन्यासी एक कर्मयोगी महापुरुष थे। उनका जीवन आदिसे अन्ततक विविध विशेषताओंकी शृंखला और कर्म-कलापकी माला था। किसी सफल नेतामें जितने अपेक्षित गुण होते हैं, वे उनमें अधिकांशतः विद्यमान थे। उत्साह, आत्मप्रत्यय, समयज्ञता, लोकसंग्रह-निपुणता, अवसर आते ही संकटपूर्ण कार्यक्षेत्रमें निःशङ्क होकर कूद पड़ना, विरोधसे विचलित न होना—अपने विचारपर दृढ़तासे डटे रहना, लक्ष्यको सदा सामने रखना—उससे च्युत न होना, 'मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य' के अनुसार जहां रहना प्रधान बनकर रहना, साथियोंसे मतभेद होते ही अपना रास्ता अलग निकालकर सबसे आगे बढ़ जाना; इत्यादि अनेक असाधारण गुणोंके स्वामीजी स्वामी थे। उनका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, कोई संस्था ऐसी न थी जिसमें वह पश्चात्पद रहे हों। जहां रहे, लीडर बनकर रहे; और जो काम उठाया उसे चलाकर दिखा दिया। आर्यसमाजमें प्रविष्ट हुए तो 'मुसल्लिमा-लीडर' के स्वरूपमें, यही नहीं, अपने नेतृत्वमें आर्यसमाजको एक नये सांचेमें ढाल दिया, और उसपर अपने व्यक्तित्वकी अमिट छाप लगा दी। राष्ट्रिय-शिक्षाका काम हाथमें लिया तो आदर्श गुरुकुल खोलकर कांगड़ीके बीहड़ जंगलमें आनन्द-मंगल कर दिखाया।

गुरुकुलके जन्मका इतिहास जिन्हें मालूम है और उसके प्रारंभिक महा-मेले जिन्होंने देखे हैं, वे जानते हैं कि सर्वसाधारणपर उन दिनों गुरुकुलका-कितना अद्भुत प्रभाव था। सबका आशाकेन्द्र एक गुरुकुल बना हुआ था, जो बात सर्वथा असम्भव समझी जा रही थी, उसे आशातीत सफलताके रूपमें सामने देखकर संसार आश्चर्य-चकित रह गया। सचमुच स्वामी श्रीश्रद्धानन्द (उस समयके महात्मा मुन्शीरामजी) का वह एक बड़ा 'मोज्ज़िज़ा' या चलता हुआ जादू था, अपने प्रवर्तककी शक्तियोंका मूर्तिमान् विकास था। विरोधी तक सिक्का मान गये थे। भारतवर्षकी किसी आधुनिक संस्थाने इतने थोड़े समयमें इतनी लोकप्रियता प्राप्त न की होगी, जितनी कि गुरुकुलने; और इसका कारण महात्मा मुन्शीरामजीका त्याग और अलौकिक कार्यसम्पादनी शक्ति थी, जिसके द्वारा आश्चर्यजनक रीतिपर वह आशासे अधिक धन-जनकी सहायता प्राप्त करनेमें समर्थ हो सके। आजभी राष्ट्रिय संस्थाओंमें महात्मा मुन्शीरामके गुरुकुलका एक विशेष स्थान है और यह उनका अनन्य-साधारण स्मारक है।

पंजाबमें देवनागराक्षर और हिन्दीभाषाके प्रचारमें भी आपने कम महत्त्वका काम नहीं किया। हानि उठाकर भी अपने उर्दू-पत्र 'सद्धर्मप्रचारक' को एक दम हिन्दीका रूप दे डालना, हिन्दी-हितैषिताका उत्साहजनक उदाहरण था। थोड़े ही समयमें उर्दूको छोड़कर आप हिन्दीके अच्छे ख़ासे नामी लेखक बन गये। निदान, हिन्दी-साहित्यके क्षेत्रमें भी आप किसीसे पीछे नहीं रहे,

सम्मेलनके सभापति-पदकी प्राप्ति इसका पुष्ट प्रमाण है। आपकी बुद्धि बड़ी विलक्षण थी। संस्कृतज्ञ न होते हुए भी उपनिषदोंका गूढ़ भाव समझ जाते थे और उनकी चमत्कृत व्याख्या कर डालते थे। वक्तृत्व-कलामें भी आप खूब निपुण थे। शास्त्रार्थोंमें भी आपने अनेक बार विजय पाई, कुछ दिनों धर्मप्रचारकी वह धूम मचाई कि मतवालोंपर आतङ्क छा गया। साहसकी तो आप मूर्त्ति थे, जिधर झुके थे, बस—'बं बोल गई बाबाकी चारों दिशा'—कर दिखाते थे। अपनी धुनके इतने पक्के थे कि विरोधियोंकी तो क्या अपने साथियोंके विरोधकी भी परवा न करते थे, अनेक अवसर ऐसे आये कि मत-भेदके कारण एक एक करके सब साथी साथ छोड़ बैठे, पर आपने इसकी कुछ भी परवा या चिन्ता न की, दूसरे साथी पैदा कर लिये और बराबर काम करते गये। प्रबल आशावादी थे। अनथक काम करने-वाले कर्मयोगी थे, बुढ़ापेमें भी नौजवानोंसे ज्यादा जोश और 'एनर्जी' उनमें थी। उद्योग-शीलतामें 'अशीतिवर्षो युवा' का उदा-हरण थे। जिस आन्दोलनको देश और जातिके लिये आवश्यक समझते थे उसीमें प्राण-पणसे जुट जाते थे। पालिटिक्सके मैदानमें उतरे तो चोटीके लीडरोंकी चोटीपर जा चमके! सिक्खोंका साथ दिया तो कारागारको पवित्र कर आये। हिन्दू-मुसलिम इत्तहादके हामी हुए तो जामा-मसजिदके मम्बरपर जा चढ़े। असहयोगमें लगे तो महात्मा गांधीको भी कई क़दम पीछे छोड़ गये। शुद्धि-आन्दो-लनमें पड़े तो जानकी बाज़ी लगा दी,—'जो बात की बस अपनी क़सम लाजवाब की'—उनकी मौत, जिन्दगीसे भी शानदार साबित

हुई। मौत पाई तो ऐसी, जिसपर बड़े बड़े 'देहात्मवादी' 'गोली बीस क़दम तो बन्दा तीस क़दम' सिद्धान्त वाले मरणभीरु 'लीडर' भी रश्कके मारे मरे जाते हैं, हसरतके लहजेमें सिर धुनकर, 'मीर'के इस शेरको दोहराते हैं—

'मर्गे-मजनूं पै अक्ल गुम है मीर,
क्या दिवाने ने मौत पाई है !!'

परिमित जीवनमें कोई नेता जितनी समाजसेवा और लोकोपकारके कार्य कर सकता है स्वामीजी उससे कहीं अधिक कर चुके थे, सफलताकी दृष्टिसे उन्हें 'आप्त-काम' कह सकते हैं। पर लोकसेवाकी उनकी इच्छा अभी पूरी न हुई थी, समाजको उनकी अभी आवश्यकता थी। वह निःसन्देह पुरुषायुष-जीवी—शताधिकवर्षजीवी—होते और अभी बहुत समय तक समाज-सेवा करते, पर जातिके दुर्भाग्यसे, देशके दुरदृष्टसे, समयसे पहले ही नरपिशाच नारकीय आततायीने उनकी अलौकिक जीवन-लीलाका अन्त कर दिया ! स्वामीजी इस समय जिस महत्त्वपूर्ण पुण्य-कार्यमें संलग्न थे वह आर्यजातिके लिये जीवन-मरणका प्रश्न था, दुःख यही है कि वह अधूरा रह गया। आर्यजातिके लिये यह कितनी क्लीबता-सूचक लज्जाकी बात है कि वह अपने नररत्न नेताकी रक्षा न कर सकी ! दिन-दहाड़े, राजधानीके राजमार्गमें उसकी रत्नराशि लूट ली गई और वह कर्महीन क्लीबकी तरह रो पीटकर बैठ रही ! रोना स्वामीजीके लिये नहीं, वह तो अपना कर्तव्य-पालन करते हुए वीर-गतिको प्राप्त हो गये। रोना उनकी

नाम-लेवा जातिके लिये है, जिसने अपना कर्त्तव्य शोकसूचक प्रस्ताव पास करनेमें ही समझ रक्खा है !

दस लाखका फंड, उस क्षतिके लक्षांशको भी पूरा नहीं कर सकता जो स्वामी सरीखे पुरुष-रत्नके छिन जानेसे पहुंची है। इस फंडके पाखण्डसे कुछ न बनेगा; आवश्यकता आदमियोंकी है। धर्मवीर स्वर्गीय पण्डित लेखरामजीके पास कोई फंड न था। दस लाख नहीं, केवल दस आदमी ही ऐसे निकल आवें जो पूरे जोश और हिम्मतसे, दृढ़ता और सच्ची लगनके साथ,—'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्'—की प्रतिज्ञा करके कार्यक्षेत्रमें उतर पड़ें, स्वामीजीके मिशनमें अपना जीवन समर्पण कर दें, तो बहुत कुछ हो सकता है। काम करनेवाले आदमी होंगे तो फंडकी कमी न रहेगी, स्वर्गीय स्वामीजी स्वयं इसका उदाहरण हैं। फण्डके बिना उनका कोई काम कभी रुका नहीं रहा, जब जिस कामके लिए उन्हें धनकी आवश्यकता हुई, वह पूरी हुए बिना न रही। 'लक्ष्मी' 'पुरुषोत्तम' की चेरी है। रुपयेसे आदमी नहीं बनते, आदमी होता है तो रुपये पैदा कर लेता है। अपील तन, मनसे, काम करनेवाले कर्मवीर कार्यकर्ताओंके लिए होनी चाहिये। उन उत्साहसम्पन्न व्यक्तियोंको सामने आना चाहिए जो शुद्धि-संगठनके व्रतमें अपनी जान लड़ादें। मतलब यह नहीं कि फण्ड जमा ही न किया जाय, फण्ड ज़रूर जमा हो और जमा हो जायगा; पर सबसे मुख्य प्रश्न कार्यकर्ताओंका है; इसलिए सबसे पहले यही समस्या पूरी होनी चाहिए। जबतक जातिके कुछ प्रधान प्रभावशाली नेता शुद्धि-

संगठनको जीवन-मरणका प्रश्न समझकर बहुधंधीपन और 'आल-इण्डिया लीडरी'के खब्तको छोड़कर सिर्फ शुद्धि-संगठनमें ही सर्वात्मना न लग जायँगे, यह काम कभी पूरा न होगा। स्वामीजीके प्रति सच्चे सम्मान और कृतज्ञताके भावको हम इसी रूपमें प्रकट कर सकते हैं कि उनके उस यज्ञको जिसमें उन्होंने अपने प्राणोंकी आहुति दी है, उसी उत्साहसे जारी रक्खें, उस अग्निको बुझने न दें। जाति करुण स्वरमें 'बेताब' होकर पुकार रही है :—

'करोड़ों हिन्दुओंमें आज क्या ऐसा नहीं कोई,
सम्हाले काम उनका होके सज्जादा-नशीं कोई।
करें यह यज्ञ सब मिलकर न हो चीं-बर-जबीं कोई,
बजाये वेदका डंका कहीं कोई कहीं कोई।
अगर शुद्धिमें श्रद्धा है तो 'श्रद्धानन्द' बन जाओ;
दिले-मक़्तूलकी ख्वाहिशके ख्वाहिशमन्द बन जाओ॥'
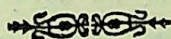
पण्डित श्रीभीमसेन शर्मा

(स्वामी भास्करानन्द सरस्वती)
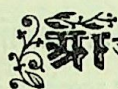
कोई जसे ३० वर्ष पहलेकी बात है, जब सन् १८९७ ई० के सितम्बरमें पण्डितजीसे मुझे प्रथम परिचयका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) आर्यसमाजका महोत्सव था, मैं उन दिनों युक्तप्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि-सभाका आनरेरी उपदेशक था। पण्डितजी अध्ययन समाप्त करके काशीसे लौटे ही थे, और दिल्ली आर्यसमाजकी पाठशालामें अध्यापक थे, वह भी उस उत्सवमें पधारे थे। जिन दिनोंकी यह बात है, सिकन्दराबादमें आर्यसमाजका उत्सव बड़े समारोहसे मनाया जाता था, चारों ओरसे हज़ारों आदमी उत्सवमें सम्मिलित होते थे, बड़ी चहल-पहल होती थी---जोशका समुद्रसा उमड़ पड़ता था। आज भी उत्सव होते हैं, पर वह बात कहां! खैर, उत्सव समाप्त हुआ और अपनी अपनी बोलियां बोलकर सब पंछी उड़ गये। मलेरियाका मौसम था, सिकन्दराबादमें और उसके आसपास वबाकी तरह मलेरिया बुख़ार फैल रहा था। उत्सवके कुछ यात्री भी उसकी लपेटमें आ गये, उनमें मैं और पण्डितजी भी थे। उत्सवके प्रारम्भमें अभ्यागतोंकी जो आवभगत होती है, समाप्तिपर उसके बिलकुल उलटा होता है। कोई किसीको पूछता नहीं, अकसर उपदेशकोंको सिरपर असबाब लादकर स्टेशनपर पहुंचना पड़ता है,

पं० श्रीभीमसेनजी शर्मा

हमारी भी किसीने खबर न ली। बसतिसे बाहर एक बड़ासा मकान था, जिसमें हम और दूसरे यात्री ठहराये गये थे। एक-एक करके सब चले गये, सिर्फ हम दोनों बीमार परदेशी एक कोनेमें पड़े रह गये। मकानकी रखवालीके लिए जो नौकर था, वह भी चलता बना। साथ ही हमारा असबाब भी कम करके भार हलका करता गया—कुछ कपड़े और दोनों लोटे भी लेता गया। उस निर्जन, शून्य स्थानकी नीरवता और स्तब्धताका भंग हमारे कराहनेसे कभी-कभी हो जाता था, नहीं तो क़यामतका सन्नाटा था। एक दिन और एक रात इसी हालतमें किसी तरह काटी, बीच बीचमें जब होश आ जाता था, तो एक दूसरेको पुकारकर पूछ लेते थे कि कहो क्या हाल है? ख़ुद ही बीमार और ख़ुद ही, अपने तीमारदार थे। बुख़ारकी गर्मी, प्यासकी शिद्दत, पानी देनेवाला तो दूर, पानीका पात्र तक पास न था। दूसरे दिन जब ज्वर कुछ कम हुआ, तो चलनेकी सोचने लगे। एक एक मिनट कल्प बराबर बीत रहा था। पर किधर जायँ, स्टेशन तक कैसे पहुंचें! पण्डितजीको तो दिल्लीतक ही जाना था, दो घंटेका रास्ता था, गाड़ी सीधी जाती थी। मेरा सफ़र लम्बा था, रास्तेमें कई जंक्शन पड़ते थे, जहांपर गाड़ी बदलती थी, उन दिनों प्लेग भी थी। हर एक जंक्शनपर यात्रियोंकी डाक्टरी-परीक्षा होती थी। ज़रा किसीको बुख़ार देखा कि डाक्टर साहबने क्वारन्टीनमें (Quarantine) पहुंचाया, और फिर वहांसे कोई सौभाग्यशाली महाप्राण ही सही-सलामत बचकर

घरतक पहुंचता था, नहीं तो 'महोच्छव' की मौत दुर्लभ थी :—

> 'मरना भला बिदेसका जहां न अपना कोय।
> माटी खायँ जिनावरा महामहोच्छव होय।'

घर पहुंचनेके लिये तबीयत बेचैन थी, पर बचकर निकलनेका कोई रास्ता न था,—'बन्द थीं चारों खूंटकी राहें'। मुझे इस कान्दिशीककी दशामें देखकर पण्डितजीने कहा—'हमारे साथ दिल्ली चलो।' पण्डितजी दिल्लीमें स्वयं परदेशी थे, उनसे यह पहली ही मुलाक़ात थी, और वह खु़द बीमार थे। इस दशामें उनका आमन्त्रण और आतिथ्य स्वीकार करते मुझे संकोच हुआ। मैंने कहा कि नहीं, आपको कष्ट न दूँगा। पर पण्डितजी मुझे छोड़कर जानेको क़िसी प्रकार राज़ी न हुए,—'पांवोंने बहुत झटका-पटका, ज़ंजीरके आगे कुछ न चली'—

गत्यन्तर न देखकर मुझे आत्म-समर्पण करना—स्नेह शृंखलामें बँधना ही पड़ा। एक राह चलते आदमीसे 'दुपइय्या'-इक्का मँगवाकर स्टेशन पहुंचे और टिकट कटाकर दिल्लीकी राह ली। रास्तेमें ग़ाज़ियाबाद स्टेशनपर प्लेग-डाक्टरका सामना हुआ। मुसाफिर ट्रेनसे उतारकर क़तारसे खड़े कर दिये गये। डाक्टर डरावनी सूरतसे घूर घूरकर एक-एकको देखता जाता था, जिसपर ज़रा सन्देह हुआ कि पकड़ा गया। मामूली बुखारको भी प्लेगका पूर्वरूप समझकर प्लेगके झोंपड़ेमें धकेल दिया जाता था। हम दोनोंको उस समय भी ज्वर था, खड़ा होना कठिन

था, पर इस आपत्तिका सामना करनेको पहलेसे ही दृढ़ संकल्पसे तय्यार थे। थोड़ी देरके लिये देहाध्यासको भुलाकर तनकर खड़े हो गये, मानो बिलकुल भले चंगे हों। दिल धड़क रहा था, पर शरीरको सँभाले हुए थे। दृष्टि डालता हुआ डाक्टर निकल गया, तो जानमें जान आई—'जान बची लाखों पाये'—'बला आई थी, लेकिन ख़ैर गुज़री'—कह-कर करुणा-वरुणालय दीनबन्धु भगवान्‌को बार बार धन्यवाद दिया। जीवनमें और भी कड़ी घड़ियां आई हैं, अनेक बार कठिन परीक्षा देनी पड़ी है, पर इस संकटसे पार पानेपर जो हर्ष हुआ था वह अबतक याद है। अस्तु, दिल्ली पहुंचकर दो-चार दिन बाद पण्डितजी तो चंगे हो गये, और मेरी तबीयत और ख़राब हो गई। ज्वरके साथ खांसी भी शामिल हो गई। उसी हालतमें मुझे १५-२० दिन पण्डितजीके तत्त्वावधानमें दिल्ली रहना पड़ा। पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर लेनेपर ही पण्डितजीके अस्पतालसे—परिचर्यागृहसे—डिसचार्ज हो सका। बीच बीचमें कई बार वहांसे चल देनेकी चेष्टा की, पर छुटकारा न हुआ। पण्डितजीका वह अकृत्रिम स्नेह और सौजन्यपूर्ण उदार व्यवहार याद करके आज भी हृदय गद्गद हो रहा है। उस समयकी बहुतसी बातें रह-रहकर याद आरही हैं। जी चाहता है कि एक बार फिर उसी हालतमें पहुंच जाऊँ, भले ही बीमार होना पड़े। पर अफ़सोस! अब उन बूंदों भेंट कहां! बीमार हो जाना तो कुछ मुश्किल नहीं, पर पण्डितजी अब कहां!!! मुमूर्षु-दशामें सार्वजनिक आश्रमसे धक्का देकर निर्वासित करनेवाले,

ममताशून्य ऐसे 'मित्रों' की आज जी कमी नहीं, जो अपनी य
दुन्दुभिको हर वक्त कलमके कोणसे पीट-पीटकर दिशा
गुँजाते और दिग्गजोंको चौंकाते रहते हैं, पर जिन्हें अपने वि
विपन्न मित्रपर ज़रा भी दया नहीं आती। मित्रता तो दूर, वि
मनुष्यता भी अपील नहीं करती। परमात्मा इनसे बचावे
अन्त समयमें किसीको ऐसोंका मुँह न दिखावे। अस्तु, अति
हो गया, कलीकी सफेदीने कोलतारकी कालिमाका नक्शा आं
सामने खड़ा कर दिया।

सुना था कि विपत्तिकी मैत्री स्थायिनी होती है। पढ़ा
कि 'अजर्यं-आर्यसङ्गतम्'—(आर्य पुरुषकी मित्रता कभी पु
नहीं होती, सदा एकरस रहती है)—इसकी सचाई पण्डितजी
मिताईमें पाई। इस तीस वर्षके लम्बे समयमें परीक्षाकी कसौटी
सौहार्दके सोनेको कई बार परखा और वह सदा खरा ही उ
एक साथ काम करते हुए बहुतसे मतभेदके प्रसङ्ग आये, कभी-क
कुछ वैमनस्यकी नौबत भी पहुंची, पर बन्धुताका बन्धन ढील
पड़ा, उत्तरोत्तर दृढ़ ही होता गया। पण्डितजी अन्तमें स्वामी
हो गये थे-संन्यास ले लिया था, पर मित्र-ममतामें, मिलनसा
वही पहले पण्डितजी थे। काषाय-विरक्तिके दंभ-रंगकी कोई छी
उनकी चरित्र-चन्द्रिकाकी चादरपर न पड़ी थी। प्रायः अपरिपक्व
कषाय नौजवान, कपड़े रंगकर बूढ़े ब्रह्माको भी 'बच्चा' कह
पुकारने लगते हैं, गुरुजनोंसे भी दण्ड-प्रणाम कराना चाहते हैं
उनके भी रिस्पेक्ट (Respect) की रिक्वेस्ट (Request

करते हैं। यह अहम्मन्यता अज्ञ साधुओंमें ही नहीं, अंग्रेजी पढ़े-लिखे 'जेण्टिलमैन' साधुओंमें भी पाई जाती है। भगवें-बानेका प्रभाव उनके चरित्रपर बस इतना ही पड़ता है कि अपनेको सबका 'स्वामी' समझने लगते हैं —

'साधुता सद्धर्म-चर्चा ब्रह्मनिष्ठा, कुछ नहीं,
रख लिया बस नाम बढ़िया और स्वामी बन गये।'

पण्डितजी साधु-संन्यासी-सम्प्रदायके इस व्यापक नियमका अपवाद थे। संन्यासी होकर भी आप श्री ६ गुरुवर पं० काशीनाथजी महाराजके चरणोंमें उसी प्रकार नतमस्तक होकर शिष्योचित श्रद्धासे प्रणाम करते थे, यद्यपि आश्रमोचित मर्यादाकी दृष्टिसे गुरुजीको उनके इस व्यवहारसे संकोच होता था। कई बार मना भी किया, पर वह मानते न थे। स्वामी बनकर भी शिष्यभाव न भुलाया था। हम लोगोंके साथ भी उसी बेतकल्लुफ़ीसे मिलते थे।

दिल्लीके बाद

दिल्लीमें पण्डितजी कोई डेढ़ वर्ष टिके। वहांसे अजमेर वैदिक-यन्त्रालयमें गये। वेदोंकी मूलसंहिता वैदिक प्रेसमें छप रही थीं, उनके संशोधनके लिये आप वहां बुलाये गये थे। आपके सम्पादकत्वमें संहिता छपीं, कुछ दिनों तक प्रेसके मैनेजर भी रहे। अजमेरसे आप सिकन्दराबाद गुरुकुलमें, जो सबसे पहला गुरुकुल है, आये और कई वर्ष तक वहां पढ़ाया। जब आप सिकन्दराबाद गुरुकुलमें थे, तब सन् १९०० में मैं आहार (बुलन्दशहर) की वैदिक संस्कृत-पाठशालामें मुख्याध्यापक था। बीच-बीचमें मुला-

क़ात होती रहती थी—कभी मैं सिकन्दराबाद पहुंचता था, कभी वह आहार आते थे। परस्पर पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। पत्र-व्यवहार मनोरंजनकी प्रधान सामग्री थी, पत्र विस्तृत होते और विशुद्ध परिमार्जित भाषामें। हृदयहारी गद्य-काव्यका आनन्द आता था। कभी-कभी पण्डितजी पद्यमें भी पत्र लिखते थे, उनमें भी कवित्वका अच्छा चमत्कार होता था। मैं पण्डितजीके पत्रोंके लिये समुत्सुक रहता था, बार-बार पढ़ता था और जी भरता था। पत्र-व्यवहारका मुझे एक व्यसन सा रहा है। पत्र लिखते-लिखते ही मैंने कुछ लिखना सीखा है। पण्डितजी मुझे दाद दे-देकर पत्र लिखनेके लिये उत्साहित करते रहते थे। उस समयके उस संस्कृतमय पत्र-व्यवहारका अधिकांश अब भी मेरे पास सुरक्षित है। उस सिलसिलेके जो पत्र नष्ट हो गये हैं, उनका अफ़सोस, साहित्यकी बहुतसी पोथियां जमा कर लेनेपर भी अब तक बाक़ी है। अब भी जब कभी उन पत्रोंको पढ़ता हूं, तो बड़ा आनन्द पाता हूं। किसी सुलेखक और सहृदय विद्वान्के साथ इस प्रकारका पत्र-व्यवहार भी शिक्षाका एक साधन है।

पाण्डित्यका परिचय

जिन विद्वानोंको पण्डितजीसे परिचय था, वह तो उनके पाण्डित्यसे व्यक्तिगत रूपमें अच्छी तरह परिचित हो गये थे, पर सर्वसाधारणको उनके पाण्डित्यका वास्तविक ज्ञान एक विशेष अवसरपर हुआ। शायद सन् १६०० का श्रावण मास था, दिल्लीमें अखिल भारतीय सनातनधर्म-महामण्डलके बहुत बड़े धूमधामी

महोत्सवके मुकाबलेमें आर्यसमाज भी अपनी सारी शक्तियों समेत शास्त्रार्थ और प्रचारके लिये वहां आकर डट गया था। महामंडल-की ओर महामहोपाध्याय पं० शिवकुमारजी शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० रामभिश्रजी आदि, दर्जनों धुरन्धर विद्वान्, पूज्य मालवीयजी तथा व्याख्यान-वाचस्पतिजी आदि बीसियों सुवक्ता महोपदेशक, श्रीअयोध्यानरेश और मिथिला-नरेश प्रभृति कई राजा-महाराजा पधारे थे। आर्यसमाजकी तरफसे भी प्रायः सभी साधु, संन्यासी अध्यापक तथा उपदेशक, नेता और लीडर, सम्पादक और सुले-खक, वकील और बैरिस्टर—'गुप्त प्रगट जहँ जो जेहि खानक' सब कोने-कोनेसे बटोर-बटोरकर जमा कर लिये गये थे। इतना बड़ा विद्वज्जन-समूह किसी दूसरे अवसरपर देखनेमें नहीं आया। ऐसे अवसरपर शास्त्रार्थकी चर्चा चलना, अनिवार्य था। शास्त्रार्थ-समरके लिये दोनों ही दल सन्नद्ध थे। पहले ज़बानी पैग़ाम जारी हुए, फिर पत्र-व्यवहारके रूपमें 'अल्टीमेटम' देना निश्चय हुआ। आर्यसमाजकी ओरसे कई विद्वानोंने अपनी तबीयतके जौहर दिख-लाये, गद्य-पद्यमें कई प्रकारके पत्र लिखे, पर वह मुझ जैसे 'अरो-चकी' साहित्य-सेवियोंको कुछ जँचे नहीं। पत्र लिखनेवालोंमें प्रत्येक लेखक अपने पत्रको ब्रह्माकी लिपि समझकर दावा कर रहा था कि बस ठीक तो है, इससे अच्छा और क्या लिखा जा सकता है, सब कुछ तो इसमें आ गया, यही भेज दिया जाय। पण्डित-जी चुप थे, लेखक-मण्डलीके सामने मैंने प्रस्ताव रक्खा कि पत्र पं० भीमसेनजीसे लिखाया जाय। एक सज्जन तमककर बोल उठे

कि जाओ उनसे ही लिखा लाओ, देखें तो कैसा लिखते हैं। मैं पण्डितजीके पास गया और सब किस्सा सुनाकर अनुरोध किया कि आप पत्र लिख दीजिए, जिससे प्रतिपक्षी विद्वानोंके सामने आर्यसामजकी लाज रह जाय। पण्डितजीको संकोच हुआ, कहने लगे—'उधर कई विद्वान् जान पहचानके हैं, कुछ सहाध्यायी हैं, दो-एक गुरुजन हैं, ताड़ जायँगे और उपालम्भ देंगे।' मैंने जब अधिक आग्रह किया और कहा कि यह तो 'धर्म-युद्ध' है, महाभारतमें भी ऐसा हुआ था, भाईने भाईका और शिष्यने गुरुका सामना किया था। और फिर पत्र तो आर्यसमाजकी ओरसे जा रहा है, आपके नामसे तो न जायगा! तब कहीं इस शर्तपर लिखनेको राजी हुए कि 'अच्छा लिखे मैं देता हूं, नक़ल तुम कर देना।' मैंने कहा—'यही सही, नक़ल मैं ही कर दूंगा, आप लिखिए तो।' पण्डितजीने कलम उठाई और पत्र लिखकर मेरे हवाले किया। मैंने उसकी नक़ल की और 'जिनको दावा था सख़ुनका' उन्हें जाकर सुनाया कि देखिये लिखनेवाले इस तरह लिखा करते हैं। सुनने और लिखनेवालोंमें दो-एक 'ज़ाहिदे-खुश्क' भी थे, उनमें कोई तो भौं चढ़ाकर आँखें फिरा गये और कोई सिर हिलाकर चुप हो रहे, पर सहृदय, विवेकी विद्वान् फड़क गये। सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्तजी और पं० गणपतिशर्माजी आदिने लेखन-शैलीकी दिल खोलकर दाद दी और ऐसा सुन्दर पत्र लिखानेके लिए मुझे भी शाबाशी दी। समझदारोंपर पण्डितजीके पाण्डित्यका सिक्का बैठ गया। इस प्रकार पहली बार पण्डितजी अपने असली रूपमें

प्रकट हुए। लोगोंको जानकर साश्चर्य हर्ष हुआ कि इस छोटेसे चोलेमें इतनी करामात छिपी है। उत्सवके अन्त तक आर्यसमाजकी ओरसे संस्कृतमें सारी लिखा-पढ़ी पण्डितजीकी ही लेखनीसे होती रही। दिग्गज विद्वानोंके साथ पत्र-व्यवहारमें आर्यसमाजके पक्षको पण्डितजीने गिरने न दिया। सचमुच उस समय पण्डितजीने आर्यसमाजकी लाज रख ली थी। वह समय, इस समय उसी रूपमें आँखोंमें फिर रहा है—आँखें पण्डितजीको ढूंढ़ रही हैं और दिल उनकी यादमें रो रहा है।

कई वर्ष सिकन्दराबाद गुरुकुलमें पढ़ानेके पश्चात् मुं० चिम्मनलालजीकी प्रार्थनापर पण्डितजी तिलहर (शाहजहाँपुर) में चले गये। गुरुकुलसे जानेका कारण गुरुकुलके उस समयके मुख्याधिष्ठाता स्वामी शान्त्यानन्दके साथ प्रबन्ध-सम्बन्धी मतभेद था। स्वामीजी नामके तो शान्त्यानन्द थे पर वैसे—'तेजकृशानु रोष-महिषेशा'की मूर्ति थे। गुरुकुलमें उन्होंने 'जेल सिस्टम' जारी कर रक्खा था, इसलिये लोग उन्हें 'जेलर साहब' कहने लगे थे। स्वामीजी साधारणसे अपराधपर कभी-कभी आतङ्कके लिये निरपराध ब्रह्मचारियोंको भी कठोरतम दण्ड दे डालते थे। पण्डितजी रोकते थे और स्वामीजी अपनी आदतसे लाचार थे। आखिर तंग आकर पण्डितजीने गुरुकुल छोड़ दिया और तिलहर चले गये।

कांगड़ी गुरुकुलमें

तिलहरसे पण्डितजीको कांगड़ी गुरुकुलमें गुरुकुलके प्रतिष्ठापक श्रीमान् महात्मा मुन्शीरामजीने और आचार्य पं० गङ्गा-

दत्तजीने बुला लिया। पण्डितजीके पहुँचनेके कुछ दिनों बाद मेरी भी तलबी हुई। सन् १९०४ के अन्तमें मैं भी गुरुकुलमें पहुंचा। गुरुकुलके लिए पण्डितजीने 'आर्य-सूक्तिसुधा' 'संस्कृतांकुर' और 'काव्यलतिका' ये तीन संस्कृत पाठ्य-पुस्तकें लिखी थीं। इन पुस्तकोंके संकलन और संशोधनमें पण्डितजीने मुझे भी कृपाकर शरीक कर लिया था। बड़े आनन्दके दिन थे। रात-दिन साहित्य-शास्त्रकी चर्चा रहती थी। पढ़ने-लिखनेमें खूब प्रोत्साहन मिलता था। सौभाग्यसे श्री ६ गुरुजी (पण्डित श्रीकाशीनाथजी महाराज) भी काशीसे आ गये थे। श्रीगुरुजीका पधारना भी गंगावतरणकी तरह भगीरथ-परिश्रमसे हुआ था। विश्वनाथका दरबार छोड़कर श्रीगुरुजी किसी तरह भी गुरुकुलमें रहनेको राज़ी न होते थे। आचार्यजी (पं० गंगादत्तजी महाराज) और पं० श्रीभीमसेनजीके भगीरथ-परिश्रमसे—अत्यन्त अनुरोध और आग्रहसे विवश होकर किसी प्रकार गुरुजीने रहना स्वीकार किया था। गुरुकुलपर और आर्यसमाजपर इन दोनों महानुभावोंका यह अनल्प अनुग्रह था और बहुत भारी उपकार था। उस समय गुरुकुल एक बिलकुल नई चीज़ थी, नया परीक्षण था। गुरुकुल-प्रणालीपर, उसके कार्यक्रम, उपयोगिता और भविष्यपर मनोरंजक संवाद, विस्तृत विवेचना और दिलचस्प बहस-मुबाहसे होते थे। पण्डितजीको गुरुकुल-पद्धति-पर पूरी आस्था थी। वह उसकी एक एक बातका मार्मिकतासे समर्थन करते थे। पण्डितजीका नाम मैंने मज़ाक़में 'गवर्नमेण्ट-प्लीडर' रख छोड़ा था। ओः वह भी क्या

पंडित श्रीभीमसेनजी शर्मा तथा गुरुवर पं० श्रीकाशीनाथजी

(१९०४ ई०)

दिन थे ! याद आती है और दिलपर बिजली गिरा जाती है—

'ख्वाब था जो कुछ कि देखा जो सुना अफसाना था'।—

—'हा हन्त हन्त क्व गतानि दिनानि तानि'।

गुरुकुल आज भी है और उन्नतिकी मध्याह्न दशामें है, पर गुरुकुलका वह प्रभात समय बड़ा ही रम्य और मनोरम था। उस वक्तका गुरुकुल अपनी अनेक विशेषताओंके कारण चित्तपर जो स्थायी प्रभाव छोड़ गया है, उसकी स्मृति किसी और ही दशामें पहुंचा देती है। उसका वर्णन नहीं हो सकता।

उस समयकी एक चिरस्मरणीय घटना है, जो चित्तसे कभी नहीं उतरती, जिसके स्मरणसे आज भी हृदय पिघल जाता है, अन्तःकरण अनिर्वचनीय भावोंके प्रवाहसे भर जाता है और आंखोंकी संकीर्ण प्रणालीसे फूट-फूटकर बहने लगता है, फिर भी दिल भरा ही रहता है, खाली नहीं होता। उन्ही दिनों पण्डितजीके छोटे भाई रामसहायजीका नौजवानीमें ही आगरेमें देहान्त हो गया था। स्निग्ध-स्वभाव और भ्रातृवत्सल पण्डितजी भ्रातृवियोगमें बहुत अधीर रहते थे। भाईका विवाह हो गया था। बालविधवा (भ्रातृ-जाया) की दयनीय दशाका ध्यान पण्डितजीके कोमल हृदयको बराबर कुरेदता रहता था। ज़रासे कारुणिक प्रसंगपर फूट पड़ते थे। मैं सान्त्वना देनेकी चेष्टा करता, पर मेरी स्वयं वही दशा हो जाती थी। एकदिन बेचारी बाल-विधवाओंके दारुण दुःखकी चर्चा चल रही थी। उसी प्रसंगमें मैंने मौलाना 'हाली' की 'मुनाजाते-बेवा' के कुछ बन्द सुनाये। अजीब हालत थी, उस कैफियतका बयान नहीं

हो सकता। अनेक बार करुण-काव्य सुने-सुनाये हैं—आँसुओंके परनाले बहाये हैं, पर वैसी वैसी दशा कभी नहीं हुई। रोते-रोते आंसू सूख गये, आंखें सूज गईं, सन्नाटा छा गया, बड़ी मुश्किलसे तबीयत सम्हली। पण्डितजीको 'मुनाजाते-बेवा' इतनी पसन्द आई कि मुग्ध हो गये, बार-बार पढ़ते थे और सिर धुनने थे। दुखे हुए दिलको ज़रासी ठेस भी बहुत होती है, फिर 'मुनाजाते-बेवा' में तो ग़ज़बका दर्द भरा है। उसे पढ़-सुनकर तो बड़े-बड़े 'ज़ाहिदाने-ख़ुश्क' को फूट-फूटकर रोते देखा है, फिर पण्डितजीकी तो उस दशामें जो दशा भी होती, उचित ही थी। एक दिन मैंने पण्डितजीसे कहा कि इसका संस्कृत पद्यानुवाद कर दीजिये—संस्कृतमें एक चीज़ हो जायगी। पण्डितजीने कहा कि बात तो ठीक है, देखिये कोशिश करूंगा। मैंने कहा कि शुरू कर दीजिये, इस समय हो जायगा और बहुत अच्छा हो जायगा। चोट खाये हुए दिलसे जो निकलेगा, वह दिलमें जगह करनेवाला होगा। इत्तफ़ाक़से इन्हीं दिनों गुरुकुलमें छुट्टी हो गई। पण्डितजीने 'मुनाजाते-बेवा' का 'विधवाभिविनय' के नामसे संस्कृत पद्यानुवाद करना प्रारम्भ कर दिया, जो शनैः शनैः पूरा होकर समाप्त हो गया। अनुवाद इतना सुन्दर, सरल और सरस हुआ कि देखकर तबीयत खुश हो गई। पण्डितजी जब उसे अपने कोमल कण्ठ, मधुर स्वर-लहरी और दर्दभरी आवाज़से सुनाते थे, तो भावावेश-कीसी अवस्था हो जाती थी। मूल कविताके साथ वह अनुवाद मैंने श्रीमान् पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीके पास भेजकर जिज्ञासा

की कि अनुवाद कैसा हुआ है ? द्विवेदीजीने उसे मनोयोग-पूर्वक पढ़कर लिखा था—'अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है। हमें तो मूलसे भी अनुवाद अधिक पसन्द आया।' अनुवादका कुछ अंश मूलके साथ 'परोपकारी' पत्रमें मैंने प्रकाशित भी किया था। 'हाली' साहबको भी 'परोपकारी' के वह अंक भेजे थे, जिसपर उन्होंने बहुत प्रसन्नता और परितोष प्रकट करके मेरा और पण्डितजीका बहुत-बहुत शुक्रिया किया था। अफ़सोस है कि वह अनुवाद पुस्तकाकार अबतक प्रकाशित न हो सका।

गुरुकुलकी एक घटना और है, जो अक्सर याद आ जाती हैं। बात मामूली है, पर पण्डितजीके स्नेहशील स्वभावपर प्रकाश डालनेवाली है। शुरू-शुरूमें गुरुकुलमें मलेरिया बहुत फैलता था। मुझे जाड़ा देकर बुखार आने लगा। एक दिन इतने ज़ोरका जाड़ा चढ़ा कि धरकर हिला दिया। मैं चारपाईपर पड़ा-पड़ा जाड़ेके ज़ोरसे कूदने लगा। पण्डितजी कम्बलपर कम्बल मेरे ऊपर डालने लगे, पर जाड़ेका वेग कम न हुआ। पण्डितजीने कहीं वैद्यकमें पढ़ा था कि शीत-ज्वर आग तापनेसे उतर जाता है। एक बड़ी अंगीठीमें खूब कोयले दहकाकर चारपाईके नीचे रख दिये और आप पेशाब करने चले गये। मैं मुंह ढके पड़ा था, नीचेसे आंच लगी, तो मुंह उघाड़कर देखा, चारपाईके बान जलाकर गद्दे तक आग पहुंच चुकी थी। मैंने पण्डितजीको आवाज़ दी। दौड़े हुए आये, अंगीठी हटाकर और कपड़ोंकी आग बुझाकर मुझे दूसरी चारपाईपर लिटाया। जाड़ा इतनेपर भी कम न हुआ, मैं बराबर कांप

रहा था। अब दूसरा उपचार होने लगा, आप मुझे ज़ोरोंसे दबाए बहुत देरतक पड़े रहे। मैंने बहुत कहा कि रहने दीजिये, कहीं यह रोग संक्रामक बनकर आपको भी न लिपट जाय। वही हुआ, मुझे छोड़कर जाड़ेने फ़ौरन ही उन्हें जकड़ लिया। 'यक न शुद् दो शुद्' मैंने कहा—देखिये न, मैं कहता था, आपने न माना, आखिर वही हुआ। जाड़ेकी अंगड़ाई लेते हुए हँसकर बोले—"कुछ हर्ज नहीं। अच्छा ही तो हुआ, मैंने तुम्हारा दुःख बांट लिया, यही तो इष्ट था।"

सन् १९०४ के अन्तमें महात्मा मुन्शीरामजीने सम्पादकाचार्य पं० रुद्रतजीके सम्पादकत्वमें हरद्वारसे 'सत्यवादी' साप्ताहिक पत्र प्रकाशित कराया। उसमें सहयोग देनेके लिये और 'आर्यसूक्ति-सुधा' आदि पुस्तकोंके सम्पादन और संशोधनके लिये मैं प्रेसमें हरद्वार चला आया। दो-तीन महीने बाद कारण विशेषसे 'सत्यवादी' बन्द करना पड़ा। प्रेस फिर जलन्धर चला गया। मुझे भी 'अष्टाध्यायीकी संस्कृत वृत्ति' (आचार्य श्रीगङ्गादत्तजी-प्रणीत) छपानेके लिये जालन्धर जाना पड़ा, इससे गुरुकुलका साथ छूट गया। जालन्धरसे मैं घर चला गया, पण्डितजी गुरुकुलमें ही रहे। इसी बीचमें पण्डितजीने 'योग-दर्शनको भोजवृत्ति' का हिन्दी अनुवाद किया था, जो छपा भी था। सन् १९०८ के प्रारम्भमें अध्ययन-प्रणाली और प्रबन्ध-विषयक मतभेदके कारण आचार्य श्रीगंगादत्तजी और पण्डितजी गुरुकुल छोड़कर चले आये। महात्मा मुन्शीरामजीने इन्हें बहुत रोकना चाहा, पर इन मानी द्विजोंने एक न मानी। यह कहकर चलही तो दिये :—

"क्षुद्धोलूकनखप्रपातविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रयं,
ये नोज्झन्ति पुरीषपुष्टवपुषस्ते केचिदन्ये द्विजाः।
ये तु स्वर्गतरङ्गिणी-बिसलता-लेशेन संवर्धिता,
गाङ्गं नीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम्॥'

गुरुकुल छोड़कर 'राजहंसोंकी,यह टोली निर्मल नीरकी खोजमें उत्तरकी ओर उड़ी। आचार्यजी तो हृषीकेशमें मौनीकी रेतीपर मौन होकर बैठ गये और पं० भीमसेनजीने बाबू प्रतापसिंहजीके साथ भोगपुरमें डेरा डाल दिया। बाबू प्रतापसिंहजी भी पहले गुरुकुलमें ही थे। गुरुकुलमें उनका पुत्र पढ़ता था। इन लोगोंके साथ वह भी अपने लड़केको लेकर वहांसे चले आये थे। कुछ दिनों तक पण्डितजी भोगपुर ही रहे। इनकी एकान्तवासकी तपस्या फलोन्मुखी हुई। गुरुकुल-प्रणालीका रंग तबीयतपर जम चुका था—अब दूसरी जगह साधारण पाठशालामें काम करना कठिन था। एक नया गुरुकुल खोलनेकी स्कीम बनाने लगे। इस कामके लिये दो-एक जगह देखी-भालीं, पर कोई निगाह पर न चढ़ी। इधर ज्वालापुरमें नहरके किनारे स्वामी दर्शनानन्दजीने गुरुकुल महाविद्यालय खोल रक्खा था। स्वामी दर्शनानन्दजीको गुरुकुल खोलनेकी एक धुन थी। आर्यसमाजमें वर्तमान गुरुकुल-पद्धतिके प्रथम प्रवर्तक वही थे। उन्होंने ही सबसे पहले सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) में गुरुकुल खोला था। स्वामी दर्शनानन्दजी पूरे 'भोगवादी' थे। कार्यक्षेत्रमें वह किसी कार्यक्रम, नियम या प्रबन्धके पाबन्द थे। 'आगे दौड़ पीछे चौड़'

उनकी नीति थी। जहां पहुंचते थे, एक लीथो-प्रेस और एक पाठशाला खोल बैठते थे और उसे ईश्वराधीन छोड़कर किसी दूसरी जगह चल देते थे। महाविद्यालय (ज्वालापुर) भी उनके इस व्यापक नियमका अपवाद कैसे होता! यहां तो एक बात और ऐसी आ पड़ी थी कि गुरुकुल कांगड़ीमें और ज्वालापुर महाविद्यालयमें प्रबल प्रतिद्वन्द्विता उपस्थित हो गई थी। महाविद्यालयका काम अभी जमा न था, न कोई फण्ड था, न कमेटी; सर्वशून्य दरिद्रताका राज्य और अव्यवस्थाका दौर-दौरा था। स्वामीजी महाविद्यालयको इसी दशामें छोड़कर दूसरी जगह चल दिये। महाविद्यालयके कुछ विद्यार्थी और अध्यापक भी चलते बने, महाविद्यालय टूटने लगा। यह सन् १९०८ ई० की बात है। मैं 'परोपकारी' का सम्पादन करने अजमेर जा रहा था। पण्डितजीसे मिले बहुत दिन हो गये थे। पण्डितजीको जब मालूम हुआ कि मैं अजमेर जा रहा हूं, तो मुझे लिखा कि वहां जानेसे पहले मिल जाओ। मैं भोगपुर पहुंचा, वहांसे उनका जी उचाट हो चला था। सोचते थे कि कहां जायँ। नये गुरुकुलका प्रस्ताव उठाकर मुझसे भी सम्मति मांगी। मैंने कहा—मुश्किल है, यदि किसी गुरुकुल-संस्थामें ही रहनेका विचार है, तो फिर महाविद्यालय ज्वालापुरमें ही चलकर न बैठिये। एक बना-बनाया विद्यालय काम करनेवालोंके अभावमें नष्ट हो रहा है, उसे बचाइये। नये मन्दिरके निर्माणकी अपेक्षा पुरानेका जीर्णोद्धार कहीं श्रेयस्कर है। कहने लगे—'भई बात तो ठीक है, पर कांगड़ी-गुरुकुलके साथ संघर्ष

होगा। महात्मा मुन्शीरामजीको हमारा वहाँ बैठना असह्य होगा, व्यर्थमें वैमनस्य बढ़ेगा।' मैंने कहा—'हां, यह तो होगा, फिर छोड़िए इस विचारको, क्या ज़रूरत है कि नया गुरुकुल खोला ही जाय ?'—मैं तो मिलकर अजमेर चला गया। कुछ दिन बाद मालूम हुआ कि स्वामी दर्शनानन्दजीने पण्डितजीको बुलाकर महाविद्यालय उनके सुपुर्द कर दिया है। उस समय महाविद्यालयमें आकर बैठना बड़े साहसका काम था। दूसरे साथियोंको हिम्मत न पड़ती थी। शुरूमें पण्डितजीके साथ आनेको कोई साथी सहमत न हुआ वह अकेले ही आकर डट गये। शनैः शनैः फिर और लोग भी आ गये, महाविद्यालयको सम्हाल लिया, काम चल निकला—महाविद्यालय-तरु उखड़ते-उखड़ते फिर जम गया। इसका श्रेय अधिकांशमें पण्डितजीको ही है। महाविद्यालयकी उन प्रारम्भिक कठिनाइयोंका वर्णन एक पृथक् लेखमालाका विषय है; यहांपर इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि महाविद्यालयको महाविद्यालय बनानेका श्रेय बहुत कुछ पण्डितजीको ही है।

संक्षिप्त जीवनी

पण्डितजीका जन्म संवत् १९३४ विक्रमीमें जयपुर राज्यके 'गगवाना' ग्राममें हुआ था। वहांसे आपके पिता आगरेमें आ रहे थे। पण्डितजीके पूज्य पिताजीका स्वर्गवास पण्डितजीकी ८ वर्षकी अवस्थामें ही हो गया था। जब १६ वर्षकी उम्र हुई, तो आप विद्याध्ययनके लिये काशी पहुंचे। काशीमें पण्डित कृपारामजी (स्वामी दर्शनानन्दजीका पूर्वनाम) ने एक पाठशाला खोल रक्खी

थी, जिसमें श्री ६ गुरुवर पं० काशीनाथजी महाराज पढ़ाते थे। श्री आचार्य गंगादत्तजी भी उसी पाठशालामें अध्ययनाध्यापन करते थे। पंडितजीने 'अष्टाध्यायी' और 'सिद्धान्त-कौमुदी' का कुछ भाग वहां गुरुजीसे और श्री पं० गंगादत्तजीसे पढ़ा, फिर काशी संस्कृत-कालेजमें महामहोपाध्याय श्री भागवताचार्यजी महाराजसे पढ़ने लगे। वहींसे मध्यमा परीक्षा दी और प्रथम नम्बरमें उत्तीर्ण होकर छात्रवृत्ति प्राप्त की। काशीमें सात वर्ष रहे, और व्याकरण, दर्शन तथा साहित्यमें पाण्डित्य प्राप्त करके लौटे। काशीमें रहते समय हिन्दीके ओजस्वी लेखक 'सुदर्शन'-सम्पादक श्रीयुत पंडित माधवप्रसाद मिश्रसे आपका विशेष परिचय हो गया था। उनके सम्बन्धकी बहुतसी बातें सुनाया करते थे। 'सुदर्शन' का फ़ाइल आपने सुरक्षित रख छोड़ा था, 'सुदर्शन' आपका प्रिय पत्र था। काशी जाते हुए कुछ दिन आप कानपुरमें भी रहे थे। वहां सुप्रसिद्ध पंडित प्रतापनारायण मिश्रसे आपका परिचय हो गया था। मिश्रजीके बहुतसे व्याख्यान भी आपने सुने थे। उनके 'ब्राह्मण' पत्रके आप भक्त थे, उसका फ़ाइल बड़े प्रयत्नसे रख छोड़ा था। हिन्दी-लेखकोंमें मिश्रजीपर और पं० श्रीबालकृष्णजी भट्टपर आपकी विशेष श्रद्धा थी। उनकी याद बड़े आदरसे करते थे। आपका हिन्दी-अनुराग पं० माधव-प्रसाद और पण्डित प्रतापनारायण मिश्रकी सत्संगतिका हो फल था। पंडितजी हिन्दी अच्छी लिखते थे। 'परोपकारी' और 'भारतोदय' में आपके कई लेख 'कश्चिद् ब्राह्मणः' के नामसे प्रकाशित हुए हैं। कई संस्कृत कविता भी निकली हैं। हिन्दीमें आपने कई पुस्तकें भी लिखी थीं जिनमें

में योग-दर्शनपर भोजवृत्तिका अनुवाद, संस्कारविधिका भाष्य तथा शङ्करमिश्रके 'भेदरत्न'का हिन्दी भाषान्तर 'द्वैत-प्रकाश' छप चुके हैं। 'सर्वदर्शन-संग्रह' का हिन्दी-अनुवाद आपने बड़े ही परिश्रमसे किया था। 'सर्वदर्शन-संग्रह' दर्शनका एक दुरूह ग्रन्थ है, कहीं कहीं अलग्न है, प्रायः अशुद्ध भी छपा है। आपने उसकी ग्रन्थ-ग्रन्थियोंको बड़ी मार्मिकतासे खोला था। मूल पाठका संशोधन बड़े परिश्रमसे किया था। श्री ६ गुरुवर पं० काशीनाथजी महाराजने सुनकर उसकी बहुत प्रशंसा की थी। खेद है कि वह ग्रन्थरत्न विलुप्त हो गया, छपने जा रहा था कि रास्तेमें ही गुम हो गया। इस दुर्घटनाके लिये पण्डितजी अन्त तक पछताते रहे।

शरीर और स्वभाव

पण्डितजीका शरीर पतला-दुबला और क़द दर्म्याना था। बड़ी-बड़ी आँखें, गौर वर्ण, हँस-मुख चेहरा, सुन्दर आकृति, सरल प्रकृति, अभिमान-शून्य स्वभाव, यह सब पाण्डित्यके सोनेपर सुहागा था। स्पष्ट-वक्ता और तेजस्वी ब्राह्मण थे। स्वभावमें निरभिमानिता थी, पर दीनता न थी, दबते न थे—किसीका अनुचित व्यवहार सहन न करते थे। शालीनता थी, पर दब्बूपन और चाटुकारितासे नफ़रत थी। स्वर मधुर और पद्य पढ़नेका ढंग बड़ा मनोहर था। उच्चारण बहुत विस्पष्ट और विशुद्ध था। शास्त्रार्थकी शैलीमें दक्ष थे। स्मरण-शक्ति और प्रतिभा प्रबल थी। पढ़ानेका प्रकार प्रशंसनीय था। लेख और भाषणकी अशुद्धिपर दृष्टि बहुत जल्द पहुंचती थी। बड़े

अच्छे संशोधक थे। गुणग्राही और कृतज्ञ थे। परिहास-प्रिय थे
'ज़ाहिदे-खुश्क' न थे। सहृदयताकी मूर्त्ति थे। करुण-कविता प
और सुनते समय गद्गद हो जाते थे। जगद्धरभट्टकी 'स्तुति
कुसुमाञ्जलि' और अमरचन्द्र-सूरि-कृत 'बालभारत' उनके ब
प्रिय ग्रन्थ थे। इन्हें प्रायः पढ़ते थे और पढ़ते पढ़ते तन्मय
जाते थे। कविके हृदयसे हृदय मिला देते थे। आवाज़में सो
था, जो सुननेवालेके दिलको पिघला देता था। जब मिलते थे,
आग्रह करके भी कुछ-न-कुछ सुनता था, जिससे अनिर्वचनी
आनन्द मिलता था। आज वह बातें याद आती हैं और दिल
मसोस जाती हैं।

संस्कृत बोलनेका अभ्यास अपूर्व था, खूब धाराप्रवाह बोल
थे जब कोई विशुद्ध और धारावाहिक रूपमें संस्कृत बोलनेवा
मिल जाता था, तो यत्परो नास्ति प्रसन्न होते थे, उसकी बार-ब
प्रशंसा करते थे। इस सम्बन्धकी एक घटनाकी चर्चा अक्सर
किया करते थे।

पंडित श्यामजीकृष्ण वर्म्माका ज़िक्रे ख़ैर

जब पण्डितजी अजमेरके वैदिक प्रेसमें ग्रन्थोंका संशोधन करते थे,
उन दिनों वहां सुप्रसिद्ध वृद्ध देशभक्त पण्डित श्यामजीकृष्ण वर्मा
दैवयोगसे आये हुए थे। पण्डित वर्मा आर्यसमाजके संस्थापक
श्रीस्वामी दयानन्दजीके प्रधान शिष्य थे। स्वामीजीसे अष्टाध्यायी
और महाभाष्य पढ़कर ही वह अक्सफोर्ड-यूनिवर्सिटीमें संस्कृत
प्रोफेसर बनकर गये थे। जिन दिनोंकी यह बात है, उन दिनों वह
विलायत ही में रहते थे। भारतवर्षमें भी कभी-कभी अपना कार-बार

देखने आजाते थे। तब तक उनका भारतमें प्रवेश निषिद्ध न था, उसी प्रसंगमें वह अजमेर आये हुए थे। परोपकारिणी-सभा और वैदिक प्रेसके वह ट्रस्टियोंमें थे, इसलिये प्रेस देखने भी आये। पण्डितजीने श्रीश्यामजीकृष्ण वर्माकी सुन्दर संस्कृत-भाषणके लिये विशेष-रूपसे प्रसिद्धि सुन रक्खी थी। वर्माजी जब प्रेस देखते-भालते पण्डितजीके पास पहुंचे और पण्डितजीसे परिचय कराया गया, तो पण्डितजीने बातचीत संस्कृतमें ही प्रारम्भ कर दी, यह देखनेके लिये कि देखें कैसा बोलते हैं। पण्डितजीको अपने साधिकार संस्कृत-भाषणपर गर्व था और उचित गर्व था। पण्डित श्यामजी-कृष्ण वर्माको संस्कृत छोड़े हुए मुद्दत हो गई थी। विलायतमें रहते थे, संस्कृतसे सम्पर्क न रहा था, पर वह तो छिपे रुस्तम निकले! पण्डितजी कहा करते थे कि इस द्रुतगतिसे विशुद्ध और धाराप्रवाह संस्कृत बोले कि इससे पहले किसीको इस प्रकार संस्कृत बोलते न सुना था। पण्डितजी उनकी यह असाधारण संस्कृत-भाषणपटुता देखकर मुग्ध हो गये। श्यामजी समझ गये कि संस्कृत बोलनेके बहाने यह पण्डिताऊ ढंगकी परीक्षा लेना चाहते हैं। पण्डितजीसे कहा कि आप मेरी अष्टाध्यायीमें परीक्षा लीजिए, मुझे आज इतने दिन संस्कृत छोड़े हो गये, फिर भी भूला नहीं हूं। यह कहकर आपने अपनी वही अष्टाध्यायी मँगाई, जिसपर स्वामी दयानन्दजीसे अध्ययनके समयमें पढ़ा था। पुस्तक पण्डितजीके हाथमें देकर बोले—'जहांसे इच्छा हो पूछिये।' पण्डितजीने बहुतसे प्रश्न किये, तत्काल सबके यथार्थ उत्तर पाये। जो सूत्र जहांसे पूछा, उसका विस्तृत और सन्तोषप्रद उत्तर मिला, यहाँ तक कि अध्याय, पाद और सूत्रका नम्बर तक बतला दिया! उनकी इस अद्भुत स्मरणशक्तिको देखकर पण्डितजी दंग रह गये। पण्डित

श्यामजीकृष्ण वर्माकी इस मुलाक़ातका हाल पण्डितजी अक्सर सुनाते और श्यामजीके पाण्डित्यकी जी खोलकर प्रशंसा किया करते थे।

सन् १९०८ से १९२५ तक पण्डितजीका अविच्छिन्न सम्बन्ध महाविद्यालयके साथ मुख्याध्यापकके रूपमें रहा यद्यपि बीच-बीचमें और लोग भी मुख्याध्यापक-पद रहे, पर मुख्याध्यापक-पदसे आपका ही बोध होता था। 'मुख्याध्यापक' आपका दूसरा नाम हो गया था। कुछ समय तक आप महाविद्यालय-सभाके मन्त्री भी रहे, महाविद्यालयके लिये धन-संग्रह भी सबसे अधिक आपहीने किया। बीचमें थोड़े दिनोंके लिये देवलाली (नासिक) गुरुकुलके आचार्य भी रहे, पर महाविद्यालयका ध्यान सदा बना रहा। कुछ कार्यकर्ताओंसे वैमनस्य हो जानेके कारण सन १९२५ में आपने महाविद्यालयको छोड़कर संन्यास ले लिया था। आपका संन्यासाश्रमका शुभ नाम 'स्वामी भास्करानन्द सरस्वती' था। महाविद्यालयसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर भी महाविद्यालयकी सहायता करते रहते थे। महाविद्यालयकी अन्तरंग सभाके आप सदस्य थे और बराबर आते जाते रहते थे।

सन्तान और शिष्य

पण्डितजीकी सारी उम्र संस्कृत-भाषाके प्रचारमें ही बीती—पढ़ा या पढ़ाया। बहुत कम ऐसे विद्वान् निकलेंगे, जिन्होंने इतना विद्याका प्रचार किया होगा। आपके पढ़ाये हुए और पास कराये

हुए सैकड़ों शिष्य होंगे, जिनमें उत्तम, मध्यम, तीर्थ, शास्त्री, आचार्य—सब प्रकारके हैं। आर्यसमाजमें तो आपके छात्रोंका जालसा फैला हुआ है। गुरुकुलोंमें और दूसरे संस्कृत विद्यालयोंमें आपके अनेक शिष्य, आचार्य और अध्यापक हैं। बहुतसे उपदे-शक और प्रचारक हैं, कुछ कवि और लेखक भी हैं। यह सब अपने विद्यादाता गुरुके जीते जागते स्मारक हैं, चलती-फिरती कीर्ति और फैला हुआ यश है। शिष्य और सन्तानकी दृष्टिसे हमारे प्रातःस्मरणीय चरित-नायक परम-स्पृहणीय सौभाग्यशाली थे। आपकी सन्तान तीन पुत्र और एक पुत्री है। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्रीयुत चि० पं० हरिदत्त शास्त्री वेदतीर्थ, सुयोग्य पिताके योग्यतम पुत्र हैं—

'न कारणात् स्वाद् बिभिदे कुमारः
प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्।'.

का उत्तम उदाहरण हैं। पिताके सब गुण पुत्रमें बहु-गुण होकर संक्रान्त हो गये हैं। अवस्था अभी इतनी अधिक नहीं है, पर कलकत्तेकी साहित्य, व्याकरण, न्याय-वैशेषिक और वेदकी 'तीर्थ परीक्षाएं' पास कर चुके हैं। पंजाबकी शास्त्रि-परीक्षा भी यूनिवर्सिटीमें प्रथम नम्बरपर पास की है। काशीकी वेदान्ताचार्यकी तय्यारीमें हैं—उसके खण्ड दे रहे हैं, साथ ही अंग्रेजीका सभ्यास भी जारी है। संस्कृतके बहुत अच्छे आशु-कवि हैं। गद्य और पद्य दोनों ही समानरूपसे सुन्दर लिखते हैं। व्याकरण, दर्शन और साहित्यमें इनका ज्ञान परीक्षाकी पाठ्य-पुस्तकों तक ही

परिमित नहीं है। प्रायः सब आकर-ग्रन्थ पढ़े हैं। पण्डितोचित उच्च कोटिका असाधारण ज्ञान है। बहुत ही प्रतिभाशाली और होनहार नवयुवक हैं। पिछले वर्ष कुम्भके समय पूज्यपाद मालवीयजी महाविद्यालयमें पधारे थे, उस समय हरिदत्तजीने ही महाविद्यालयकी ओरसे आपको संस्कृतमें अभिनन्दन-पत्र दिया था। उसे सुनकर मालवीयजी, हरिदत्तजीकी विद्वत्ता और कवित्व-शक्तिपर मुग्ध हो गये थे, मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की थी, डेरेपर बुलाकर मिले थे, और इस प्रकार विशेषरूपसे गुणज्ञताका परिचय दिया था। शिष्योंमें भी 'मुनिचरितामृत' इत्यादि अनेक काव्योंके रचयिता पं० दिलीपदत्त शर्मा उपाध्यायका नाम उल्लेखयोग्य है। आप संस्कृतके उच्च कोटिके कवि हैं।

रोग और निरवधि वियोग

पण्डितजी सदासे दुबले-पतले और निर्बल थे। बहुमूत्र रोगसे पीड़ित रहते थे। इस भयानक रोगने उनके शरीरको चर लिया था; कभी पनपने न दिया। शुरू-शुरूमें चिकित्सा भी बहुत की, पर रोग कम न हुआ—बढ़ता ही गया। प्रायः आध-आध घण्टेमें पेशाब जाना पड़ता था। जबतक यज्ञोपवीत गलेमें रहा, (संन्यास-ग्रहण करने तक) कानपर ही टँगा रहा। यह उनका मुस्तक़िल हुलिया बन गया था। निर्बलताके कारण साधारण रोगका भी शरीरपर अधिक प्रभाव पड़ता था, पर मिज़ाजमें एक बेपरवाही और हिम्मत थी; आलसी और अकर्मण्य न थे। कभी अपने कामके लिए, और कभी संस्थाके लिए इधर-उधर बराबर

घूमते रहते थे। भ्रमणमें अधिक रहनेके कारण खान-पानमें संयम न निभ सकता था। परहेज़से रहनेकी कुछ आदत भी न थी! कोई दो वर्षसे बराबर रुग्ण ही रहते थे, दस-बीस दिन अच्छे रहे, फिर झटका लग गया। गत ज्येष्ठके दशहरापर रोगकी दशामें कनखलके सुप्रसिद्ध वैद्यराज पं० रामचन्द्रजी शर्मासे चिकित्सा करानेके विचारसे ज्वालापुर महाविद्यालयमें आये थे। वैद्यजीकी पीयूषपाणितापर उनकी आस्था थी। महाविद्यालयका जल-वायु स्वास्थ्यके लिये स्वयं चिकित्सा-स्वरूप है। आचार्यजी (स्वामी शुद्धबोध तीर्थजी महाराज) का विपन्न-दयालु स्वभाव और सहानुभूति भी परिचित और आत्मीय रोगियोंको यहां खींच लाती है, फिर पण्डित भीमसेनजी (स्वा० भास्करानन्दजी) का तो महाविद्यालयके साथ घनिष्ठ और अटूट सम्बन्ध था। अस्वास्थ्यका समाचार सुनकर मैंने भी उनसे प्रार्थना की थी कि महाविद्यालयमें आकर चिकित्सा कराइये। इन्हीं सब कारणोंसे वह यहां आये थे। जब मुझे उनके यहां आनेका समाचार कांगड़ी गुरुकुलमें मिला, तो मैं मिलनेके लिए ४ जूनको महाविद्यालय पहुंचा। वहां जाकर मालूम हुआ कि मुख्याध्यापकजी (स्वा० भास्करानन्दजी) तो चले गये। सुनकर आश्चर्य, चिन्ता और खेद हुआ कि सहसा इस प्रकार बीमारीकी हालतमें, इस भयानक गर्मीके मौसममें इस स्थानको छोड़कर क्यों चले गये ? वह तो यहां इलाज करानेके इरादेसे आये थे! 'हेतुरत्र भविष्यति'। जो हेतु उनके जानेका उस समय बताया गया, उससे सन्तोष न हुआ, बात जीमें बैठी नहीं,

खटकती रही। मुझे उसी दिन कांगड़ी लौटना था, कारण जाननेका समय न मिला, पर किसी अनिष्टकी चिन्तासे चित्त व्याकुल हो गया। चित्तमें बार-बार यही विचार उठने लगा कि आखिर यह ऐसा हुआ क्यों ?

'मैं और तेरे दरसे यों तिश्नाकाम लौटूँ !
गर मैंने तोबा की थी, साक़ीको क्या हुआ था!'

आचार्यजीकी मौजूदगीमें यह अनर्थ कैसे हो गया! वह तो साधारणसे रोगमें भी किसीको यहांसे जाने नहीं देते। किसी आत्मीयकी ज़रासी बीमारीका हाल सुना कि उसे स्वास्थ्य-सम्पादनार्थ महाविद्यालयमें आकर रहनेका निमन्त्रण दिया। फिर पण्डित भीमसेनजीसे तो उनका ४० वर्षका घनिष्ठ सम्बन्ध था; और स्वयं 'मुख्याध्यापकजी' भी तो इस स्थानकी स्वास्थ्यप्रद महिमासे अनभिज्ञ न थे। वह तो इसी विचारसे यहां आये थे। एक बार मुझे भी मरणासन्न दशामें मुरादाबादसे खींचकर लाये थे, और स्वास्थ्यलाभ कर लेनेपर ही यहांसे हिलने दिया था। यह सब जानते हुए भी वह क्यों चले गये। गंगातट छोड़कर दूसरी जगह मरनेको क्यों गये ? बादको जो कारण मालूम हुआ, वह बड़ा ही मर्मभेदी और शोचनीय है। मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उसे प्रकट करनेके लिये जी रहा हूँ !

मित्र-घातकी दुर्घटना

जीवनमें अनेक ऐसे अप्रिय प्रसंग आये हैं, जब आत्मीय जनोंकी कटु समालोचना करनी पड़ी है। किसी सिद्धान्तपर विवश

होकर अपनोंसे भी लड़ना-झगड़ना पड़ा है, पर ऐसा अनिष्ट प्रसंग इससे पहले कभी न आया था। तबीयतको बहुत सम्हाला, पर 'अन्दरवाला' नहीं मानता। वह लोक-लाज छोड़कर सबके सामने खुलकर रोनेको मजबूर कर रहा है—

"हैरां हूं दिलको रोऊँ कि पीटूँ जिगरको मैं
मक़दूर हो तो साथ रक्खूँ नौहागरको मैं॥"

लाचारी है कोई 'नौहागर' नहीं मिलता। दोनोंका मातम अकेले मुझे ही करना पड़ेगा। एक मित्रके शरीर-वियोगकी दुःसह वेदना है तो दूसरेकी 'इख़लाक़ी मौतका' रोना है। सम्भव है कि मेरे लेखसे परलोकवासी एक मित्रकी आत्माको कुछ सन्तोष हो, पर दूसरेकी 'धृतः शरीरेण' आत्माको दुःख पहुंचेगा। इसका दुःख मुझे भी होगा, पर इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। दूसरे लोग इससे कुछ इबरत (शिक्षा) हासिल करें, तो उसे दिलके इस दुःखकी दवा समझकर मुझे तसल्ली होगी।

अन्तिम समय महाविद्यालयमें—उस महाविद्यालयमें, जिसमें उन्होंने अपनी सारी शक्तियां लगा दी थीं, अनेक बार अनेक आपत्तियोंसे बचाकर, जी-जान लगाकर और पाल-पोसकर जिसे इस दशामें पहुंचाया था—रुग्ण होकर आराम पानेकी इच्छासे जब वह यहां आये, तब श्रीमान् वेदतीर्थ पण्डित नरदेवजी शास्त्री मुख्याधिष्ठाताके पदपर विराजमान थे, और दुर्भाग्यसे यहीं थे। पं० भीमसेनजीसे इनका व्यवहार पहलेहीसे कुछ अच्छा न था, उनसे खटकते और खिंचे रहते थे। पं० भीमसेनजीने इनका

उपेक्षापूर्ण दुर्व्यवहार देखकर जानेका इरादा ज़ाहिर किया, तो आचार्यजीने उन्हें रोका और परिचर्याके प्रबन्धका ज़िम्मा अपने ऊपर लिया ; पर पं० भीमसेनजीको मुख्याधिष्ठाताका सहृदयता-शून्य व्यवहार सह्य न हुआ। एक दिन शामके वक़्त जब आचार्यजी बाहर घूमने गये हुए थे, रेलवे स्टेशनपर जानेके लिये तांगा मांगा। मुख्याधिष्ठाताजीके दरबारमें दरख़्वास्त मंजूर होते देर न लगी। फ़ौरन तांगा भिजवा दिया। स्वामीजी उसपर किसी तरह लदकर अकेले स्टेशनको चल दिये। मुख्याधिष्ठाताजीने इतना भी न किया कि जाते वक़्त उनसे ज़रा मिल तो लेते, आचार्यजीके लौटनेतक ही उन्हें न जाने देते! रस्म अदा करनेके तौरपर ही सही, एक-आध बार मना तो करते, और नहीं तो किसी आदमी-ही को साथ कर देते। भयानक गरमीका मौसम, लम्बा सफ़र, वृद्ध और रोगी शरीर—जिसमें बिना दूसरेके सहारे उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं, कहां कैसे पहुंचेगा, इतना ही सोचते! निष्ठुरसे निष्ठुर मनुष्य ऐसे अवसरपर पिघल जाता है, पर हमारे 'महामहिमशाली' मुख्याधिष्ठाताजीसे इतना भी न हुआ, जितना मामूलीसे मामूली आदमी ऐसी हालतमें कर गुज़रता है। इस लोकोत्तर लीलाका, इस अद्भुत महिमाका वर्णन करनेके लिये उपयुक्त शब्द नहीं मिलते! किसी सहृदय-शिरोमणि कारुणिक कविकी एक सुन्दर सूक्ति बार-बार याद आ रही है, वह इस जगह चिपककर रह जानेको उता-वली हो रही है। ज़बाने-हालसे कह रही है कि मैं इसी मौक़ेके लिये कही गई हूँ—क्रान्तदर्शी कविकी क़लमसे यहींके लिये

निकली हूं । बस, मुझे उठाकर यहां बिठा दो, फिर कुछ और कहनेकी—उपयुक्त शब्द ढूंढ़नेकी—ज़रूरत ही न रहेगी। जिगर थामकर सुनिये, सूक्ति कहती है—

"धिग् व्योम्नो महिमानमेतु दलशः प्रोच्चैस्तदीयं पदं,
निन्द्यां दैवगतिं प्रयात्वभवनिस्तस्यास्तु शून्यस्य वा।
येनोल्लिसकरस्य नष्टमहसः श्रान्तस्य सन्तापिनो-
मित्रस्यापि निराश्रयस्य न कृतं धृत्यै करालम्बनम् ॥'❀

मुख्याध्यापकजी महाविद्यालयसे गये और सदाके लिये—अपुनरावृत्तिके लिये—गये। अब वह किसीसे कुछ कहने-सुनने या किसीको कष्ट देने न आयँगे, पर उनकी यह अन्तिम यात्रा 'मित्र-घात'के इतिहासमें एक चिरस्मरणीय घटना रहेगी। सम्भव है, वह न जाते—यहीं रहते, तो भी न बचते, पर 'अकाल-मृत्यु' माननेवाले वैद्योंका और दूसरे दुनियादार लोगोंका ख्याल है कि यह यात्रा—उनके रोगकी वृद्धिका और अन्तमें महायात्रा—मृत्युका कारण हुई। उनके चित्तपर इस दुर्घटनासे असह्य आघात पहुंचा। उस समय निर्बलताके कारण उनसे उठा-बैठा तक न जाता था। तांगे—बैलगाड़ी—पर लादकर जो आदमी उन्हें स्टेशनपर छोड़ने

❀ वैभवशाली आकाशकी महिमाको धिक्कार है, उसका वह ऊँचा पद टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़े, उसे निन्दनीय दैवगति प्राप्त हो। अधिक क्या, उस शून्यका—हृदय-शून्यका—न होना ही अच्छा, जिसने अपने उस 'मित्र' (सूर्य) का भी विपत्तिके समय साथ न दिया, जो थका माँदा, तेजोहीन, सन्तप्त और निराश्रय होकर सहायताके लिये हाथ पसारे था—उसे न सम्हाला, करालम्बन करके—हाथ थामकर सहारा न दिया, विपत्सागरमें डूबनेके लिये छोड़ दिया!

गया था, उसने गठड़ीकी तरह उन्हें उठाकर रेलमें रक्खा था।

श्री आचार्यजी लौटकर जब महाविद्यालयमें पहुंचे और उन्हें मुख्याध्यापकजीके जानेका हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने फ़ौरन स्टेशनपर आदमी दौड़ाया, पर इतनेमें गाड़ी छूट चुकी थी, अफ़सोस करके रह गये। सिकन्दराबाद तक दो जगह गाड़ी बदलनी पड़ती है, देखनेवालोंको आश्चर्य था कि यह यहांतक इस हालतमें कैसे पहुंच सके!

सिकन्दराबाद पहुंचनेपर परिचर्या और सेवा-शुश्रूषामें वहांवालोंने अपनी शक्तिभर कोई बात उठा न रक्खी। मुख्याध्यापकजीके प्रधान शिष्य श्रीयुत पं० दिलीपदत्त उपाध्यायने जिस सच्ची लगन और श्रद्धा भक्तिसे अपने आदरणीय गुरुकी सेवा की; वह सहस्रमुखसे प्रशंसनीय है। मेरठके वैद्यराज पं० हरिशंकर शर्मा और सुप्रसिद्ध पं० रामसहायजी वैद्यराज बराबर चिकित्सा करते रहे, पर कुछ लाभ न हुआ। स्वामीजीने उस मृत्युरोगमें वैद्यराज पं० रामचन्द्रजीको कई बार याद किया, पर वैद्यजी अपने बहुतसे रोगियोंको छोड़कर इतनी दूर सिकन्दराबाद जा न सके। रोगीकी यह अन्तिम इच्छा पूरी न हो सकी।

एक महीना बीमार रह कर शुद्ध श्रावण वदि ६ सोमवार संवत् १९८५ (ता० ९-७-१९२८ ई०) को स्वामीजी चोला छोड़कर परम-पदको प्राप्त हो गये।

मुख्याध्यापकजीकी मृत्युका समाचार दसों दिशाओंमें तारा-द्वारा पहुंचाकर कर्तव्यपरायणताका जो परिचय दिया गया, वह भी

अद्भुत है। तारकी इबारतसे यही मालूम होता था कि महाविद्यालयकी पवित्र भूमिमें—तार देनेवाले मुख्याधिष्ठाताजीकी देख-रेखमें मित्र-मण्डलीकी शीतल छायामें—यह दुर्घटना घटी है! मुख्याध्यापकजीके सम्बन्धमें यही कर्तव्य शेष था, सो श्रीमान्‌ने उसकी भी तत्काल समस्या-पूर्ति कर दी। ऐसे ही मौक़ेपर किसी मरनेवालेकी आत्माने यह कहा होगा—

'आये तुरबतपै बहुत रोये किया याद मुझे,
ख़ाक उड़ाने लगे जब कर चुके बरबाद मुझे।'

मुझे अपने दुर्भाग्यपर भी क्रोध आ रहा है। अपनी इस बदनसीबीका अफ़सोस भी कुछ कम नहीं है कि अन्त समयमें सेवा तो क्या दर्शन भी न कर सका! पहले तो समझता रहा कि मामूली बीमारी है। बादको जब वैद्य पं० हरिशंकरजीके पत्रसे मालूम हुआ कि रोग चिन्ताजनक है, तो मैंने सिकन्दराबाद जानेका इरादा किया, पर दुर्भाग्यसे (सन्मित्रके अन्तिम दर्शनसे वञ्चित रखनेके कारण मैं तो इसे सदा दुर्भाग्य ही समझूंगा) उसी समय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापतित्वका पाश मेरी गर्दनमें आ पड़ा, उसने जकड़ लिया। सम्मेलनका समय समीप आ गया था, उसके झमेलेमें फँस गया, सोचा कि अच्छा, सम्मेलनसे लौटता हुआ दर्शन करूँगा, पर सम्मेलनके बाद भी मुझे सम्मेलनके कार्यके लिये १०-१५ दिन उधर ही—विहारमें रहना पड़ गया। वापसीमें लखनऊ पहुंचकर सिकन्दराबाद जानेका संकल्प कर ही रहा था कि उसी दिन समाचारपत्रोंमें पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थका

तार पढ़ा—'महाविद्यालयके मुख्याध्यापकजीका : देहान्त हो गया।' इस तड़ित्समाचारने दिलपर बिजली गिरा दी! सारे मन्सूबे खाकमें मिला दिये! मनकी मनही में रह गई! बार-बार अपनेको धिक्कारता था कि कमबख्त! सब काम छोड़कर समय रहते वहां क्यों न पहुंचा! पीछे यह मालूम करके और भी अधिक परिताप और पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने महायात्रासे पहले मुझे कई बार याद किया कि 'वह कहां हैं, बुलाओ एक बार आकर मिल तो जायँ'। उपाध्यायजीको पता न था कि मैं कहां हूँ। उन्होंने कांगड़ी गुरुकुलके पतेपर पत्र लिखा, जो मृत्युके कई दिन बाद गुरुकुलमें आनेपर मुझे मिला।

कुछ समझमें नहीं आता कि अपने इस अक्षम्य अपराधके लिये उस स्वर्गीय आत्मासे क्या कहकर क्षमा मांगूँ! निस्सन्देह मेरा अभागा शरीर वहां न पहुंच सका, पर दिल बराबर वहीं चक्कर काटता रहा। उनके ख्यालसे ग़ाफ़िल नहीं रहा—

'गो मैं रहा रहीने-सितम-हाय, रोज़गार,
लेकिन तेरे ख़यालसे ग़ाफ़िल नहीं रहा!'

रोग, शोक, परिताप, बन्धन और व्यसनोंसे परिपूर्ण इस जीवन-जंजालमें कई इष्ट मित्रोंके बिछड़नेका दारुण दुःख झेलना—वियोग-विष घूंटना पड़ा है, पर पण्डित गणपतिजीकी मृत्युके पश्चात् यह दूसरा मित्र-वियोग तो असह्य प्रतीत हो रहा है। अन्दरसे बार-बार यही आवाज़ आ रही है :—

'क्या उन्हीं दोनोंके हिस्सेमें क़ज़ा थी मैं न था!'

पण्डित श्रीसत्यनारायण कविरत्न

पण्डित सत्यनारायण, सरलताकी—विनयकी—मूर्त्ति, स्नेहकी प्रतिमा और सज्जनताके अवतार थे। जो उनसे एक बार मिला, वह उन्हें फिर कभी न भूला। मुझे वह दिन और वह दृश्य अबतक याद है। सन् १९१५ ई० में,—(अक्टूबर के अन्तिम सप्ताहमें) उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ था। पण्डित मुकुन्दरामजीका तार पाकर वह ज्वालापुर आये थे। मैं उन दिनों वहीं महाविद्यालयमें था। वह स्टेशनसे सीधे (पं० मुकुन्दरामके साथ) पहले मेरे पास पहुंचे। मैं पढ़ा रहा था। इससे पूर्व कभी देखा न था, आनेकी सूचना भी न थी। सहसा एक सौम्य मूर्त्तिको विनीत भावसे सामने उपस्थित देखकर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। दुपल्लू टोपी, वृन्दावनी बगलबन्दी, घुटनोंतक धोती, गलेमें अंगोछा। यह वेष-भूषा थी। आँखोंसे स्नेह बरस रहा था। भीतरकी स्वच्छता और सदाशयता मुस्कराहटके रूपमें चेहरेपर झलक रही थी। उस समय 'किरातार्जुनीय'-का पाठ चल रहा था। व्यास-पाण्डव-समागमका प्रकरण था। व्यासजीके वर्णनमें भारविकी ये सूक्तियाँ छात्रोंको समझा रहा था—

'प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्'
'माधुर्य-विस्रम्भ-विशेष-भाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन'।

इन सूक्तियोंके मूर्तिमान अर्थको अपने सामने देखकर मेरी

आँखें खुल गईं। इस प्रसंगको सैकड़ों बार पढ़ा, पढ़ाया था, पर इसका ठीक अर्थ उसी दिन समझमें आया। मैं समझ गया कि हों न हों, यह सत्यनारायणजी हैं; पर फिर भी परिचय-प्रदानके लिये पं० मुकुन्दरामजीको इशारा कर ही रहा था कि आपने तुरन्त अपना यह मौखिक 'विज़िटिंग कार्ड' हृदयहारी टोनमें स्वयं पढ़ सुनाया :—

'नवल-नागरी-नेह-रत, रसिकन ढिंग बिसराम।
आयौ हौं तुव दरस कौं, सत्यनरायन नाम॥'

मुझे याद है, उन्होंने 'निरत नागरी' कहा था, (सत्यनारायणजीकी जीवनीमें इसी रूपमें, यह छपा भी है) 'निरत' 'रत' में पुनरुक्ति समझकर मैंने कहा—'नवल नागरी' कहिये तो कैसा? फ़िक़रा चुस्त हो जाय। हस्बहाल मज़ाक़ (समयोचित विनोद) समझकर वह एक अजीव भोलेपनसे मुसकराने लगे, बोले—'अच्छा, जैसी आज्ञा।'

यह पहली मुलाक़ात थी। इस मौक़े पर शायद दो दिन पं० सत्यनारायणजी ज्वालापुर ठहरे थे। उनके मुखसे कविता-पाठ सुननेका अवसर भी पहली बार तभी मिला था।

सत्यनारायणजीसे मेरी अन्तिम भेंट दिसम्बर १९१७ ई० में हुई थी, जब वह 'मालतीमाधव' का अनुवाद समाप्त करके हम लोगोंको—मुझे और साहित्याचार्य श्रीपण्डितशालग्रामजी शास्त्रीको—सुनानेके लिये ज्वालापुर पधारे थे। परामर्शानुसार अनुवादकी पुनरालोचना करके छपानेसे पहले एक बार फिर दिखा-

नेको कह गये थे, पर फिर न मिल सके। उनके जीवन-कालमें दो बार मैं धाँधूपुर भी उनसे मिलने गया था। एक बारकी यात्रामें श्री पं० शालग्रामजी साहित्याचार्य भी साथ थे। उनकी मृत्युके पश्चात् भी दो तीन बार मैं धाँधूपुर गया हूं और सत्यनारायणकी यादमें जी खोलकर रो आया हूँ। अब भी जब उनकी याद आती है, जी भर आता है। एक प्रोग्राम बनाया था कि दो-चार व्रज-भाषा-प्रेमी मित्र मिलकर छः महीने व्रजमें घूमें, व्रजकी रजमें लोटें, गाँवोंमें रहकर जीवित व्रजभाषाका अध्ययन करें, व्रजभाषा-के प्राचीन ग्रन्थोंकी खोज करें, व्रजभाषाका एक अच्छा प्रामाणिक-कोष तयार करें। ऐसी बहुत सी बातें सोची थीं, जो उनके साथ गईं और हमारे जीमें रह गईं! अफ़सोस!

'ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था!'।

सत्यनारायणजीके कविता-पाठका ढंग बड़ा ही मधुर और मनोहारी था। सहृदय भावुक तो बस सुनकर बे-सुधसे हो जाते थे, वह स्वयं भी पढ़ते समय भावावेशकी सी मस्तीमें झूमने लगते थे। व्रजभाषाकी कोमल कान्त पदावली और सत्यनारायणजीका कोकिल-कण्ठ, 'हेम्नः परमामोदः'—सोने-सुगन्धका योग और मणि-काञ्चनका संयोग था। पठ्यमान—गीयमान—विषयका आँखोंके सामने चित्र सा खिंच जाता था और वह हृदय-पट पर अङ्कित हो जाता था। सुनते सुनते तृप्ति न होती थी। कविता सुनाते समय वह इतने तल्लीन हो जाते थे कि थकते न थे। सुनाने-का जोश और स्वर-माधुर्य, उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। उच्चारणकी

विस्पष्टता, स्वरकी स्निग्ध गम्भीरता, गलेकी लोचमें सोज़ और साज़ तो था ही, इसके सिवा एक और बात भी थी, जिसे व्यक्त करनेके लिये शब्द नहीं मिलता। किसी शाइरके शब्दोंमें यही कह सकते हैं :—

'ज़ालिममें थी इक और बात इसके सिवा भी।'

सत्यनारायणजीके श्रुति-मधुर स्वरमें सचमुच मुरलीमनोहरके वंशीरवके समान एक सम्मोहनी शक्ति थी, जो सुननेवालों पर जादूका सा असर करती थी। सुननेवाला चाहिये, चाहे जब-तक सुने जाय, उन्हें सुनानेमें उज्र न था। एक दिन हमलोग उनसे निरन्तर ६—७ घंटे कविता सुनते रहे, फिर भी न वह थके, न हमारा जी भरा।

सत्यनारायण स्वाभाविक सादगीके पुतले थे ; गुदड़ीमें छिपे लाल थे। उनकी भोली भाली सूरत, ग्रामीण वेष-भूषा, बोल-चाल में ठेठ व्रजभाषा, देख-सुनकर अनुमान तक न हो सकता था कि इस करामाती चोलेमें इतने अलौकिक गुण छिपे हैं ! उनकी सादगी सभा-सोसाइटियोंमें उनके प्रति अशिष्ट व्यवहारका कारण बन जाती थी। इसकी बदौलत उन्हें कभी-कभी धक्के तक खाने पड़ते थे। प्लेटफ़ार्मकी सीढ़ियों पर मुश्किलसे बैठने पाते थे ! उनकी जीवनीमें ऐसे कई प्रसङ्गोंका उल्लेख है। इस प्रकारकी यह एक घटना उन्होंने स्वयं सुनाई थी :—

मथुराजीमें स्वामी रामतीर्थजी महाराज आये हुए थे। खबर पाकर सत्यनारायणजी भी दर्शन करने पहुंचे। स्वामीजीका

व्याख्यान होनेको था ; सभामें श्रोताओंकी भीड़ थी; व्याख्यानका नान्दी-पाठ—मंगलाचरण—हो रहा था, अर्थात् कुछ भजनीक भजन अलाप रहे थे। सद्यःकवि लोग अपनी-अपनी ताज़ी तुकबन्दियाँ सुना रहे थे। सत्यनारायणजीके जीमें भी उमङ्ग उठी ; यह भी कुछ सुनानेको उठे। व्याख्यान-वेदिकी ओर बढ़े, आज्ञा माँगी, पर 'नागरिक' प्रबन्धकर्ताओंने इस 'कोरे सत्य, ग्रामके वासी' को रास्तेमें ही रोक दिया ! दैवयोगसे उपस्थित सज्जनोंमें कोई इन्हें पहचानते थे। उन्होंने कह-सुनकर किसी तरह ५ मिनटका समय दिला दिया। वेदिके पास पहुंचकर श्रीकृष्णभक्तिके दो सवैये इन्होंने अपने खास ढंगमें इस प्रकार पढ़े कि सभामें सन्नाटा छा गया ; भावुक-शिरोमणि श्रीस्वामी रामतीर्थजी सुनकर मस्तीमें झूमने लगे। ५ मिनटका नियत समय समाप्त होने पर जब यह बैठने लगे तब स्वामीजीने आग्रह और प्रेमसे कहा कि अभी नहीं, कुछ और सुनाओ। यह सुनाते गये और स्वामीजी अभी और, अभी और, कहते गये ; व्याख्यान सुनाना भूलकर कविता सुननेमें मग्न हो गये ! ५ मिनटकी जगह पूरे पौन घंटे तक कविता-पाठ जारी रहा। मथुराकी भूमि, व्रजभाषामें श्रीकृष्ण-चरितकी कविता, भावुक भक्त-शिरोमणि स्वामी रामतीर्थका दरबार, इन्हें और क्या चाहिये था :—

'मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः'

का सुन्दर सुयोग पाकर रस-वृष्टिसे सबको शराबोर कर दिया—यमुना-तटपर व्रजभाषा-सुरसरीकी हिलोरमें सबको डुबो

दिया। कहा करते थे, वैसा आनन्द कविता-पाठमें फिर कभी नहीं आया !

हिन्दी-साहित्यकी निःस्वार्थ सेवा और ब्रजभाषाकी कविता-का प्रचार,—लोकरुचिको उसकी ओर आकृष्ट करना, ब्रज-कोकिल सत्यनारायणके जीवनका मुख्य उद्देश था। उन्होंने भिन्न-भाषा-भाषी अनेक प्रसिद्ध पुरुषोंके अभिनन्दनमें जो प्रशस्तियाँ लिखी हैं, उनमें प्रशस्ति-पात्रोंसे यहीं अपील की है :—

'जैसी करी कृतारथ तुम अँग्रेजी भाषा,
तिमि-हिन्दी उपकार करहुगे ऐसी आशा।'

—(कवीन्द्र रवीन्द्रके अभिनन्दन में)—

'नित ध्यान रहे तव हृदयमें ईशचरन-अरविन्द को।
प्रिय सजन, मित्र निज छात्रजन हिन्दी हिन्दू हिन्द को।'

—(डाब्सन साहबके अभिनन्दनमें)—

स्वामी रामतीर्थजीके वह इसलिये भी अनन्य भक्त थे कि उन्हें—'ब्रज-ब्रजभाषा-भक्त भक्ति-रस रुचिर रसावन' समझते थे। अपने समयके महापुरुषोंमें सबसे अधिक भक्ति उनकी स्वामी रामतीर्थजीहीमें थी। स्वामीजी भी सत्यनारायणजीके गुणोंपर मुग्ध थे। उन्हें अपने साथ अमेरिका ले जानेके लिये बहुत आग्रह करते रहे, पर सत्यनारायणजी अपने गुरुकी बीमारीके कारण न जासके, और इसका सत्यनारायणजीको सदा पश्चात्ताप रहा। अस्तु, सत्य-नारायण, सभा-सोसाइटियोंमें भी इसी उद्देशसे कष्ट उठाकर सम्मिलित होते थे, जैसा कि उन्होंने एक बार अपने एक मित्रसे कहा था—

'मैं तो व्रजभाषा की पुकार लै कैं जरूर जाऊंगो' और कछू नायँ तो व्रज-भाषा-सुरसरीकी हिलोरमें सबको भिजायँ तो आऊंगो।'

सत्यनारायण मनसा, वाचा, कर्मणा, हिन्दीके सच्चे उपासक थे, और अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार और भाव-भाषासे प्राचीन हिन्दुत्व और भारतीयताके पूरे प्रतिनिधि थे। बी० ए० तक अंग्रेजी पढ़कर और अँगरेज़ीके विद्वानोंकी संगतिमें रात-दिन रहकर भी वह अंगरेज़ीसे बचते थे। अनावश्यक अंगरेजी बोलनेका हमारे नवशिक्षितोंको कुछ दुर्व्यसन सा हो गया है। इनकी हिन्दीमें भी तीन तिहाई अंगरेज़ीकी पुट रहती है। सत्यनारायण इस व्यापक दुर्व्यसनका एक अपवाद थे।

एक बार जब वह ज्वालापुरमें आये हुए थे, हिन्दी-भाषाभाषी एक नवयुवक साधुसे मैंने उनका परिचय कराया। मैं भूलसे यह भी कह गया कि सत्यनारायणजी अंगरेज़ीके भी विद्वान् हैं। फिर क्या था, यह सुनते ही साधु-साहब प्लुत स्वरमें हां ३, कहकर लगे अंगरेज़ी उगलने। यद्यपि वार्तालापका विषय हिन्दी-भाषाका प्रचार था। 'साधु महात्मा' बराबर अंगरेज़ी बूंकते रहे और सत्यनारायणजी अपनी सीधी-सादी हिन्दीमें उत्तर देते रहे। कोई एक घण्टे तक यह अंगरेजी-हिन्दी-संग्राम चलता रहा, पर सत्यनारायणजीने एक वाक्य भी अंगरेज़ीका बोलकर न दिया, वह अपने व्रतसे न डिगे। अन्तमें हारकर साधु-साहबने पूछा—'क्या अंगरेज़ी बोलनेकी आपने क़सम तो नहीं खा रक्खी ?' इन्होंने गम्भीरतासे कहा—'मैं किसी भी ऐसे मनुष्यके साथ, जो

टूटी-फूटी भी हिन्दी बोल समझ सकता है, अंगरेजी नहीं बोलता। हिन्दी बोलने समझनेमें सर्वथा ही असमर्थ किसी अंगरेज़ीदांसे वास्ता पड़ जाय तो लाचारी है, तब अंगरेज़ी भी बोल लेता हूं।' उक्त साधु अंगरेज़ीके कोई बड़े विद्वान् न थे; इन्ट्रेन्स तक पढ़े थे। कुछ दिनों मद्रासकी हवा खा आये थे और उन्हें अंगरेज़ी बोलनेका संक्रामक रोग लग गया था।

सत्यनारायणजीने समय अनुकूल न पाया। कविताके लिये यह समय वैसे ही प्रतिकूल है, फिर व्रजभाषा की कविता-से तो लोगोंको कुछ राम-नामका वैर हो गया है। व्रजभाषाकी कविताका उत्कर्ष तो क्या, उसकी सत्ता भी आजकलके साहित्य-धुरन्धरोंको सह्य नहीं। सत्यनारायणजीके रोम रोम और श्वास श्वासमें व्रजभाषा और व्रजभूमिका अनन्य प्रेम भरा था। यह पूर्व जन्मकी प्रकृति थी—

'सतीव योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांससभ्येति भवान्तरेष्वपि।'

जन्मान्तरीण संस्कार थे, जो उन्हें बरबस इधर खींच रहे थे :—

'मोहूँ तो ब्रज छोड़िकें अन्त कहूँ अच्छौ नाय लगै गो!
मैं तो ब्रजमें ही आऊँगौ—मेरी व्रजकी ही वासना है।'
(जीवनी, पृष्ठ २४८)

उनके इन उद्गारोंसे दृढ़ धारणा होती है कि अष्ट-छापवाले किसी महाकवि महात्माकी आत्मा सत्यनारायणके रूपमें उतरी थी! अन्यथा इस......कालमें यह सब कुछ कब सम्भव था!

यह तो दलबन्दीका ज़माना है, विज्ञापनबाज़ीका युग है, सब प्रकार-की सफलता 'प्रोपगंडा' पर निर्भर है, जिसे इन साधनोंका सहारा मिला, वह गुबारा बनकर ख्यातिके आकाशमें चमक गया। ग़रीब सत्यनारायणको कोई भी ऐसा साधन उपलब्ध न था। यही नहीं, भाग्यसे उन्हें कुछ मित्र भी ऐसे मिले, जिन्होंने उनके बेहद भोले-पन को अपने मनोविनोदकी सामग्री या तफ़रीह-तबाका सामान समझा; जिन्होंने दाद देने या उत्साह बढ़ानेकी जगह उनकी तथा ब्रजभाषाके अन्य कवियोंकी, कविताओंकी हास्योत्पादक समालोचना करके उन्हें बनाना ही सन्मित्रका कर्तव्य समझ रक्खा था। और हाय उनकी उस जन्मभरकी कमाई 'हृदय-तरङ्गको' जिसे याद करके वह सदा दुःखके साँस लेते रहे, दरिद्रके मनोरथकी गतिको पहुंचानेवाले भी तो उनके सुहृच्छिरोमणि कोई सज्जन ही थे! ऐसी प्रतिकूल परिस्थितिमें पलकर और ऐसी 'क़द्रदान' सोसा-इटी पाकर भी आश्चर्य है, सत्यनारायण 'कविरत्न' कैसे कहला गये! इसे स्वामी रामतीर्थ जैसे सिद्ध महात्माका आशीर्वाद या अदृष्टकी महिमा ही समझना चाहिए।

सत्यनारायणके सद्गुणोंका पूर्ण परिचय अभी संसारको प्राप्त नहीं हुआ था। नन्दन-काननका यह पारिजात अभी खिलने भी न पाया था कि संसारकी विषैली वायुके झोकोंने झुलस दिया! ब्रजकोकिलने पञ्चममें आलाप भरना प्रारम्भ ही किया था कि निर्दय काल-व्याधने गला दबा दिया! 'भारतीय आत्मा' कृष्णको पुकारती ही रह गयी और कोकिल उड़गया!—

—'वह कोकिल' उड़ गया, गया, वह गया। कृष्ण! दौड़ो आओ'

संसारमें समय-समयपर और भी ऐसी दुर्घटनाएं हुई हैं; पर सत्यनारायणका इस प्रकार आकस्मिक वियोग भारत-भारती हिन्दी-भाषाका परम दुर्भाग्य ही कहा जायगा।

सत्यनारायणकी जीवनीमें उनके सार्वजनिक जीवनपर, उनकी साहित्य-सेवा और व्यक्तित्वपर, अनेक विद्वानोंने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे विचार किया है, और खूब किया है; कोई बात बाकी नहीं छोड़ा। मैं भी प्यारे सत्यनारायणकी यादमें 'चार-आंसुओंकी' यह जलाञ्जलि दे रहा हूं। मेरी इच्छा थी कि उनकी कवितापर (और देखाजाय तो यही उनका वास्तविक जीवन था) ज़रा और विस्तृत रूपसे विचार करूं। पर सोचनेपर अपनेमें इस कार्यकी पात्रता न पाई, क्योंकि मैं व्रजभाषाकी कविताका पक्षपाती प्रसिद्ध हूं, और सत्यनारायण मेरे मित्र थे। सत्यनारायणकी कविताकी समालोचनाका यथार्थ अधिकारी कोई तटस्थ विद्वान् ही हो सकता है, जो इस समय तो नहीं, पर कभी आगे चलकर सम्भव है—

'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'

दुर्भाग्यकी बात है कि सत्यनारायणजीकी उत्कृष्ट कविताका अधिकांश 'यार लोगोंकी इनायत' से नष्ट होगया। जिसके लिये वह अन्त समयतक तड़पते रहे। फिर भी उनकी बची-खुची जो कविता इस समय उपलब्ध है, वह उन्हें कमसे कम 'कवि-रत्न' प्रमाणित करनेके लिये, मैं समझता हूं, पर्याप्त है। भले ही कुछ समालोचक उन्हें 'महाकवि' माननेको तयार न हों; अपनी-अपनी

समझ ही तो है। सत्यनारायणके सम्बन्धमें यह विवाद उठ चुका है। व्रजभाषाके प्रवीण पारखी श्रीवियोगी हरिजीने 'व्रजमाधुरी-सार' में लिखा है—

'इसमें सन्देह नहीं कि सत्यनारायणजी व्रजभाषाके एक महाकवि थे'।

इसपर एक विद्वान् समालोचकने यह कहकर आपत्ति की—

'...'सत्यनारायणको महाकवि कहना उनकी स्तुति भले ही हो, पर उसका औचित्य भी माननेके लिये कमसे कम हम तो तय्यार नहीं हैं।'—

इसपर वियोगी हरिजीने 'नम्र निवेदन' किया—

"जो कवि एक आलोचककी दृष्टिमें महाकवि है, वही दूसरेकी नज़रमें साधारण कवि भी नहीं है। स्वर्गीय सत्यनारायणको अभी चाहे कोई महाकवि न माने, पर कुछ कालके बाद वे निःसंदेह महाकवियोंकी श्रेणीमें स्थान पायँगे। यह अनुमान मुझे महाकवि भवभूति, वर्डसूवर्थ और देवका स्मरण करके हुआ है।"—('सम्मेलन-पत्रिका', भा० ११, अं० १०)

भगवान् करे ऐसा ही हो। अब न सही, आगे चलकर ही सत्यनारायणको समझनेवाले पैदा हों और श्रीवियोगी हरिजीकी इस सूक्तिका अनुमोदन करें—

'जग-व्योहारन भोरौ कोरौ गाम-निवासी,
व्रज-साहित्य-प्रवीन काव्य-गुन-सिन्धु-विलासी।
रचना रुचिर बनाय सहज ही चित आकरषै,
कृष्ण-भक्ति अरु देश-भक्ति आनँद रस बरषै।
पढ़ि 'हृदय-तरंग' उमंग उर प्रेमरंग दिन-दिन चढ़ै।
छबि सरल सनेही सुकवि श्रीसत्यनरायन जसु बढ़ै॥'

(—कविकीर्तन)

सत्यनारायणकी जीवनी करुण-रसका एक दुःखान्त महा-नाटक है। जिस प्रतिकूल परिस्थितिमें उन्हें जीवन बिताना पड़ा और फिर ज़िस प्रकार उन्हें 'अनचाहतको संग' के हाथों तंग आकर समयसे पहले ही संसारसे कूच करनेके लिए विवश होना पड़ा, उसका हाल पढ़-सुनकर किसी भी सहृदयको उनकी भाग्यहीनता पर दुःख और समवेदना हो सकती है। पर एक बातमें सैकड़ोंसे वह बड़े ही सौभाग्यशाली सिद्ध हुए। गहन-अन्धकारमें भटकतेको दीपक दीख गया ; अपार-सागरमें थके हुए पंछीको मस्तूल मिल गया ; सत्यनारायणको मरनेके बाद ही सही, 'चुपकी दाद देनेवाला' एक 'भारतीय हृदय', मुर्दा हड्डियोंमें जान डालने-वाला—यशःशरीर पर दया दिखानेवाला—एक 'मसीहा' मिल गया। जिसके कारण सत्यनारायणकी स्वर्गीय, संतप्त आत्मा अपने सांसारिक जीवनकी समस्त दुःखदायी दुर्घटनाओंको भूलकर सन्तोषकी साँस ले सकती है, और अन्यान्य परलोकवासी हिन्दीके वे अभागे कवि, लेखक जिनका नाम भी यह कृतघ्न और स्वार्थी संसार भूल गया, सत्यनारायणकी इस खुशनसीबी पर रश्क कर सकते हैं, उनकी इस सौभाग्य-शालिताको स्पृहाकी दृष्टिसे देख सकते हैं। यही नहीं, हिन्दीके अनेक जीवित लेखक और कवि भी, यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि मुर्दोंको ज़िन्दा करनेवाला कोई ऐसा 'मसीहा' हमें भी मिल जायगा, तो सुखपूर्वक इस संसारसे सदाके लिये विदा होनेको उस लेडीकी तरह तयार हो जायँ, जिसने आगरेके 'ताज' को देखकर अपने पति द्वारा यह पूछा जाने पर

कि—'कहो इस अद्भुत इमारतके विषयमें तुम्हारी क्या राय है ?' उत्तर दिया था कि 'मैं इसके सिवा कुछ नहीं कह सकती कि यदि आप मेरी क़ब्र पर ऐसा स्मारक बनावें तो मैं आज ही मरनेको तयार हूँ।' मेरा मतलब सत्यनारायणजीकी जीवनीके लेखक 'भारतीय-हृदय' पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदीसे है। चतुर्वेदीजीकी परदुःखकातरता और दीनबन्धुता प्रसिद्ध है। प्रवासी भारतवासियोंकी राम-कहानी सुनानेमें जो काम आपने किया है, वह बड़े-बड़े दिग्गज भी न बन पड़ा।

अब उससे भी महत्त्व-पूर्ण कार्यमें आपने हाथ लगाया है। अर्थात् साहित्य-सेवियोंकी—(जिनकी रामकहानी प्रवासी भारत-वासियोंसे कुछ कम करुणाजनक नहीं है)—जीवनी लिखनेका पुण्य कार्य प्रारम्भ कर दिया है, जिसका श्रीगणेश सत्यनारायणकी इस जीवनीसे हुआ है। इसके सम्पादनमें जितना परिश्रम चतु-र्वेदीजीने किया हैं, वह उन्हींका काम था और इसकी जितनी दाद दी जाय, कम है। हिन्दी-संसारमें अपने ढंगका यह बिलकुल नया अनुष्ठान है। यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि हिन्दीके किसी भी कवि या लेखककी जीवनीका मसाला, उसकी मृत्युके बाद, इस परिश्रम, लगन और खोजके साथ इकट्ठा नहीं किया गया। जाननेवाले जानते हैं कि सत्यनारायणकी जीवनीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक एक चिट्ठीके लिये जीवनी-लेखकको कितना भगीरथ-प्रयत्न करना पड़ा है। यदि इन सब बातोंका उल्लेख किया जाय तो एक ख़ासा जासूसी उपन्यास तयार हो जाय। जो चाहे,

सत्यनारायणजीकी जीवनीके उस मसालेको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके कार्यालयमें जाकर देख सकता है।

सच तो यह है कि सत्यनारायणजीकी जीवनी पण्डित बनारसीदासजी ही लिख सकते थे। यों कहनेको सत्यनारायण-जीके अनेक अन्तरङ्ग और गाढ़े मित्र थे, और हैं; पर मित्रताका नाता चतुर्वेदीजीने ही निबाहा है। मानो मरते वक्त सत्यनाराय-णकी आत्मा इनके कानमें कह गयी थी :—

'यों तो मुँह देखेकी होती है मुहब्बत सबको।
मैं तो तब जानूँ मेरे बाद मेरा ध्यान रहे॥'

जीवनी लिखनेका उपक्रम करके चतुर्वेदीजी प्रवासी भारत-वासियोंके पुराने राज-रोगमें फँसकर जीवनीके कार्यको स्थगित कर बैठे थे, इसपर मैंने तक़ाज़ेके दो तीन पत्र लिखकर उन्हें जीवनीकी याद दिलाई, शीघ्र पूरा करनेकी प्रेरणा की, और पूछा कि क्या इस पचड़ेमें पड़कर सत्यनारायणको भी भूल गये? इसके उत्तरमें जो पत्र उन्होंने लिखा, उसके एक-एक शब्दसे निःस्वार्थ प्रेम, गहरी सहृदयता और सच्ची सहानुभूति टपकती है। मैं उस पत्रका कुछ अंश इस अभिप्रायसे यहां उद्धृत करना चाहता हूं कि मित्रताका दम भरनेवाले और बात-बातपर सहृदयताको डींग मारनेवाले हम-लोग उसे पढ़ें, सोचें और हो सके तो कुछ शिक्षा भी ग्रहण करें। (चतुर्वेदीजी इस 'दोस्त-फ़रोशी'के लिगे मुझे क्षमा करें)—'भारतीय हृदय' ने लिखा था :—

"......सत्यनारायणके अन्य मित्र उन्हें भले ही भूल जायँ;

पंडित श्रीसत्यनारायणजी कविरत्न तथा उनके गुरुजी

पर मैं कभी नहीं भूल सकता। जितना लाभ उनकी जीवनीसे मुझे हुआ है, उतना किसी दूसरेको नहीं हो सकता। उनकी कविताओंने मेरा मनोरंजन किया है, उनके गृहजीवनके दुःखान्त नाटकने मुझे कितनी ही बार रुलाया है, उनकी निःस्वार्थ साहित्य-सेवाने मेरे सामने एक अनुकरणीय दृष्टान्त उपस्थित किया है, उनकी 'हृदय-तरंग' ने मुझे कीर्ति प्रदान की है। उनकी सरलताके स्मरणने मुझे समय-समयपर अलौकिक आनन्द दिया है,—(उनके सा भोलापन भला कहां मिल सकता है ?) और उनके निष्कपट व्यवहार और प्रेमपूर्ण स्वभावकी स्मृतिने मेरे हृदयको कितनी ही बार द्रवित करके पवित्र किया है। ....'जीवनके कण्टकाकीर्ण पथमें जब निराशाके मेघ हमें भयभीत करेंगे, जब चारों ओर व्याप्त 'व्यापारिकता' का अन्धकार चित्तको बेचैन करेगा, जब धनका भूत साहित्य-क्षेत्रको अपनी भयंकर क्रीड़ाओंसे कलङ्कित करेगा, उस समय सत्यनारायणका निःस्वार्थ साहित्यमय जीवन विद्युज्ज्योतिका काम देकर हमारे पथको आलोकित करेगा।......सत्यनारायणजी उस संक्रामक भयंकर रोगसे, जिसका नाम व्यापारिकता Commercialism है, और जो कुछ हिन्दी-साहित्य-सेवियोंको बेतरह ग्रस रहा है, बिलकुल मुक्त थे। न उन्होंने धनके लिये लिखा, न कीर्तिके लिये। जैसे कोकिलका स्वभाव ही मधुर स्वरसे गान करना है उसी प्रकार उस ब्रज-कोकिलका स्वभाव ही सुन्दर कविताका गान करना था'...'ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अनेक साहित्यसेवी, 'सहृदयता' के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। दूसरोंको उत्साहित करना दूसरेके गुणोंकी प्रशंसा करके उन्हें ऊँचे उठाना धैर्य-पूर्वक दूसरोंकी आकांक्षाओंको सुनना और उन्हें यथोचित परामर्श देना, ये बातें तो वे जानते ही नहीं। विद्वान् तो संसा-

रमें बहुतसे हैं, लेखक भी सहस्रों हैं, पर सहृदय कितने हैं ? सच बात तो यह है कि हृदयहीन विद्वान्‌के सम्मुख मेरी तबीयत तो घबराती है, मुझे इस बातकी आशंका है कि हिन्दी-साहित्य-सेवी व्यापारिकताके कारण अपने कोमल भावोंको तिलांजलि देकर शुष्क 'पुस्तक-लेखक-मशीन' बनते जा रहे हैं।......"—

जीवनी लिख चुकनेके बाद चतुर्वेदीजीने एक पत्रमें मुझे लिखा था :—

...'सत्यनारायणजीके विषयमें मैंने ये कई काम सोचे थे—

(१) बची-खुची फुटकर कविताओंका संग्रह—यह 'हृदय-तरङ्ग' के नामसे प्रकाशित हो चुका है।

(२) जीवनचरित—यह समाप्त करके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनको दे दिया गया है। इसके लिए मुझे चार बार धांधूपुर जाना पड़ा, सैकड़ों ही चिट्ठियां लिखनी पड़ीं, उनके बीसियों मित्रों-से मिलना पड़ा।

(३) चित्र—एक रङ्गीन चित्र अपने पाससे १००) रु० व्यय करके भारती-भवन फ़ीरोज़ाबादको दिया, और भारत-भक्त एन्ड्रूज़ साहबको फ़ीरोज़ाबाद लाकर उसका उद्‌घाटन-संस्कार कराया और दूसरा चित्र ४५) रु० व्यय करके प्रयाग हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनको दिया।

(४) सत्यनारायण कुटीर—इसके लिये ८००) इकट्ठे करनेका वादा कर चुका हूं, जिसमें से ३२४) भिजवा चुका हूं।

सत्यनारायणजीकी 'जीवनी' से या उनके 'हृदय-तरंग' से

एक पैसा मैंने नहीं कमाया। इसमें अपने पाससे कमसे कम ३००)
व्यय कर चुका हूं।..."

पण्डित सत्यनारायणके चरित्रमें चतुर्वेदीजीका कितना अधिक अकृत्रिम अनुराग है, इसका कुछ आभास उक्त अवतरणोंसे मिल जायगा, इससे भी अधिक भक्ति-भावकी झलक देखनी हो तो जीवनीका अन्तिम अध्याय—'मेरी तीर्थयात्रा' ध्यानसे पढ़ जाइये। जबतक किसी चरित्र-लेखककी चरित्र-नायकके साथ इतनी गहरी हार्दिक सहानुभूति न हो—उसपर ऐसी अशिथिल श्रद्धा न हो,—तबतक इस प्रकारका चरित्र लिखा ही नहीं जा सकता। उक्त अवतरणोंके उद्धरणसे यहाँ यही दिखाना इष्ट है।

परमात्मा दया करके 'भारतीय-हृदय' का सा विशाल, सहानुभूति-पूर्ण और प्रेमी हृदय हम सबको भी प्रदान करे, जिससे हम लोग अपने साहित्य-सेवियोंका सम्मान करना सीखें और अपने सन्मित्रोंकी स्मृति और कीर्ति-रक्षाके लिये इनके समान प्रयत्नशील हो सकें।

चतुर्वेदीजीने सत्यनारायणके अनेक मित्रोंको कीर्तिशेष, स्वर्गीय मित्रके गुणगान-द्वारा वाणी और हृदय पवित्र करनेका अवसर देकर उनपर एक बड़ा उपकार किया है। मैं चतुर्वेदीजीका कृतज्ञ हूं कि मुझे भी उन्होंने इस बहाने सत्यनारायणकी यादमें 'चार आंसू' बहानेका मौका देकर अनुगृहीत किया।

मैं प्रत्येक सहृदय साहित्यप्रेमीसे सत्यनारायणकी इस जीवनीकी राम-कहानी पढ़नेकी सानुरोध प्रार्थना करूँगा।

कविरत्न पं० श्रीनवनीतलाल चतुर्वेदी

'रंगीं है आजकलके गुले-नौ-बहारसे;
अगला जो बर्गे-ज़र्द कोई इस चमनमें है।'

ब्रज-भाषाकी पुरानी फुलवारीके पीले पत्ते (बर्गे-ज़र्द) श्रीयुत पण्डित नवनीतलाल चतुर्वेदी उपनाम 'नवनीत' उक्त सूक्तिका वर्तमान उदाहरण हैं। ७० वर्षसे ऊपरके इन महाकविका दर्शन करके, प्राचीन कवि-समाजका चित्र आंखोंमें फिर जाता है। आपके मुखसे ब्रज-भाषाकी रस-भरी कविता सुनकर मन मस्त हो जाता है और आजकलके गुले-नौ-बहार—(कविता-वसंत-वाटिकाके नये फूल) सचमुच 'निर्गन्धा इव किंशुकाः' से प्रतीत होने लगते हैं। जब आप अपने देखे-भाले और परम्पराश्रुत प्राचीन कवियोंकी कथा सुनाते हैं, तो आजकलकी दशासे तुलना करके चित्त-पर चोट-सी लगती है। बेअख्तियार मुंहसे निकल पड़ता है—'दौड़ पीछेकी तरफ़ ऐ गर्दिशे-अय्याम! तू।' नवनीतजीकी प्रशंसा तो कविवर रत्नाकरजीसे कई बार सुनी थी; पर साक्षात्कारका सौभाग्य कभी प्राप्त न हुआ था। गत श्रावणकी ब्रज-यात्रामें दैवयोगसे यह सुयोग हाथ आ गया। बहुत पुराना मनोरथ पूरा हो गया। विद्वद्वर पंडित श्रीहरिनाथजी शास्त्री (वृन्दावन, गुरुकुलके दर्शनाध्यापक) की कृपासे कविरत्नजीका दर्शन और परिचय प्राप्त करके बड़ा ही आनन्द आया।—'सुना जैसा उन्हें वैसा ही पाया।'

नवनीतजी यथार्थमें 'नवनीत' ही हैं। आपका स्वभाव अत्यंत

मृदु और स्निग्ध है। कवियोंमें ठसक और अहम्मन्यताकी मात्रा होती ही है, पर नवनीतजी इसका सर्वथा अपवाद हैं, बड़े ही स्नेहशील और मिलनसार सज्जन हैं, जितना ही मिलिये, तबीयत यही चाहती है कि और मिलिये। जो नहीं भरता। नवनीतजीकी सहृदयता और ज़िन्दा-दिलीको देखकर ज़ौक़का शीर्षकके साथ-वाला उक्त शेर बार-बार याद आता है, नवनीतजी अगले ज़मानेके कवियोंकी बची-खुची एक यादगार हैं, जो चुपचाप अलग एक कोनेमें पड़े हैं। नया दौर है, न कोई उन्हें पहचानता है, न वह किसीको जानते हैं। बड़े-बड़े बाकमाल साथी एक एक करके उठ गये—'एक दो का ज़िक्र क्या महफ़िलकी महफ़िल उठ गई।' अकेले रह गये, नई रोशनीसे आँखें बंद किए बैठे हैं। ध्यान-दृष्टिसे अतीत अनुभूत दृश्य देखते हैं और सिर धुन-धुनकर विहारीका यह दोहा पढ़ते हैं—

'जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीत बहार ;
अब अलि रही गुलाब में अपत कँटीली डार।'

मेरी अनुरोधपूर्ण प्रार्थनापर इस बुज़ुर्ग 'बर्गे-ज़र्द' ने जो आप-बीती सुनाई, उसीका सारांश साहित्य-प्रेमी प्राचीनता-प्रिय पाठकोंको सुनाता हूं।

नवनीतजीका जन्म संवत् १९१५ वि० मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमीको मथुराजीके चतुर्वेदी माथुर वंशमें हुआ, आपने अपने वंश और जन्मस्थानका संक्षिप्त छंदोबद्ध परिचय 'गोपी-प्रेम-पियूष-प्रवाह' के अन्तमें इस प्रकार दिया है—

"श्रीमथुरा हरिजन्म-भुव तरणि-तनूजा तीर;
लगो रहत निस दिन जहाँ मुनि सिद्धनकी भीर।
तहां घाट वल्लभ विदित श्रीहलधरकी पौर;
ता पीछे मारू-गली उज्ज्वल सुन्दर ठौर।
बसत जहां माथुर सबै जग जस चार हजार;
विप्र वेदमें विदित जे जानत सब संसार।
ता कुल कोविद 'कृष्ण' सुत 'बूलचंद' सु पुनीत;
तिन त्रय-सुतमें एक लघु कहत नाम 'नवनीत'।
श्रीगुरु गंगादत्तके चरणकमलको ध्यान;
मो मन मैं निस दिन बसौ बोध ज्ञानकी खान।
जिनकी कृपावलोक तें यह कविता रसरीत;
जानी सरल सुभावसों माथुर दुज नवनीत।"

आपके पितामहका नाम चौबे कृष्णचंद्रजी था, और पिताजीका पं० बूलचंद, जो बूलाजीके नामसे प्रसिद्ध थे।

नवनीतजी अपने सब भाइयोंमें छोटे हैं। बड़े दो भाई और थे, वौनाजी और खिलन्दरजी। मथुरामें होली दरवाज़ेके भीतर मारू-गलीमें आपका मकान है। आजकल आप अपने दूसरे मकानमें जो बंगाली घाटपर है, प्रायः रहते हैं। आपकी माता ढाई वर्षकी अवस्थामें आपको छोड़कर स्वर्ग सिधार गई थीं, दादीने आपको पाला-पोसा। ७ वर्षकी अवस्था थी कि चेचक निकली, जिससे आपका एक नेत्र जाता रहा। दुःखकी बात है कि अब वृद्धावस्थामें, पिछले दिनों, विषम-ज्वरकी पीड़ामें विषम-प्रतिकूल उपचारसे आपका दूसरा नेत्र भी नष्ट हो गया।

आठ वर्षकी वयमें यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उपनीत होकर अपने काका ऊलाजी दशग्रन्थीसे सामवेद पढ़ा। तत्पश्चात् श्री-पंडित गंगादत्तजी चतुर्वेदीसे लघुकौमुदीका पाठ आरम्भ किया। उक्त पंडितजी सुप्रसिद्ध वैयाकरण दंडी स्वामी श्रीविरजानंदजी महाराजके शिष्य और श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीजी (आर्यसमाजके प्रवर्तक) के सहपाठी थे। पं० गंगादत्तजीको भरतपुर राज्यसे १५) रु० मासिक वृत्ति मिलती थी, उसीसे अपना योग-क्षेम चलाते और विद्यार्थियोंको पढ़ाते थे, गुरुभाई स्वामी दयानन्दजीसे आपका घनिष्ठ भाईचारा था। स्वामीजी आपसे अत्यधिक स्नेह करते थे, ३००) रु० की किसीसे सहायता दिलाकर स्वामी दयानन्दजीने पंडितजीका पक्का मकान बनवा दिया था। स्वामीजी मथुरा छोड़-कर जब इधर-उधर लोकनेतृत्वके रूपमें भ्रमण करने लगे थे, तब भी पंडित गंगादत्तजीसे उनका पत्र-व्यवहार बराबर जारी रहा, स्वामी दयानन्दजीके उस समयके बहुतसे पत्र पं० गंगादत्तजीके पुत्र पं० विदुरदत्तजी तांत्रिकके पास अब भी मिल सकते हैं। पंडित गंगादत्तजी व्याकरणके अतिरिक्त साहित्य-शास्त्रके भी मार्मिक विद्वान् थे, नवनीतजीके कविता-गुरु भी आप ही थे। नवनीतजीने अपनी कविता-प्राप्तिकी जो कथा सुनाई, वह सुनने लायक है—

पं० गंगादत्तजीके शिष्योंमें 'शतरन्जबाज़' उपाधिधारी कोई लल्लूजी थे, जिन्हें श्रीगणेशजीकी वंदनाका एक अशुद्ध-सा कवित्त याद था, जिसे वह ऐबकी तरह छिपाते थे—किसीको न बताते थे। नवनीतजीके कानमें भी उसकी भनक पड़ी। 'शतरन्जबाज़' जीसे

सुनाने और सिखानेके लिये बहुत-बहुत प्रार्थना की, पर वह तो पूरे शतरंजबाज़ थे, अपनी चाल काहेको छोड़ने लगे। बराबर चाल चलते रहे, टालते रहे, कृपणके सोनेके समान उस कवित्तको छिपाए ही रहे। अन्तको बहुत सेवा-शुश्रूषासे किसी तरह पसीजे भी तो सिर्फ आधा कवित्त ही सुनाकर रह गये, पूरा फिर भी न बतलाया, नवनीतजीके सिरपर कवित्त पूरा करनेकी धुन सवार थी, आखिरकार ज्यों त्यों करके उसकी पूर्ति नवनीतजीने स्वयं ही कर डाली। कोई कविता-प्रेमी पाठक उस गोपनीय कवित्तके लिये लालायित हों, तो सुन लें, (स्वर्गीय शतरन्जबाजकी आत्मासे इस रहस्य-भेद रूप अपराधके लिये क्षमा माँगता हूं) अच्छा तो सुनिए—

'सुन्दर चंदन मस्तक चर्चित हस्त त्रिशूलको धारण किये रहैं,
एक ही दंत उमासुतके तेल सिन्दूरको लेपन किये रहैं

बस यही था शतरंजबाजजीका बतलाया हुआ वह करामाती कवित्तार्द्ध। नवतीतजीने इसकी पूर्ति की—

'मोदक पानको भोग लगै प्रभु मौंसे अजान पै कृपाही किये रहैं,
कहै नवनीत गुरु-गणपत सुमरकरिकै धोय घोट छान प्रेमप्याला पिये रहैं'

जो कुछ हो; नवनीतजीके बचपनकी इस तुकबन्दीमें भी मामलाबन्दीका रंग है, 'धोय घोट छान' में चौबेपनकी झलक है।

इस घटनाका पता जब गुरु गङ्गादत्तजीको लगा, तो उन्होंने नवनीतजीको धमकाया कि खबरदार, इस चक्करमें अभीसे मत पड़ो। कविताका शौक़ है, तो पहले रीति-ग्रन्थ पढ़ो, छंदःशास्त्रका अभ्यास करो, तब कविता करना, समय आने दो, 'कविताका गुर'

सिखा देंगे, अभी पढ़ो। कौमुदी पढ़ाकर 'रस-मंजरी' (भानुदत्त-कृत), कुवलयानन्द और काव्य-प्रकाशका कुछ भाग पढ़ाया। इसके कुछ समय पीछे सोरों, (श्रीशूकर क्षेत्रमें, जहां रामकथा सुन-कर श्रीतुलसीदासजीके हृदय-क्षेत्रमें कवितांकुर उगा था) गुरु गंगादत्तजी गंगा-स्नानको गये, साथमें नवनीतजी भी थे। गंगाकी पवित्र धारामें स्नान करते समय गुरुजीने नवनीतजीको पुकारकर कहा, 'अबे आ तुझे कविता दूं' वहीं मंत्र दिया, जिसका जप राजघाटपर आकर नवनीतजीने निरन्तर ४० चालीस दिन किया। वहांसे जो आये, तो कविता करते ही आये। उस समय आपकी उम्र १७ वर्षकी हो गई थी, कविताका आरम्भ श्रीगणेशजीकी वन्दनामें इस 'छप्पय' छंदसे हुआ—

"बंदत श्री शिवसुवन प्रथम मंगल स्वरूप कर,
लम्बोदर गजबदन सदन बुधि विमल वेषधर;
भालचंद्र भुज चार पाश अंकुस विचित्र कर,
रक्त मलय सिंदूर अंग सोभित सु आखुपर;
मंजु मुकुत कुंडल प्रभा सुभग सुंड मोदक लिये,
प्रणत दीन 'नवनीत' उर सो प्रकास कीजै हिये।"

कविताका श्रीगणेश श्रीगणेशजीकी वंदनासे हुआ, उस रह-स्यमय कवित्तका जो भाव हृदयमें खटक रहा था, कविताके प्रथम उद्गारमें वही बाहर आया। नवनीतजीको अपनी यह रचना इतनी पसंद आई कि गद्गद हो गये, इसे सरस्वतीका वरदान समझा और उत्साह बढ़ा। गणेश-वन्दनाके पश्चात् श्रीगुरुदेव-

वंदनाका नंबर आया, जिनकी कृपासे कविताकी कुंञ्जी पाई थी। दूसरी कविता गुरु-वन्दनाकी यह 'कुण्डलिया' है—

"श्रीगुरु गंगादत्तके चरण कमलको ध्यान,
मो मनमें निस-दिन बसौ बोध ज्ञानकी खान;
बोध ज्ञानकी खान वराभय पुस्तक धारत।
सकल शास्त्र संपन्न वेद वेदांग उचारत;
'नीत' नित्य तप तेज शंभु जिमि राजत भूपर,
श्रीविद्या-अनुरक्त सु गंगादत्त श्री सुगुरुवर।"

इस प्रकार गणेश-गुरुवन्दनासे प्रारम्भ होकर नवनीतजीकी कविताका परिपाक आगे चलकर श्रीकृष्ण-कीर्तनमें हुआ।

दैव-दुर्विपाकसे १६ वर्षकी आयुसे ही पहले पितामहकी, फिर पिताकी सुखद छायासे नवनीतजी वंचित हो गये,—तीन मासके अंदर ही उक्त दोनों महानुभावोंका स्वर्गवास हो गया, इससे अध्ययन-क्रम आगे न चल सका। घरका भार आप ही पर आ पड़ा। पिताजी ६००) का ऋण छोड़ गये थे, जीविकाका कोई स्थिर प्रबंध न था; इसी चिंतामें थे कि दाऊजीके मंदिरवाले गुणज्ञ गोस्वामी श्रीयुत गोपाललालजी महाराजसे आपकी भेंट हुई और उन्होंने उदारतापूर्वक आश्रय दिया। फिर उक्त गोस्वामीजीके छोटे भाई कांकरौलीवाले गोस्वामी श्रीमान् बालकृष्णजी महाराजसे आपका परिचय हुआ। इन गोस्वामी महाराजको साहित्य और संगीतसे अधिक प्रेम था, स्वयं गुणी थे और गुणियोंके क़द्रदान थे। वह इन्हें अपने साथ कांकरौली ले गये, यह वहीं उनके

आश्रयमें रहने लगे, घरका सब खर्च गोस्वामीजी देने लगे। उन दिनों कांकरौलीके दरबारमें कवियों और गुणियोंका अच्छा सम्मेलन था, गोस्वामीजीकी उदारता और गुणग्राहकतासे खिंच-खिंच कर दूर-दूरके कवि और गुणी वहाँ पहुंचते और आदर-सम्मान पाते थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् भारतमार्तंड प्रज्ञाचक्षु पंडित श्री गट्टूलालजी महाराज भी वहाँ विराजते थे। श्रीगट्टूलालजी अनेक विषयोंके असाधारण विद्वान् और गुणवान् थे, प्रत्युत्पन्नमति, आशुकवि, महागणितज्ञ, धुरंधर दार्शनिक, शतरंजके अद्वितीय खिलाड़ी, इत्यादि शताधिक अलौकिक गुणोंकी खान थे। उनकी 'शतावधानता' प्रसिद्ध है। एक ही समयमें सौ विषयोंके चमत्कृत रीतिसे अचूक उत्तर देकर तत्तद्विषयके बड़े-बड़े विशेषज्ञोंको चकित और परास्त कर देते थे। 'भारत-मार्तंड' की उपाधि सर्वथा आपके अनुरूप थी। आप वल्लभसम्प्रदायके आचार्य थे, इसलिये व्रजभाषा-कविताके भी मार्मिक जानकार थे। ऐसे अद्भुत प्रतिभाशाली महानुभावके अजानको भी सुजान बना देनेकी शक्ति रखनेवाले सत्संगने नवनीतजीकी प्रतिभाके सोनेपर सुहागेका काम किया, इस देव-दुर्लभ सत्संगमें नवनीतजीकी प्रतिभा और भी चमक उठी। रात-दिन कविताकी चर्चा रहती, कविसमाज होते रहते थे।

उन्हीं दिनों कविवर बाबू जगन्नाथदासजी बी० ए० 'रत्नाकर' भी कुछ समयतक कांकरौलीमें थे। वहीं 'रत्नाकर' जीने नवनीतजीसे छंदःशास्त्रका नष्ट, उद्दिष्ट, प्रस्तार आदि सीखा, इसी नाते

रत्नाकरजी नवनीतजीको अपना काव्य-गुरु मानते हैं। प्राचीन ढंग-के वर्तमान कवियोंमें इनके क़ायल हैं।

इस विद्वन्मंडलीमें एक तीसरे विद्वान् उदयपुर दरबारके भेजे हुए पण्डित बालकृष्णजी शास्त्री थे, जिनसे श्रीगोस्वामी बालकृष्ण-लालजी शास्त्राध्ययन करते थे। इस प्रकार उन दिनों काँकरौलीमें अच्छे-अच्छे विद्वानोंका समुदाय एकत्र था।

एक बार कांकरौलीके छप्पन-भोगमें आर्यकुल-कमलदिवाकर हिंदुपति महाराणा श्रीफतेहसिंहजी उदयपुराधीश पधारे थे। गोस्वामीजीने श्रीमहाराणासे नवनीतजीका भी परिचय कराया, उस अवसर पर श्रीमहाराणाकी प्रशस्तिमें नवनीतजीने यह कवित्त भेंट किया, जिसके पुरस्कारमें १०१ सरूपशाही रुपये महाराणाजी-की ओरसे मिले—

'प्रगट प्रतच्छ तच्छ कुहर-कलेस काट,
लच्छ-लच्छ कंज-दीन मंजु भे प्रकाशवान;
चक्रवाक अच्छ खोल लोल भे विहार किये,
दच्छ-भौंर दारिद हटायो कर सुद्ध सान।
स्वच्छ ह्वै सुरच्छनकी पच्छ भये द्वारकेस,
रुच्छता हटाय बेन करत पियूष दान;
पूरब उदैपुरमें उदयो अनंत आज,
फतेहसिंह दूलह दिनेस सो विराजमान॥'

इस समय नवनीतजीकी वय २५ वर्षकी हो गई थी। उक्त छप्पन भोग महोत्सवके पश्चात् गोस्वामीजीने मारवाड़की यात्रा की। इस यात्रामें गट्टूलालजी और नवनीतजी भी साथ थे, एक

दिन कविताका प्रसंग चलनेपर श्रीगट्टूलालजी महाराजने सोमनाथ * कविका यह सवैया पढ़ा—

'चारु निहारि तरैयानिकी द्युति लाग्यो महाविरहा तन तावन,
ऐ 'ससिनाथ' सुजान सुनो उन सूल गिने नहिं कंजसे पावन;
पीत दुकूलमें फूलन लै असवेलीके प्रेमकी सिद्धि बढ़ावन,
कान्ह दिवालीकी रैन चले बरसाने मनोजको मंत्र जगावन।'

सवैया सुनाकर श्रीगट्टूलालजीने नवनीतजीसे कहा—'सवैया सुंदर है, पर रूपक पूरी तरह नहीं बँधा। प्रेमकी सिद्धिका सब सामान इसमें नहीं आया। कुछ कसर रह गई। इस रूपकको तुम तो बाँधकर दिखाओ, देखें कैसा कहते हो'। सोमनाथ कविके रूपक-पर-रूपक बाँधना, हँसी खेल न था, पर भारत-मार्तंडके आदेशकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। नवनीतजीको रूपक बाँधनेपर कमर बाँधनी ही पड़ी, आपने रूपकको यह रूप

'अच्छत आनँद फूल के फूल,
सुचाह कौ चंदन चौंप चढ़ावन;
त्यों नवनीतजू' लागकी लौंग,
उमंग सिंदूरको रंग रचावन।
धावन धूप संयोग सुगंध लै,
केलि-कपूरकी जोति जुरावन;

* सोमनाथ चतुर्वेदी बड़े विद्वान् कवि थे। भवभूतिके मालती-माधव और मम्मटाचार्यके काव्यप्रकाशके, सोमनाथ-कृत गद्य-पद्यात्मक हिंदी-अनुवाद, उपलब्ध हुए हैं।

कान्ह दिवारीकी रन चले,

बरसाने मनोजको मंत्र जगावन।'

'केलि-कपूरकी जोति जुरावन' ने रूपकके रूपको चमका दिया। चार चाँद लगा दिए। श्रीगट्टूलालजी इस उक्तिपर लट्टू हो गए, आसनसे उठकर नवनीतजीको छातीसे लगा लिया।

इस प्रकार गोस्वामी श्रीबालकृष्णलालजीके साथ रहते हुए नवनीतजीकी आयु २७ वर्षकी हो गई, फिर कभी मथुरा रहते, कभी गोस्वामीजीकी मंडलीके साथ यात्रामें भारत-भ्रमण करते रहे। एक बार गोस्वामीजीके साथ काशीजी गए हुए थे, उन्हीं दिनों वहाँ एक बड़ा कवि-समाज काशी-कवि-समाजकी ओरसे हुआ; जिसमें दो दलोंमें प्रतियोगिता सी थी। पहला दल काशी-कवि-समाजका था, जिसके प्रधान कवि—बेनी कवि, रसीले, छबीले, बल्लभ, हनुमान, (लखनऊके कायस्थ), नकछेदी तिवारी, लछीरामजी अयोध्यावाले थे, दूसरे दलमें द्विज मन्नालालजी (हनुमान काशीवालोंके शिष्य) शंकर (पूरबके) मार्कण्डेयलाल (चिरंजीवी) पुत्तनलाल (पटना-निवासी) इत्यादि थे। नवनीतजी भी एक दलमें थे। इस प्रतियोगितामें स्वर्ण-पदकके साथ नवनीतजीको 'कवींद्र' की उपाधि मिली। इससे पहले रजत-पदकके साथ 'कविरत्न' की उपाधि आपको प्राप्त हो चुकी थी। इसी अवसरपर आपकी कवित्व-शक्तिसे प्रसन्न होकर काशी-नरेश महाराज ईश्वरी-प्रसाद सिंहजीने गोस्वामीजीसे माँगकर इन्हें तीन महीने अपने पास बड़े आदर-सम्मानसे रक्खा।

एक दिन काशी-नरेशने नवनीतजीसे पूछा—'क्या कारण है कि नये पुराने कवियोंने गोपियोंकी ओरसे कुब्जाकी तो बड़ी फ़ज़ीहत कराई है, तानोंका तूमार बाँध दिया है—पर कुब्जा बेचारीकी हिमायत किसीने नहीं की, उसकी तरफ़से उत्तरमें गोपियोंको कुछ नहीं सुनवाया ?' नवनीतजीने उत्तर दिया कि महाराज ! बात यह है 'गोपियां हमारी इष्ट हैं—आराध्या हैं, प्रेमका स्वरूप हैं, शृंगार-रसकी पोषक हैं, उनकी निन्दा हमसे नहीं हो सकती'—इसपर महाराजने कहा 'यह उत्तर तो कुछ संतोषजनक नहीं हुआ, जब कवि लोग परमाराध्य भगवानको भी अछूता नहीं छोड़ते, भक्तोंकी ओरसे उसे भी खरी-खोटी सुना डालते हैं और इसमें अनौचित्य नहीं समझा जाता, तो फिर कुब्जासे कुछ क्यों नहीं कहलवाया गया । क्या गोपियोंके ताने सुन-सुनकर कुब्जाको जोश और तैश न आया होगा ; वह चुप क्यों रही होगी ? औचित्य तो यही चाहता है कि कुब्जाकी 'सफ़ाई' भी सुनी जाय, न्यायका अनुरोध और इंसाफ़का तक़ाज़ा है कि कोई कवि कुब्जाकी वकालतमें भी क़लम उठावे—'

महाराजका यह पुर-इसरार (भेद भरा) इशारा पाकर बा-दिले-नाख़ास्ता नवनीतजीने तीन दिनमें 'कुब्जा-पचीसी' कहकर महाराजको सुनाई ।

उस समय कुब्जा-पक्षपाती महाराजको और गोपी-भक्त नवनीतजीको मालूम न था – कि अबसे बहुत पहले कुब्जाके पड़ौसी (मथुरा-निवासी) ग्वाल कवि 'हक्क़े-हमसायगी' अदा कर गये हैं—

कुब्जाकी ओरसे गोपियोंको वह चुनां चुनींको सुना गये हैं कि सुनकर लखनऊवालियां भी शरमा जायँ! ग्वालकविकी कुब्जाकी कटूक्तियां सुनकर गोपियां बेचारी कट गई होंगी, कुब्जाकी फब्तियों-से झेंपकर कह उठी होंगी—

'छेड़कर इस बेअदबको मुफ्तमें रुसवा हुईं।'

नवनीतजीने अपनी (कुब्जापच्चीसी) के साथ ग्वालकविका 'कुब्जाष्टक' भी पीछेसे छपा दिया है। इस प्रसंगमें 'कुब्जापचीसी' और 'कुब्जाष्टक' से दो-दो छंद उद्धृत करना अनुचित न होगा—

"गोबर की डलिया सिर लै कब गायनमें हम जात हो रूँधन,
त्यों 'नवनीत' दुहावनके मिस द्वार किवार दिए कब मूँदन;
कौन दिना बन बीच कही हरि कामरी लाय बचाइयो बूँदन,
उद्धव और कहा कहिए कब खोल दिए फरियानके फूँदन।"
"कुंजके मंजु महारस रंगमें अंग उमंग भरे रससामी,
त्यों 'नवनीत जू' गोपिनकौं अभिनान लख्यो हरि अंतरजामी,
छोड़ गए बनमें बहकायके आय कै आप बने सुखधामी,
कौन सो दोष हमारो रह्यो उन नाहक मोहि दई बदनामी।"

—कुब्जा-पचीसी

"पर-पति केलि गोपि-गोपि सदा करती हीं,
या तें ठीक गोपिका है नाम गुन गवे कों;
चंदन चढ़ायो मैं जु सो जहान जोवत हैं,
उन मेट्यो कूबे दियो रूप प्रभा पैवे कों।
'ग्वाल कवि' मैं हुं कियो तन मन अरपन,
राख्यो पतिब्रत-प्रन सुजस बढ़ैबे कों;

किये पति मैंने ब्रजराज राज-मारगमें,
डंका बज्यो मथुरामें मेरे वर ऐवे कों॥"
"गोपी मतलोपीको सुनी मैं बात कहन पै,
मोकों तो कुजातनी कमीनी कहि बोलीं वे।
आपने न औगुन गिनत पर-पति पागी,
ऐसी बेसरम करैं मोही सों ठठोली वे।
'ग्वालकवि' छिप-छिप अँधियारी रातन में,
सोए पति त्यागि कें किवारें मूँदि खोली वे;
बननमें बागनमें यमुना किनारनमें,
खेतन खरानमें खराब होत डोलीं वे।"
—कुब्जाष्टक

विवाह और संतान

इस प्रकार अनेक दरबारों और देशोंकी सैर करते, घूमते फिरते, जब आपकी आयु चालीससे ऊपर हो गई, तो मथुरामें आकर गोस्वामीजीसे कहा 'महाराज! अब छुट्टी मिले, मैं अब घूमना नहीं चाहता, यहीं रहूंगा'। गोस्वामीजी बोले कि मथुरामें रहो, तो विवाह करके—गृहस्थ बनकर—रहो। नवनीतजीने निवेदन किया कि विवाह-समस्याकी पूर्ति मेरे बसकी नहीं, शब्दोंको कमी नहीं, पर 'अर्थ'का यहाँ अभाव है। फिर, एक तो मैं कुरूप, दूसरे निर्धन, तीसरे ४६ वर्षकी अवस्था, इस अवस्थामें कौन मुझे कन्या देगा! बूढ़े के विवाह पर यह फब्ती आपने सुनी ही होगी—

'बूढ़े ब्याह किए जो फँस्यो,
वाने खाँस्यो वाने हँस्यो;

वाको हँसिबो वाय न सुहाय,
थोथो फटकै उड़-उड़ जाय।'

इस पर मथुरावाले गोस्वामी गोपाललालजीने कहा—'हम तुम्हें बचपनसे जानते हैं, तुम सदाचारी ब्रह्मचारी हो, तुम्हारे संतान अवश्य होगी। तुम्हें विवाह करना पड़ेगा। हम सब ठीक किए देते हैं—' आख़िर गोस्वामीजीके उद्योगसे आपका विवाह एक अच्छी जगह हो गया। द्वारकाधीश और रंगजीके मंदिरवाले सेठ लछमनदासजीने और काँकरोलीवाले गोस्वामीजीने यथेष्ट सहायता देकर धूम-धामसे विवाह करा दिया। यहीं नहीं, गोस्वामीजी श्रीबालकृष्णलालजी काकरौलीवालोंने प्रतिज्ञापूर्वक आश्वासन दिया कि हम तुम्हें जन्म-भर निबाहते रहेंगे, जबतक गोस्वामीजी धरा-धाम पर बिराजमान रहे, नवनीतजीको बराबर सहायता देते रहे। उनके गोलोक-वासके अनंतर उनकी श्रीमती बहूजी और सुपुत्र गोस्वामी श्रीब्रजभूषणलालजी तथा गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने भी सहायता जारी रक्खी, और अबतक 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' का पालन कर रहे हैं।

विवाह करके नवनीतजीने बाहर जाना बिलकुल बंद कर दिया, घरपर ही रहने लगे। इस विवाहसे आपके सात संतान हुईं, ६ पुत्रियाँ और एक पुत्र। जिनमें पुत्र और दो पुत्रियाँ वर्तमान हैं। पुत्रका नाम गोविन्द है, सुन्दर सुशील, चतुर और होनहार है, संस्कृत पढ़ता है, कविता भी करता है, सोलहवें वर्षमें है। परमात्मा चिरायु करे।

ग्रन्थ—

आपके रचित ११ ग्रंथ हैं, जिनमें कुछ मुद्रित, कुछ लिखित, कुछ प्राप्य और कुछ अप्राप्य हैं।

(१) श्यामांगावयवभूषण— श्रीराधाजीका नख-शिख, मुद्रित, अब अप्राप्य।

(२) नवीनोत्सव-संग्रह— ठाकुरजीके होलिकोत्सवका वर्णन, (मुद्रित)

(३) कुब्जा-पचीसी,—जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

(४) गोपी-प्रेम-पियूष-प्रवाह (संग्रह) मुद्रित।

(५) रहिमन-शतक पर कुण्डलियाँ (मुद्रित)।

(६) मूर्ख-शतक, सौ दोहे, (मुद्रित)।

(७) प्रेमरत्न (फुटकर) अप्रकाशित

(८) प्रेमपचीसी ,,

(९) स्नेहशतक ,,

(१०) वैष्णवधर्म (गद्य) गोस्वामी श्रीमधुसूदनाचार्यके स्मार्तधर्मका खण्डन, (प्रकाशित)

(११) प्रश्नोत्तर (१६ मात्राके छंदोंका निरूपण) दो पन्ने का ट्रैक्ट (मुद्रित)

इनके अतिरिक्त १००० के क़रीब फुटकर पद्य हैं। काव्य-प्रकाशके कुछ अंशका अनुवाद भी आपने किया था।

शिष्य—

आपके बहुतसे शिष्य हैं, जिनमें कई अच्छे कवि हैं।

(१) पं० चतुर्भुज पाठक चतुर्वेदी

(२) पं० भोलानाथजी भंडारी, सनाढ्य (आप द्वारकाधीशके मंदिरमें खासा भंडारके भंडारी हैं)—

(३) पुरुषोत्तमदासजी अग्रवाल

(४) कृष्णलालजी वैष्णव, 'शतरंज-मार्तंड

(५) गोपीनाथ—(नवनीतजीके मित्र वनकलिजीके पुत्र)

(६) गोविंद चतुर्वेदी (नवनीतजीके सुपुत्र)

ये सबही सज्जन कविताके मार्मिक प्रेमी हैं, और कवि हैं। इनमें श्रीयुत कृष्णलालजी बड़े ही साधुस्वभाव गुणी पुरुष हैं, अच्छे कवि हैं। प्राचीन कविता आपको बहुत याद है, शतरन्ज के अद्वितीय खिलाड़ी हैं, इस विद्याके कारण बड़े-बड़े राजदरबारोंमें आपकी पहुंच है, शतरन्जकी बाज़ीमें अनेक विजयी विदेशी शातिरोंको आपने मात दी है। कुछ दिनोंसे बाहर आना-जाना आपने बंद कर दिया है, भगवद्-भजनमें और कविजीके सत्संगमें ही इस समय आप समयका सदुपयोग कर रहे हैं। (कालिदासके मेघदूतका पद्यानुवाद भी इन्होंने हिन्दीमें किया है)

जो साहित्य-प्रेमी सज्जन मथुराकी यात्रा करें वह कविरत्नजी और उनके शिष्य-समुदायसे भी मिलें और व्रज-माधुरीका पान करें। व्रजके अनेक विस्मृत* सुकवियोंके सुभाषित सुननेको मिलेंगे।

---

* यथा—उरदाम चौबे। दत्त कवि चौबे। नवीन सनाढ्य। बान पाठक। खड्ग कवि, लोकनाथ चौबे; इत्यादि। मथुरा, वृन्दावनके इन

नवनीतजीकी रचना से यहाँ कुछ फुटकर पद्य उद्धृत करके बस करता हूं।

प्रेमके चरखेका रूपक--कवित्त

"ताक तन तूल तोल चाह चरखामें कात,
बाद कै बिनौला प्रेम पौनो कर बेह की ;
'नवनीत' प्यारे प्रीत-पटके बुनाव काज,
कूकरी उतारी सूत सरस अछेह की।
पर गई लगन अनूठी गुरु गाँठ जामें,
छूटत न कैसेहूं सनेह मद मेह की ;
मुरझन जानै पै न छाड़ैं कीट रेसम ज्यों,
सुरझ न जाने हाय उरझन नेह की ॥"

रसिक भिखारी

"प्रेम प्रण प्राग बैठि त्रिपथ त्रिबेनी न्हाय,
पाय पद पूरन प्रवीन ताहि पै धरी ;
'नवनीत' साधे सब साधन सनेह जोग,
जुगत जमाय प्रान ध्यान धारना धरी
आयो बचि बिकल वियोग की तपन तापि,
नाम जप तेरो ता तैं बिपत सबै टरी ;
रसिक भिखारी एक द्वार पै ठड़्यौ है आइ,
रूप-रस-माधुरी की माँगत मधुकरी ॥"

कवियोंकी बहुत-सा कविताएं नवनीतजी और उनके शिष्योंसे प्राप्त हो सकती हैं,। यदि ऐसा संग्रह हो जाय तो ब्रज-भाषा-साहित्यके अनेक लुप्त रत्न प्रकाशमें आ जायँ।

शिकारी नृप-शीत

"प्रात हि तें भानु बहुरूपिया को स्वाँग धरै,
बादर की गूदरी सी ओढ़ि के लखानो ;
'नवनीत' प्यारे पौन आवत बरफ सनी,
कंपत करेजा मन धीर ना धरानो है ।
विपिन बंदूक तान पंचसर गोली गेर,
विकल बियोगिन को करत निसानो है ;
भीत करि डारे सब भूतल के जीव जंतु,
जीत ऋतु पाँचो नृप-सीत सरसानो है ॥"

शिशिर

"मारत तुसार वर वीरुध सरोजन कों,
बड़ी भईं रैन दिन लघुता में दरसे ;
'नवनीत' प्यारे वारि लगत बरफ जैसो,
सीरे होत बसन दसन होंठ परसे ।
कँपत करेजा रेजा ओढ़ि पसमीना तो हूं,
छाड़िबो कठिन सेज प्यारी सुख सरसे ;
और की कहा है अब आग हू छिपी-सी जाय,
सिसिर में होत सविता हू सीतकर से ॥"

ऋतुराज

"खेत सरसों के हैं कि छिरकी हरद मानौ,
उलहे प्रवाल लाल कुंकुम उड़ायो है ;
कमल पराग पीरे अलिन अनंद भरे,

केसू कचनार पुंज पुहप सुहायो है।
गावें भाँड हीजरा सुकोकिल मधुप गुंज,
राजत रसाल मंजरीन सरसायो है।
चटक गुलाबन की विपिन पढ़त वेद,
आज ऋतुराज जन्मदिन को बधायो है।।"
"करत करेजे हूक कूक कूक कोकिल ये,
टूक टूक करत रसाल ये निहारे तें;
'नवनीत' सरसों सरस फूल फूल रही,
केसू कचनार काम पंच सर जारे तें।
पौन करे गौन भौन सरस सुगंध लैके,
अंग अंग आतप ज्यों लागत सवारे तें;
एक तो विकल बनमाली के बिरह दूजे,
कैसे कै बचेगी या वसंत बज मारे तें।।"

मेघ-मतंग

"छूटि चले मानो सुरराज की समाजन तें,
कदली-वियोगिन के दल दलि डारे हैं।
मानत न संक 'नवनीत' आन-अंकुस की,
सरम-ऊँजीरन के टूक करि डारे हैं।
भूमि भहरात काम कज्जल पहार के से,
बरसे बिचित्र वारि मद के पनारे हैं।
अंग अंग ऐंड़त उमंग रस रंग भरे,
मेघ मनमथ्थ के मतंग मतवारे हैं।।"

ख़लीफ़ा मामूँ-रशीद

मुसलमान शासकोंमें ख़लीफ़ा 'मामूँ-रशीद' बड़ा ही सहृदय, विद्याप्रेमी, विद्वान और न्याय-परायण शासक हुआ है। यह सुप्रसिद्ध ख़लीफ़ा 'हारूँ-रशीद' का पुत्र था। विद्या-प्रेमके लिए हारूँ-रशीदका नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हारूँ-रशीदने एक बहुत बड़ा अनुवाद-विभाग 'बैतुल्-हिकमत' (विद्या-मन्दिर) नामसे क़ायम किया था, जिसमें बड़े बड़े विद्वान विविध भाषाओंसे उपादेय ग्रन्थोंके अनुवाद करनेपर नियुक्त थे। माँमू-रशीदने इस विभागकी अपने शासन-कालमें बहुत उन्नति की। इसने सुदूर देशोंसे बड़े बड़े वेतनोंपर अनेक विषयोंके विशेषज्ञ विद्वानोंको बुला-कर अपने यहां इकट्ठा किया, और अनुवाद द्वारा विविध विषयोंके ग्रन्थ-रत्नोंसे अरबी भाषाको मालामाल कर दिया। इस विद्या-मंदिर-के बहुतसे अनुवादकोंका वेतन आज-कलके हिसाबसे ढाई-ढाई हज़ार रुपये मासिक था! वेतनके अतिरिक्त पुरस्कार भी यथेष्ट मिलता था। मशहूर है कि 'मामूँ' प्रत्येक पुस्तकके अनुवादके बदले-में पुस्तकके बराबर सोना तोलकर देता था। अनुवादकोंमें अनेक भिन्नमतावलम्बी विदेशी विद्वान थे, जिनके साथ मामूँका बर्ताव अत्यन्त उदारतापूर्ण था। मुसलमान शासक धार्मिक विद्वेषके लिए बदनाम रहे हैं, पर मामूँ इस विषयमें बहुत उदार था। उसके दरबारमें बहुतसे पारसी, यहूदी, ईसाई और हिन्दू विद्वान थे, जिन्हें अपने

धार्मिक कृत्योंमें पूरी स्वतंत्रता थी। मामूँ-रशीद स्वयं भी अनेक विषयोंका बहुत बड़ा विद्वान् था। गणित और फ़िलासफ़ी उसके अत्यन्त प्रिय विषय थे। उसके गणित-प्रेमका परिचय इसीसे मिलता है कि उसकी आस्तीनों पर उक़लैदसके पहले मिक़ालेकी ५ वीं, शकूलका 'तुग़रा' (चित्र-बन्ध) बना हुआ था ; क्योंकि यह 'शकूल' (रेखा) उसको बहुत ही प्रिय थी। इसी कारण अरबीमें पाँचवों शकूलको 'शकूले-मामूनी' कहते हैं। मामूंके सिवा और किसी मुसलमान बादशाहको यह फ़ख़्र (गौरव) हासिल नहीं है कि उसके नामसे कोई इल्मी इसतलाह (परिभाषा) क़ायम हुई हो।

मामूंका विद्या-प्रेम

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, हारूँ रशीदका क़ायम किया हुआ 'बैतुल्-हिकमत' या अनुवाद-विभाग मौजूद था, जिसमें पारसी, ईसाई, यहूदी, हिन्दू अनुवादक थे, जो फ़िलसफ़ेकी पुस्तकोंका अनुवाद और रचना करते रहते थे ; पर अबतक जो सामग्री एकत्र हुई थी, वह मामूंकी विज्ञान-पिपासाको शान्त करनेमें अपर्याप्त थी।

मामूंने एक रात स्वप्नमें देखा कि एक पूज्य प्रतिष्ठित व्यक्ति उच्च आसन (तख़्त) पर आसीन है। मामूंने समीप जाकर पूछा, आपका शुभ नाम ? तख़्तनशीनने कहा—'अरस्तू'। यह सुनकर मामूं हर्षातिरेकसे विह्वल हो उठा। फिर अर्ज़ किया, 'हज़रत! दुनियामें कौनसी चीज़ अच्छी है ?' ख्याली अरस्तूने उत्तर दिया, 'जिसे अक़्ल (बुद्धि) अच्छा कहे।' दुबारा मामूंने दरख्वास्त की

कि मुझको शिक्षा प्रदान कीजिये। उत्तर मिला, 'तौहीद (अद्वैत-वाद) और सत्सङ्गतिको हाथसे न देना।' मामूं यों ही फ़िलसफ़े-पर मिटा हुआ था ; अरस्तूके इस स्वप्न-दर्शनने और भी आग-पर घी का काम दिया। उसने क़ैसर-रूमको ख़त लिखा कि 'अरस्तूकी जिस क़दर पुस्तकें, मिल सकें भेजी जायँ।' क़ैसर-रूमने इसके उत्तरमें पाँच ऊँट लाद कर फ़िलसफ़ेकी किताबें मामूंके पास भेजीं। मामूंने और भी बहुतसे योग्य आदमियोंको प्राचीन पुस्तकों-की खोजमें, पर्याप्त धन दे देकर, इधर उधर भेजा। देश देशान्तरोंसे ढूँढ-ढूँढ और चुन-चुनकर पुस्तकें मँगाईं, और उनके अनुवाद कराये। मामूं एक आदर्श विद्या-प्रेमी विद्वान् और गुणग्राहक शासक था। मामूंका यह असाधारण विद्या-प्रेम उस समय और भी आदरणीय प्रतीत होता है जब हम इतिहासमें पढ़ते हैं कि मामूंके पूर्ववर्ती एक 'ख़लीफ़ा' ने ही सिकन्दरियाका जगत्प्रसिद्ध पुस्तकालय जलाकर ख़ाक कर दिया था। और भी कितने ही धर्मान्ध नृशंस शासकोंने अनेक बार पुस्तकोंसे हम्माम गरम कराये हैं। विद्या-विद्वेषके ये दुर्दृश्य पुराने असभ्य समयमें अशिक्षित शासकों द्वारा ही संसारको देखने नहीं पड़े, प्रत्युत सभ्यताके ठेकेदार योरपकी सुशिक्षित शक्तियोंने भी ऐसी होली कई बार खेली हैं। बाक्सर-विद्रोहके समय जब चीनपर योरपके नवग्रहोंने चढ़ाई की थी, उस समयका समाचार एक प्रत्यक्ष-दर्शीने बड़े दुःखसे लिखा है—'कि चीनके अत्यंत प्राचीन राजकीय विद्यालयकी बहुमूल्य अलभ्य पुस्तकें और ऐतिहासिक सामग्री हफ्तों तक गाड़ियोंमें लाद-

लाद कर शाही महलके सहनमें इकट्ठी की गई और जलाई गई, जिनकी राखसे पेकिनकी चौड़ी सड़कें पट गईं और कुएं अट गये।'—लोवेनके पुस्तकालयकी जो दुर्दशा सभ्यताभिमानी जर्मनोंने की वह तो अभी कलकी नई घटना है। मतलब यह कि विद्या-प्रेम किसी जातिकी बपौती नहीं है। प्रत्येक जातिमें विद्या-प्रेमी और विद्या-विद्वेषी होते रहे हैं। मामूं-रशीदके प्रशंसनीय विद्या-प्रेमपर मुसलमान जाति ही नहीं, एशिया-निवासी समुचित गर्व कर सकते हैं। मामूं-के समय जिन विद्या-सम्बन्धी भारतीय और यूनानी ग्रन्थोंके अनुवाद हुए, बादको प्रायः उन्हींके सहारे योरपमें विद्या-प्रकाश पहुंचा। इस प्रकार योरप भी उसका बहुत अच्छा ऋणी—अधमर्ण-है।

मामूंकी क्षमाशीलता

मामूं विद्या-प्रेमकी दृष्टिसे ही प्रशंसनीय नहीं, वह जैसा उच्च कोटिका विद्वान् था, वैसा ही प्रथम श्रेणीका सुशासक भी था। उसमें शासकोचित समस्त सद्गुण अत्यधिक मात्रामें विद्यमान थे। पर उसकी क्षमाशीलता और न्यायपरायणता सीमासे भी आगे बढ़ गई थी। इन दो गुणोंके कारण उसका शासन इसलामके इतिहासमें 'बदनाम' है। नीति-निपुण सज्जनोंकी सम्मतिमें शासकमें 'भीम' और 'कान्त' दोनों गुण समान मात्रामें होने आवश्यक हैं। इस गुण-निधि शासक-रत्नाकरमें कमनीय रत्न ही रत्न भरे थे, भयानक जन्तुओंका अभाव था। इस 'अभाव'की अक्सर शिकायत की गई है। मामूँके इसी चरित्रको लक्ष्य करके 'हाली'ने यह उपालम्भ-पूर्ण कविता लिखी है—

कहते हैं ख़ुद्दाम 'मामूं के बहुत गुस्ताख़ थे,
एक दिन ख़ादिम की गुस्ताख़ी पै मामूं ने कहा।
'कोई आक़ा जबकि ख़ुश-इख़लाक़ होता है बहुत,
पेश-ख़िदमत उसके बद-इख़लाक़ होते हैं सदा।'
पर जो सच पूछो तो होना ख़ादिमोंका शोख़-चश्म,
है दलील इसकी कि है ख़ुद ख़ुल्क़ आक़ाका बुरा।
खो दिया हैबत को अपनी जिसने और तमकीन को,
उसने गोया ढा दिया रुक्ने-रुकीं इख़लाक़ का।※

मौलाना 'शिवली' मामूँ की जीवनीमें लिखते हैं—मामूँके उदार चरित पर यदि कुछ नुकताचीनी हो सकती है, तो यह हो सकती है कि उसका रहम (दया) और इन्साफ़ (न्याय) एतदालकी हद (औचित्यकी सीमा) से आगे बढ़ गया था, जिसका यह असर था कि उसने ज़ाती हक़ूक़को (व्यक्तिगत स्वत्वोंको) बिलकुल नज़र-अन्दाज़ कर दिया था। बदज़बान शाइर उसकी हिजो (निन्दापरक कविता) लिखते थे, पर वह ध्यान न देता था। उसके नौकर गुस्ताख़ियाँ करते थे, लेकिन उसे ज़रा परवा नहीं होती थी! यही नहीं, उसकी निन्दामें कवियोंने जो कविताएँ लिखी थीं, वह उसे कण्ठस्थ थीं। वह कविताकी दृष्टिसे उनको दाद देता और प्रशंसा किया करता था। वह अच्छी कविताका बड़ा क़दरदान और स्वयं सुकवि था। उस समय एक अरबी कवि बड़ा ही उद्दण्ड और

※१ ख़ुद्दाम=सेवक-समूह, । २ हैबत=आतङ्क, । ३ तमकीन=प्रतिष्ठा, ४ रुकने-रुकीं=आधार-स्तम्भ।

निन्दा लिखनेमें 'सौदा' की तरह सिद्ध-हस्त था। उसकी हिजो-गोईसे, अक्सर लोग तंग थे। उसके बारेमें एक बार मामूँ के चचा इबराहीमने शिकायत की कि उसकी बदज़बानियां हदसे गुज़र गईं हैं। मेरी ऐसी हिजो (निन्दा) लिखी है जो किसी तरह दर-गुज़र के क़ाबिल नहीं। इबराहीमने उस हिजोके कुछ पद्य भी सुनाये। मामूँने कहा, चचा-जान! उसने मेरी हिजो इससे भी बढ़कर लिखी है, चूंकि मैंने दर-गुज़र की, उम्मीद है, आप भी ऐसी दर-गुज़र करेंगे। इबराहीम ही नहीं, उस कविकी करतूतसे सारा दरबार परेशान था। मामूँके एक प्रतिष्ठित दरबारीने, जो स्वयं भी कवि था, कई बार उस निंदक कविके विरुद्ध मामूँको भड़काया कि आख़िर दर-गुज़र कहाँ तक? मामूँने कहा कि अच्छा, यदि बदला ही लेना है, तो तुम भी उसकी निन्दा लिख दो; परन्तु सिर्फ यही लिखो कि वह लोगोंकी निन्दामें जो कुछ कहता है ग़लत कहता है।—मामूँ अक्सर कहा करता था कि मुझे क्षमा-प्रदानमें जो मज़ा आता है, यदि लोग उसे जान जायँ, तो अपराध और आज्ञा-भङ्गका मेरे पास 'तोहफ़ा' लेकर आवें। मामूंको दावा था कि बड़े-से बड़ा अपराध भी मेरी क्षमा-शीलताको भङ्ग नहीं कर सकता। एक आदमीसे, जो अनेक बार आज्ञा-भंगका अपराध कर चुका था, मामूंने कहा कि—'तू जिस क़दर गुनाह (अपराध) करता जायगा, मैं बराबर बख्शता जाऊंगा, यहां तक कि आख़िर वह मेरा क्षमा-भाव तुझे थकाकर दुरुस्त कर देगा।'—मामूंको अपनी इस हदसे बढ़ी हुई क्षमा-शीलता पर (जो शासन-नीति के विरुद्ध है) अभि-

मान था। वह 'फख्र (गौरव) से कहता था कि दास और दासियां अक्सर अपनी गोष्ठीमें मुझको गालियां देती हैं, और मैं खुद अपने कानोंसे सुनकर जान-बूझकर टाल जाता हूं। इस क्षमाशीलताके कारण मामूंके गुलाम तक इतने ढीठ हो गये थे कि जवाब दे बैठते थे। मामूंके एक मुसाहिबने एक ऐसी ही आंखों देखी घटनाका उल्लेख किया है। उसका बयान है कि 'मैं (मुसाहिब) एक बार मामूंकी खिदमतमें हाज़िर था। मामूंने गुलामको आवाज़ दी, पर कोई न बोला। फिर पुकारा तो एक तुर्की गुलाम हाज़िर हुआ और बड़-बड़ाने लगा कि—'क्या गुलाम खाते पीते नहीं ? जब ज़रा किसी कामसे बाहर गये तो आप 'या गुलाम या गुलाम !' चिल्लाने लगते हैं ! आखिर 'या गुलामकी' कोई हद भी है ?,—मामूंने सिर झुका लिया और देर तक सिर नीचा किए बैठा रहा। मैंने समझा कि बस, अब गुलामकी खैर नहीं। मामूंने मेरी ओर देखकर कहा 'नेक-मिज़ाजीमें यह बड़ी आफ़त है कि नौकर और गुलाम धृष्ट और बद-मिज़ाज हो जाते हैं, पर यह तो नहीं हो सकता कि उन्हें विनीत बनानेके लिये मैं स्वयं दुर्विनीत बनूं।'—

यह बात ठीक हो सकती है कि शासकके लिये इतनी सह-नशीलता शोभा नहीं देती, इससे उसकी प्रतिष्ठामें फ़र्क आता है, रोब-दाब जाता रहता है; पर मामूंने इस सीमातिक्रान्त गुणसे अपने 'ज़ाती हकूक़' भले ही भुला दिये हों, सर्वसाधारणके स्वत्वों-की वह पूरी रक्षा करता था। अपने व्यक्तिगत मिथ्या गौरवकी उसे परवा न थी, पर इससे उसकी न्याय-निष्ठामें कुछ अन्तर नहीं

आने पाता था। क्षमाशीलता कुछ निर्बलताके कारण नहीं थी। यह उसके समवेदना-शील, सहानुभूति-पूर्ण और दयार्द्र अन्तः-करणका पूरा प्रतिबिम्ब था। उसे इसपर गर्व था और समुचित गर्व था। इस विषयमें उसका यह सिद्धान्त था कि—'शरीफ़ (सज्जन) की यह पहचान है कि अपनेसे बड़ेको दबा ले और छोटेसे खुद दब जाय'—इस सिद्धान्तका वह सच्चा अनुगामी था, जैसा कि उसके जीवनकी अनेक ऐतिहासिक घटनाओंसे सिद्ध है।

न्याय-निष्ठा

उसके उच्च पदाधिकारियोंके अन्यायकी जब कोई शिकायत उसके पास पहुंचती थी, तो वह बड़े ध्यानसे सुनता और समुचित प्रतीकार करता था। एक बार उसके एक बहुत बड़े अधिकारीके विरुद्ध किसीने अर्ज़ी दी। माँमूने उसपर यह हुक्म लिखकर वह अर्ज़ी उस अधिकारीके पास भेज दी—'जिस वक्त तक एक आदमी भी मेरे दरवाज़े पर तेरी शिकायत करनेवाला मौजूद है, तुझको मेरे दरबारमें रसाई (पहुंच) न होगी।' मामूंके भाई अबू-ईसाकी किसीने शिकायत की। मामूँने अपने भाईको लिखा—'प्रलयके दिन जब इन्साफ़ होगा तो कुल और गौरव पर ध्यान नहीं दिया जायगा।' हमीद नामक एक दूसरे अधिकारीको किसीकी शिकायत-पर यह कहकर फटकारा—'ऐ हमीद! दरबारीपने पर न भूलना, न्यायकी दृष्टिमें तू और कमीना गुलाम दोनों बराबर हैं।'—ऐसे ही प्रसंग पर एक और अधिकारीको यह डाँट बतलाई—'तेरा बेतमीज़ और दुःस्वभाव होना तो मैंने गवारा (सहन) किया;

लेकिन प्रजापर ज़ुल्म करना तो नहीं बरदाश्त कर सकता हूं।'— 'उमरू' नामक उद्दण्ड पदाधिकारीको यह उपदेशपूर्ण भर्त्सना की— 'ऐ उमरू! अपनेको अदल (न्याय) से आबाद कर, ज़ुल्म तो उसका ढा देनेवाला है'।

मामूँका यह उपदेश दूसरोंके लिये ही नहीं था, न्याय-दण्ड-का प्रहार सहनेको वह स्वयं भी सहर्ष सदा तयार रहता था। रविवार-का दिन उसने दीन-दुखियोंकी पुकार सुननेके लिये नियत कर रक्खा था। उस दिन वह प्रातःकालसे लेकर दिन ढले तक दरबार-आम करता था,—'जिसमें ख़ास व आम किसीके लिये कुछ रोक न थी, और जहाँ पहुंचकर एक कमज़ोर मज़दूरको भी अपने हक़ूक़में शाही-ख़ानदान-की बराबरीका दावा होता था।

एक दिन एक दीन बुढ़ियाने दरबारमें आकर ज़बानी शिका-यत पेश की कि—'एक ज़ालिम (अन्यायी) ने मेरी जायदाद छीन ली है।' मामूंने कहा—'किसने और वह कहाँ है?' बुढ़ियाने इशारेसे बताया कि 'आपके पहलू (बगल) में'। मामूंने देखा तो खुद उसका बड़ा बेटा अब्बास था। वज़ीर-आज़मको हुक्म दिया कि शाहज़ादेको बुढ़ियाके बराबर ले जाकर खड़ा कर दे; दोनोंके इज़हार सुनें। शाहज़ादा अब्बास रुक रुक कर आहिस्ता गुफ्तगू करता था। लेकिन बुढ़ियाकी आवाज़ निर्भयताके साथ ऊँची होती जाती थी। वज़ीर-आज़मने रोका कि खलीफ़ाके सामने चिल्लाकर बोलना ख़िलाफ़ अदब (सभ्यताके विरुद्ध) है। मामूंने कहा जिस तरह चाहे आज़ादीसे कहने दो, सचाईने उसकी

ज़बान तेज़ कर दी है और अब्बासको गूंगा बना दिया है।' अख़ीरमें मुक़द्दमेका फ़ैसला बुढ़ियाके हक़में हुआ, और जायदाद वापस दिला दी गई।

मामूंकी इस आज़ाद-पसन्दी (स्वातन्त्र्य-प्रियता) ने उसके न्यायाधिकारियोंको भी न्याय-परायणतामें बहुत स्वतंत्र और निर्भय बना दिया था।

एक बार खुद मामूंपर एक शख्सने तीस हज़ारका दावा दायर किया, जिसकी जवाबदेहीके लिये उसको (मामूंको) दारुल्-क़ज़ा (चीफ़-जस्टिसके इजलास) में हाज़िर होना पड़ा। सेवकोंने कालीन लाकर बिछाया कि ख़लीफ़ा (मामूं) उसपर तशरीफ़ रक्खें, लेकिन क़ाज़ीउल्-क़ाज़ात (चीफ़ जस्टिस) ने मामूंसे कहा कि यहां आप और मुद्दई दोनों बराबर दर्जा रखते हैं। मामूंने कुछ बुरा न माना, बल्कि इस न्याय-निष्ठाके पुरस्कारमें चीफ़ जस्टिसका वेतन और बढ़ा दिया।

ये घटनाएं मामूंकी न्याय-प्रियता और प्रजापालन-दक्षताके उज्ज्वल प्रमाण हैं। आज-कलकी रोशनीके ज़मानेमें—प्रजा-तन्त्र-प्रणालीके शासनोंमें भी ऐसे उदाहरण कहीं ढूंढ़े न मिलेंगे। झूठी धाक (Prestige) की मान-मर्यादाके लिये भयङ्कर हत्या-काण्डोंपर पालिसीका पर्दा डालकर असलियतको छिपा देना ही आज-कलकी राजनीति हो गई है। जिनके मतमें अन्यायपीड़ित प्रजाके आर्तनादको बग़ावत समझना, और दादके बदले दण्ड देना ही आतङ्क बिठानेका बढ़िया उपाय है, वे भले ही मामूंकी शासन-

योग्यतापर सन्देह या नुकताचीनी करें; पर इन्साफ़से देखा जाय तो मामूं वास्तवमें सच्चा शासक था। फिर यह भी नहीं कि वह निरा नरम ही था। उसके न्याय-मार्गमें जो रुकावट डालता था, चाहे वह कितना ही प्रभावशाली या प्रिय व्यक्ति क्यों न हो, उसका जानी दुश्मन था। वज़ीर-आज़म 'फ़ज़ल' जो बचपनसे उसका साथी था, जिसने मामूंकी हर मुश्किलमें मदद की, जिसके बल-पराक्रमसे मामूंने निष्कण्टक राज्य पाया और साम्राज्य बढ़ाया, वह जब अधिकार-मदमें अत्याचारपर उतारू हुआ, न्यायार्थियोंको ख़लीफ़ाके पास पहुंचनेमें बाधा देने लगा, सब उसके आतङ्कसे काँपने लगे, सच ज़ाहिर करनेमें डरने लगे, तब यद्यपि वह सल्तनतमें स्याह सफ़ेदका मालिक था, ख़लीफ़ा भी उसकी कारगुज़ारियोंका बड़ा कृतज्ञ था, उसका बहुत लिहाज़ करता था; पर उसकी न्याय-बाधाको अधिक सहन न कर सका। आख़िर ख़लीफ़ाने 'फ़ज़ल'का काँटा छाकर ही छोड़ा—कण्टकोद्धार करके न्यायमार्गको निष्कण्टक बनाकर ही दम लिया। सचमुच वह अपने इस आदर्श (Motto) के अनुसार सच्चा शरीफ़ था—'शरीफ़की यह पहचान है कि वह अपनेसे बड़ेको दबाए, और छोटेसे खुद दब जाय।'

जासूसी विभाग

मामूंको सर्व-साधारणके समाचार जाननेका बड़ा शौक़ था। १७०० बूढ़ी औरतें मुक़र्रर थीं जो तमाम दिन शहर बग़दादमें फिरती थीं, और शहरका कच्चा-चिठ्ठा उसको पहुंचाती थीं, पर मामूंके सिवा किसीको उनके नामो-निशानका नाम-धामका-पता न था।

हर सीग़े (विभाग) में अलग अलग खुफ़िया-नवीस और वाक़ानिगार (घटना-लेखक-रिपोर्टर) मुक़र्रर थे। मुल्कका कोई ज़रूरी वाक़ा उससे छिपा न रह सकता था; पर यह अजीब बात है कि इस तरहकी कुरेद और खोजका जो यह आम असर होता है कि हर शख़ससे बदगुमान हो जाना, और सर्वसाधारणको स्वतन्त्रतामें बाधक होना; मामूँ इस ऐबसे बिलकुल बरी था। उसके जीवन-इतिहास-का एक एक अक्षर छान डालो, एक घटना भी ऐसी नहीं मिल सकती जिससे उसकी इस कार्रवाई पर हरफ़ आ सके। मामूं के इस खुफ़िया महकमेसे प्रजाको बहुत लाभ पहुंचता था। मामूं को लोगोंके भेद जाननेका एक व्यसन सा था; वह भेदिया-विभाग पर लाखों रुपये ख़र्च करता था; पर ये भेदिये आजकलकी तरहके 'भेड़िये' नहीं होने पाते थे। मामूँ चुग़लखोरों और पिशुनोंका जानी दुश्मन था। इस विषय में उसके उच्च विचार सोनेके अक्षरोंमें लिखनेके लायक़ हैं। उसके सामने जब पर-निन्दक पिशु-नोंका प्रसङ्ग आता था तो वह कहा करता था कि—'उन लोगोंकी निसबत तुम क्या ख्याल कर सकते हो जिन्हें ईश्वरने सच कहनेपर भी लानत (धिक्कार) की है ?' उसका कथन था कि जिस शख्सने किसीकी शिकायत करके अपनी इज़्ज़त मेरी आँखोंमें घटा दी, फिर किसी तरह उसे नहीं बढ़ा सकता।

'शिबली' लिखते हैं कि मामूं यद्यपि बड़ी शान-शौकतका बादशाह था, नामवरीके दफ्तरमें इतिहास-लेखकोंने उसके प्रभुत्व-की महत्त्वपूर्ण गाथाएं मोटे अक्षरोंमें लिखी हैं; पर हमारी रायमें

११

जो चीज़ उसके जीवनचरितको अत्यन्त अलंकृत और प्रभावशाली बना देती है, वह उसकी सादा-मिज़ाजी और बेतकल्लुफ़ी है। एक ऐसा बादशाह जो तख्त-हुकूमत पर बैठकर कुल इसलामी दुनियाके भाग्यका विधाता बन जाता है; किस क़दर अजीब बात है कि आम-दोस्तोंसे मिलने जुलनेमें सल्तनतकी शानका लिहाज़ रखना पसन्द नहीं करता। अक्सर विद्वान् और गुणी पुरुष रातको उसके अतिथि होते थे और उसके बिस्तरसे बिस्तर लगाकर सोते थे; पर उसका आम बरताव ऐसा ही होता था जैसा कि एक अन्तरंग मित्रका मित्रके साथ होता है। क़ाज़ी 'यहिया' एक रात उसके महमान थे। अचानक आधी रातके बाद उनकी आँख खुल गई, और प्यास मालूम हुई। चूंकि चेहरेसे व्याकुलता प्रकट होती थी, मामूँने पूछा, कुशल है ? क़ाज़ी साहबने प्यासकी शिकायत की। मामूँ खुद चला गया, और दूसरे कमरेसे पानीकी सुराही उठा लाया। क़ाज़ी साहबने घबराकर कहा—हुज़ूरने नौकरोंको आज्ञा दी होती।—मामूँने मुहम्मद साहबकी एक आज्ञा सुनाकर कहा कि 'सेवा-भाव ही आदमीको बड़ा बनाता है।' रातको सेवक सो जाते थे, तो वह खुद उठकर चिराग़ और शमा दुरुस्त कर देता था।

एक बार बाग़की सैरको गया। क़ाज़ी यहिया भी साथ थे—मामूं उनके हाथमें हाथ देकर टहलने लगा। जानेके वक्त धूपका रुख़ क़ाज़ी-साहबकी तरफ़ था, वापस आते वक्त मामूंकी तरफ़ बदल गया। क़ाज़ी साहबने चाहा कि धूपका पहलू खुद ले लें,

जिससे मामूं छायामें आ जाय; पर मामूंने यह न माना और कहा कि यह बात इन्साफ़से बहुत दूर है। पहले मैं छायामें था, अब वापसीके वक्त तुम्हारा हक़ है।—मामूंकी सादा-मिज़ाजी उस समय और भी विचित्र मालूम होती है जब इसी अब्बासी खान्दानके उससे पहले खलीफ़ाओंके चरित्रोंपर दृष्टि डाली जाती है। मामूंके परदादा खलीफ़ा 'महदी' से पहले तो दरबारियोंको खलीफ़ाके दर्शन भी न मिलते थे। खलीफ़ाके सिंहासनके आगे कोई बीस हाथके फ़ासले पर एक बहुमूल्य परदा पड़ा रहता था, और दरबारी लोग उससे कुछ फ़ासले पर हाथ बाँधे खड़े होते थे, खलीफ़ा परदेकी ओटमें बैठकर आज्ञा-प्रदान करता था। यद्यपि खलीफ़ा 'महदी'ने खिलाफ़तके चेहरेसे यह उपचारपूर्ण परदा उठा दिया था; पर फिर भी और बहुतसे तकल्लुफ़के परदे अभी बाक़ी चले आते थे। मामूंके अहद तक तमाम दरबार अबतक इसी तरहके रीति रिवाजका पाबन्द चला आता था। मामूंने अपनी सादा-मिज़ाजीसे दरबारके क़ायदोंमें बहुत कुछ बेतकल्लुफ़ी और सादगी पैदा कर दी थी।

विद्वानोंका सम्मान

मामूं विद्वानोंका कितना क़दरदान था, विद्वानोंके सम्मान-का उसे कितना ध्यान था, इसका पता इन नीचे लिखी घटनाओंसे अच्छा मिलता है। मामूंके दो पुत्र 'फ़र्रा' नामक एक विद्वान्से शिक्षा पाते थे। एक बार उक्त शिक्षक किसी कामके लिए अपनी गद्दीसे उठा, दोनों शहज़ादे दौड़े कि जूतियाँ सीधी करके आगे

रख दें; पर क्योंकि दोनों साथ पहुंचे, इस पर झगड़ा हुआ कि गुरु-सेवाका यह श्रेय किसे प्राप्त हो। आखिर दोनोंने आपसमें फ़ैसला कर लिया। हर एकने एक एक जूता सामने लाकर रक्खा। मामूंने एक एक चीज़पर पर्चेनवीस (रिपोर्टर) मुक़र्रिर कर रक्खे थे। फ़ौरन इत्तला हुई; और उस्ताद 'फ़र्रा' बुलाये गये। मामूंने उससे कहा—'आज दुनियामें सबसे अधिक प्रतिष्ठित और पूज्य कौन है? फ़र्राने कहा—"अमीर-उल्-मोमनीन (मुसलमानोंके स्वामी—मामूं)—से अधिक प्रतिष्ठित कौन हो सकता है? मामूंने कहा—'वह जिसकी जूतियां सीधी करने पर अमीर-उल्-मोमनीनके प्राणोपम पुत्र भी आपसमें झगड़ा करें!'—फ़र्राने उत्तर दिया—'मैंने खुद शाहज़ादोंको रोकना चाहा था, पर फिर ख्याल हुआ कि उनके इस श्रद्धाभावमें बाधक क्यों बनूं"। मामूं—'यदि तुम उनको रोकते, तो मैं तुमसे बहुत अप्रसन्न होता। इस बातने उनकी इज्ज़त (प्रतिष्ठा) कुछ :कम नहीं की; किन्तु कुलीनता और शिष्टताका और परिचय दे दिया। बादशाह, बाप, और गुरुकी सेवासे इज्ज़त बढ़ती है घटती नहीं।'—यह कहकर लड़कोंको गुरु-भक्ति और 'फ़र्रा' को अध्यापन-दक्षताके पुरस्कारमें दस दस हज़ार दर्हम* दिलाये।

मामूँ अनेक विषयोंका असाधारण विद्वान था; विद्वत्ताकी दृष्टिसे वह एक आदर्श प्रामाणिक पुरुष माना जाता था; पर उसे

* 'दर्हम' उस वक्तका एक तांबेका सिक्का था जो आज कलके ।) के बराबर होता था। संस्कृतवालोंका 'द्रम्म' भी शायद यही है!

अहंकार और आग्रह छू नहीं गया था। अपनी ग़लतीको ग़लती मान लेनेमें उसे ज़रा संकोच न था, 'बुद्धेः फलमनाग्रहः'—का इससे उत्तम उदाहरण और क्या होगा कि एक शब्दकी एक ज़रासी ज़ेरो-ज़बरकी ग़लती बतानेपर एक विद्वान्को उसने इतना पुरस्कार दे डाला, जितना किसीने अपनी प्रशंसामें 'क़सीदा' (कविता) सुनकर भी न दिया होगा।

एक बार एक बहुत बड़े विद्वान् 'नज़र' नामक मामूंकी ख़िदमतमें हाज़िर हुए। वह मामूंकी सादगी और बेतकल्लुफ़ी-से वाक़िफ़ थे। कपड़ेतक नहीं बदले, वही मुद्दतके मैले-कुचैले मोटे कपड़े पहने दरबार-शाहीमें चले आये।

मामूं—'क्यों नज़र! अमीर-उल्-मोमनीनसे इस लिबास (बेष) में मिलने आये हो!'

नज़र—सख़्त गर्मीकी इन्हीं कपड़ोंसे हिफ़ाज़त होती है।

मामूं—यह तो बहाने हैं, असल बात तो यह है कि तुम किफ़ायत-शारी पर मरते हो।

इसके बाद फिर इल्म 'हदीस' की चर्चा शुरू हुई। मामूंने एक 'हदीस' कही; पर 'सिदाद' शब्दको जो इस हदीसमें आया है, ग़लत 'सदाद' पढ़ गये। नज़रने यह ग़लती उनपर ज़ाहिर करनी चाही, तो उसी हदीसको अपने ढंगपर बयान किया, और उस शब्दको कसर—ज़ेर—के साथ 'सिदाद' पढ़ा। मामूं तकिया लगाए बैठा था, सहसा सँभल बैठा, और कहा क्यों, क्या 'सदाद' फ़तहसे—ज़बरसे-ग़लत है। नज़रने कहा कि हां, 'हशीम' आपके उस्तादने आपको ग़लत बताया।' मामूं—क्या दोनोंके मानी (अर्थ) मुख़्त-

लिफ़ हैं ? नज़र—हां, 'सदाद' .के मानी रास्तरवी (सीधे मार्गपर चलना)के हैं। 'सिदाद' .उसको कहते हैं जिससे कोई चीज़ रोकी जाय—मामूंने कहा—'कोई 'सनद' (प्रमाण) बता सकते हो ? नज़रने अपने कथनकी पुष्टिमें अरबीका एक शेर पढ़ा। मामूंने सिर नीचा कर लिया, और कहा, 'खुदा उसका बुरा करे जिसको फ़ने-अदब (साहित्य-कला) नहीं आता।' फिर नज़रसे भिन्न भिन्न विषयोंके पद्य सुने, और रुख़सत होते वक्त वज़ीर-आज़म फ़ज़ल को रुक्का लिख दिया कि नज़रको पचास हज़ार दर्हम अता किये जायँ। नज़र यह रुका लेकर खुद फ़ज़लके पास गये। फ़ज़लने रुक्का पढ़कर कहा—'तुमने अमीर-उल्-मोमनीन-(मामूं) की ग़लती साबित की ?' नज़रने कहा—नहीं, ग़लती तो हशीम (मामूंके उस्ताद) ने की। अमीर-उल्-मोमनीनपर क्या इलज़ाम है। फ़ज़लने पचास हज़ार पर तीस हज़ार अपनी तरफ़से और बढ़ाये। इस तरह एक ग़लती बतानेके बदलेमें नज़रने अस्सी हज़ार दर्हम हासिल किये।

मामूंको विद्याका व्यसन था। यों तो उसकी कोई मजलिस (सभा) भी शास्त्र-चर्चासे ख़ाली नहीं होती थी, पर मंगलवार शास्त्रार्थका नियत दिन था। इसका ढंग यह था कि प्रातःकाल कुछ दिन चढ़े, हर मज़हब और सम्प्रदायके विद्वान् और कला-कुशल गुणी जन उपस्थित हुए। शाही दरबारका एक बड़ा कमरा पहले ही से सजाया रहता था, सब लोग बहुत बेतकल्लुफ़ीसे वहां बैठ गये। सेवकोंने प्रत्येक उपस्थित सज्जनके सामने आकर अर्ज़ किया कि

बेतकल्लुफ़ीसे तशरीफ़ रखिये, और चाहें तो पांवसे मोज़े भी उतार दीजिये।—फिर तरह तरहकी खाने-पीनेकी चीज़ें प्रस्तुत हुईं, सबने भोजन किया। हाथ-मुंह धोया। अगर और लोबानकी अंगोठियां आईं। कपड़े बसाये, खुशबू मली। खूब तृप्त और सुगन्धित होकर शास्त्रार्थ-मन्दिर (दारुल्-मनाज़रा) में पहुंचे। और मामूंके ज़ानूसे ज़ानू मिलाकर बैठे। शास्त्रार्थ शुरू हुआ। मामूं खुद एक फ़रीक़ बनाता था; पर भाषण इस स्वतंत्रतासे होते थे कि मानो किसी शख्सको यह मालूम ही नहीं कि सभामें ख़लीफ़ा भी मौजूद है! दोपहर तक यह सभा जमी रहती। सूरज ढलनेके बाद फिर खा-पीकर रुखसत होते थे। इन शास्त्राथोंमें कभी कभी वक्ता लोग सीमाका उल्लंघन भी कर जाते थे; पर मामूं बड़ी गम्भीरता और शान्तिसे बरदाश्त करता था।

मामूंकी विद्या-सभामें बीस विद्वद्-रत्न थे, जो हज़ारों विद्वानोंमेंसे चुनकर रखे गये थे। मामूंको जिस प्रसिद्ध विद्वानका कहीं पता मिलता, जिस तरह बनता उसे अपने यहां बुलानेका प्रयत्न करता। उस समय यूनानमें 'लीव' या 'ल्यू' नामक कोई तत्ववेत्ता विद्वान था। उसके लिये मामूंने शाह-यूनानको लिखा—उक्त विद्वानको आज्ञा दी जाय कि वह मुझे यहां आकर फ़िलासफ़ी पढ़ा जाय, जिसके बदलेमें सदाके लिये सन्धिकी प्रतिज्ञा और पांच टन सोना देना मंजूर करता हूं।—एक टन, २७ मनके क़रीब होता है। कितनी भारी गुरु-दक्षिणा है! और शाश्वतिक सन्धिकी प्रतिज्ञा इसके अतिरिक्त !!

ये उल्लिखित घटनाएं मामूंकी उदारताके समुद्रमेंसे दो एक बिन्दु हैं। उसका समस्त जीवन-वृत्तान्त इसी प्रकारके उदारता-पूर्ण उपाख्यानोंसे भरा हुआ है। इस छोटेसे लेखमें किस किसका उल्लेख किया जाय! ऐसी बातें इस ज़मानेमें निरी कहानियां मालूम होती हैं! लेकिन वह ज़माना कविके शब्दोंमें बड़ी हसरतसे कह रहा है—

'बयां ख्वाब की तर जो कर रहा है
यह क़िस्सा है जबका कि 'आतिश' जवां था।*

* मामूं रशीद अब्बासियोंके वंशका छठा ख़लीफा था। इस वंशकी ख़िलाफ़त ५२४ वर्ष तक रही। 'मामूं' का जन्म सन् १७० हिजरीमें हुआ और मृत्यु ४८ वर्षकी अवस्थामें, २१८ हिजरीमें हुई। अर्थात् अबसे कोई ११०० वर्ष पूर्व, विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें, मामूं वर्तमानथा। (स्वर्गीय मौलाना शिबली-नेमानी की प्रसिद्ध पुस्तक 'अल्-मामून' से इस लेखकी सामग्री संकलित है)

दिव्य-प्रेमी मन्सूर

'चढ़ा मन्सूर सूलीपर पुकारा इश्क़-बाज़ोंको,
य उसके बामका ज़ीना ❀ है आये जिसका जी चाहे।'

❀ ❀ ❀

'शोरे-मन्सूर अज़् कुजा वो दारे-मन्सूर अज़् कुजा, †
ख़ुद ज़दी बांगे—अनलहक़ बरसरे-दार आमदी।'

यह कुछ ईरान और अरबहीमें नहीं, बल्कि अक्सर मुल्कोंमें क़ायदा है कि बेटेके नामके साथ बापका नाम भी ज़रूर लिया जाता है, पर हां इन हज़रत 'हुसैन बिन् मन्सूर' में यह एक विशेष और विचित्र बात थी कि इन्होंने अपने नाम 'हुसैन' को अपने बापके नाममें फ़ना कर दिया—मिलाकर मिटा दिया—और मन्सूर ही मन्सूर रह गये, न 'हुसैन' न 'हुसैन बिन् मन्सूर' (मन्सूरका बेटा हुसैन)। यह तल्लीनता (फ़नायत) की पहली मन्ज़िल थी जो क़ुदरतने इनसे ख़ुद बख़ुद तय करा दी। वह मन्सूर, जिनके यह मन्सूर एक अंश थे, अर्थात् हमारे चरित-नायक मन्सूरके बाप, एक 'नौमुसलिम' थे, जो ईरानके एक गांव बैज़ामें रहते थे। वहीं इसी गांवमें यह पैदा हुए, पर शायद इनकी पैदायशके बाद इनके

❀ बाम का ज़ीना=अटारीकी सीढ़ी।

† मन्सूरकी ब्रह्म-घोषणा और मन्सूरकी सूली—यह तो सब कहनेकी बात है, ख़ुद उसीने 'अनूअलहक़' की आवाज़ लगाई और आपही सूलीपर आ चढ़ा!

माँ-बापका अधिक दिनोंतक वहां (बैज़ामें) रहना नहीं हुआ; क्योंकि अल्लामा-(पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण विद्वान्)-इब्न ख़लक़ानका बयान है कि इन्होंने (मन्सूरने) होश ईराक़में सँभाला; वहीं इनकी शिक्षा आरम्भ हुई। पर इन्हें जल्दी ही ईराक़ भी छोड़ना पड़ा और यह शहर 'शूस्तर' (ईरानका एक शहर) में आकर सुहेल बिन्-अब्दुल्लाके शिष्य हुए और अठारह वर्षकी उम्र तक इनकी सेवामें रहे। इनसे उलूम ज़ाहिरी—अपरा विद्या—सीखकर ईराक़ अरबकी तरफ़ चले गये। वहां इस समय तसव्वफ़—वेदान्तवाद—ने अपना नया नया रङ्ग दिखाना शुरू किया था और वेदान्तके एकात्मवाद या सर्वात्मवादने अन्य सब वादोंको दबा रखा था। बड़े बड़े विद्वान् मतमतान्तरके व्यर्थ विवादोंको छोड़कर सर्वात्मवादमें दीक्षित हो रहे थे। मन्सूर भी यहां आकर इन्हींमें मिल गये और सूफ़ियोंकी सङ्गतिमें बैठने लगे। अबुल-हुसैन सूरी और 'जुनैद' बग़दादी जैसे पहुंचे हुए अवधूतोंमें मिलकर बैठनेका इन्हें चस्का पड़ गया।

बादमें यह बसरे गये और उमर बिन्-उस्मान मक्कीकी ख़िदमतमें रहने लगे। यहांसे दूसरा रङ्ग चढ़ना शुरू हुआ। उमर बिन उस्मान एक बहुत ऊँचे दर्जेके बुजुर्ग थे। इन्होंने इल्म तसव्वफ़ (वेदान्त)में कई कई बड़े अद्भुत ग्रन्थ लिखे थे; पर वह इन ग्रन्थोंको अपनेसे जुदा न होने देते थे और न हर किसीको दिखाते ही थे—अनधिकारियोंकी आँखोंसे छिपाते थे। इन हज़रत मन्सूरको कहीं वे ग्रन्थ हाथ लग गये। पहले तो उन्हें आपने खूब पढ़ा और

फिर कुछ उनका ऐसा नशा चढ़ा कि जिन बातोंको सारे सूफ़ी सर्व-साधारणके सामने सुनाना उचित नहीं समझते थे, यह उन्हें बाज़ा-रमें खड़े हो होकर लोगोंको सुनाने लगे। मोटी बुद्धिवाले, स्थूलदर्शी, अनभिज्ञ लोग भला इन रहस्यकी बातोंको क्या समझ सकते थे और कब सहन कर सकते थे? वे इनके (मन्सूरके) शत्रु हो गये और जब लोगोंको मालूम हुआ कि यह सब कुछ हज़रत उमर बिन्-उस्मानकी शिक्षाका परिणाम है, तो उनसे भी घृणा करने लगे और चारों ओरसे उनका विरोध होने लगा। हज़रत उमर बिन्-उस्मानको मन्सूरकी यह करतूत बहुत बुरी लगी और इनसे उनका चित्त कुछ ऐसा फटा कि इन्हें अपनेसे पृथक् कर दिया। यह उनकी सत्संगतिसे वञ्चित होकर फिर बसरेसे बगदाद पहुंचे और दुबारा हज़रत 'जुनैद'की संगतमें शरीक हो गये, पर यहां भी वही बातें जारी रखीं। एकदिन हज़रत जुनैदसे आपने कुछ प्रश्न पूछे, जिसपर उन्होंने (जुनैदने) फ़रमाया कि—'वह दिन बहुत समीप है, जब एक लकड़ीका सिरा तेरे ख़ूनसे लाल होगा।' मन्सूरको भी इसपर जोश आ गया और जुनैदसे बोले—'हां बेशक मेरे ख़ूनसे तो लकड़ी लाल होगी, पर आपको भी उससे पहले चोला बदलना पड़ेगा (लिबास तब्दील करना पड़ेगा)।' निदान ऐसा ही हुआ; दोनोंकी बातें पूरी हुईं, जिसका उल्लेख आगे होगा।

इस विवादके बाद, आपने बगदाद भी छोड़ दिया और 'शूस्तर' में जा विराजे। वहां चित्त-वृत्तिमें कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ कि वह कुल कैफ़ियत जाती ही—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के प्रचारकी

लहर रुक गई और आप एक अपरा-विद्याके विद्वान्के समान जीवन व्यतीत करने लगे। लोगोंपर बड़ा प्रभाव जम गया, सब आदर करते थे; पर इस दशामें थोड़े ही दिन बीते थे कि फिर तबीयत बदली और सब छोड़-छाड़कर देशाटनपर कमर बांधी। दूर दूर गये, पर यात्रामें भी अपने लेखों और उपदेशोंसे सर्वसाधारण-को लाभ पहुंचाते रहे। जहाँ गये, लोगोंको सन्मार्गकी शिक्षा दी। आख़िर खुरासान, तूरान, सीस्तान, फ़ारस, किरमान और बसरा आदि देखते-दिखाते मक्के पहुंचे। इस यात्रामें इनके साथ चार सौ शेख़ (प्रतिष्ठित विद्वान्) थे, अन्य अनुयायियोंकी संख्याका अनुमान इससे ही हो सकता है। जब आप 'हज्ज' से निवृत्त हुए, तो सब अनुयायियोंको विदा कर दिया। आप वहीं (मक्केमें) ठहर गये, और बड़ी कठिन तपस्यामें तत्पर हो गये। मन्सूर सदासे सदाचारी, परिश्रमी और तपस्वी जीव थे। यह उनका एक साधारण नियम था कि दिन-रातमें नमाज़की चारसौ रकअतें (उपासनाके मन्त्र) पढ़ते थे; पर यहाँ (मक्केमें) रहकर जैसी जैसी सख्तियाँ इन्होंने झेलीं—घोर तपस्यामें जैसे जैसे कष्ट उठाये—उन्हें सुनकर रोंगटे खड़े होते हैं। पूरे एक वर्ष तक नंगे-पिण्डे—दिगम्बर-दशामें—काबेके सामने खड़े रहे। कँप-कँपाते हुए जाड़े और अरबकी पिघलानेवाली प्रचण्ड धूपें, सिरपर लीं, यहां तक कि खाल चटखने लगी और चरबी पिघल पिघलकर बहने लगी। २४ घन्टेमें केवल एक रोटी खानेको इन्हें गाँवसे मिल जाती थी, उसीसे अपना दिन-रातका रोज़ा खोलते थे।

जब वर्ष पूरा हुआ तो फिर दूसरा 'हज' किया और फिर देशाटन-को उठ खड़े हुए। इस बार हिन्दुस्तान और चीन तक आये। चीनमें इसलाम-मतका प्रचार करते रहे। चीनसे फिर बग़दाद और बसरे होते हुए मक्के वापस आये, और दो वर्ष वहां ठहरे। बस अबके वह रंग पक्का हो गया, जिसमें यह बहुत दिनोंसे ग़ोते लगा रहे थे। समाधि और तल्लीनताकी अवस्था प्राप्त हो गई, मस्त और विक्षिप्त-से रहने लगे। सर्वसाधारण तो क्या, उस समयकी इनकी भेद-भरी बातें बड़े-बड़ोंकी समझमें न आती थीं। सब इनसे घृणा करने लगे। जिधर जाते, उधरसे ही दूर दूरकी धिक्कार-ध्वनि सुनाई देती। लिखा है कि इस दशामें यह कोई पचास शहरोंमें गये, पर किसी शहरमें रहना न मिला। जहां गये, वहींसे निकाले गये। हिर-फिर कर फिर बग़दाद आये; और वहीं ठहर गये। वहाँ हज़रत शिबलीसे जाकर मिले, और कहा कि—'एक बड़ी दुर्गम घाटी सामने है। मेरी दृष्टिसे सारी सृष्टि ओझल है—मुझे सब प्रपंच मिथ्या और असत् प्रतीत हो रहा है—मैं स्वयम् एक अगाध समुद्रमें भटकता फिर रहा हूं। सत्तत्व, एकता का प्रकाशकर रहा है और मन्सूरका कहीं पता नहीं चलता'।

हज़रत शिबलीने समझाया—शिक्षा दी—कि 'मित्र (प्रेमास्पद ब्रह्म) के भेदको छिपाना चाहिए—सर्वसाधारण अनधिकारी जनोंपर रहस्य नहीं खोलना चाहिए।—'

इस शिक्षाका आपपर बहुत प्रभाव पड़ा, और प्रयत्नपूर्वक यह रहस्यको छिपाने लगे, पर छिपाना असम्भव था। बहुतेरा

संयम किया, पर कुछ बन न पड़ा। एक दम मौनका बाँध टूट गया,—और 'अन्अल्हक़' (अहं ब्रह्मास्मि) की घोषणा गूंज उठी, जिसने सर्वसाधारण और विशिष्ट व्यक्तियोंको आश्चर्यचकित कर दिया। मतान्ध मौलवियोंने कहा कि यह 'कुफ़्का कल्मा' है। दुनियादार सूफ़ियोंने भी उनकी हाँ में हाँ मिला दी, पर इससे क्या होता है! वह (मन्सूर) अद्वैतभावके आवेशमें आपे-से निकल चुके थे। अद्वैतके अतिरिक्त और कुछ उन्हें सूझता ही न था। किसीके कहने-सुननेका कुछ असर न हुआ; अद्वैतभावना परा काष्ठाको पहुंच गई। एक दिन अरबी भाषामें एक क़िता कहा, जिसका भाव यह है कि—

'मैं वही हूं, जिसे मैं चाहता हूं; और जिसे मैं चाहता हूं, वह मैं ही हूं। हम दोनों दो आत्माएं हैं, जिन्होंने एक शरीरमें अवतार लिया है; इसीलिए जब वह मुझे देखता है, मैं उसे देखता हूं, और जब मैं उसे देखता हूं, वह मुझे देखता है।'—

अब लोग और अधिक भड़के और मुफ्तियों और मौलवि-योंसे जा जाकर शिकायत करने लगे कि इन्हें दण्ड क्यों नहीं दिया जाता! दीनदार मौलवियोंने सूफ़ियोंसे सलाह-मशवरे किये और आख़िर कुफ़्का फ़तवा मन्सूरपर लग गया। सूफ़ी विद्वान् यद्यपि सब रहस्य समझते थे और मन्सूरकी दशासे भी अच्छी तरह परिचित थे, पर वे मतकी पगडंडी—शरय्यत—को भी न छोड़ सकते थे; इसलिए वे चुप रहे; उन्होंने न इधरकी कही, न उधर की। लोगोंने इनके (सूफ़ियोंके) 'मौन' को 'अर्द्ध सम्मति'

समझकर मन्सूरको पक्का 'काफ़िर' मान लिया, पर मन्सूर क्या काफ़िर होने या कहलानेसे डरते थे ? इनका तो कथन था कि—'ऐ आश्चर्यचकितों—संशयालुओं—के मार्गदर्शक ! यदि मैं काफ़िर हूं, तो मेरे कुफ़्रको और बढ़ा।'—निदान इन्होंने इन फ़तवोंकी कुछ परवा न की; और परवा क्या करते, इन्हें ख़बर ही न थी कि क्या हो रहा है ! अपनी ही ख़बर न थी, औरोंकी क्या ख़बर रखते ! इसी तरह 'हक़, हक़, अनअल्हक़'—ब्रह्म ब्रह्म, अहं ब्रह्म—कहते रहे, यहाँतक कि कुफ्रके फ़तवेसे क़ैद और क़ैदसे क़त्लके फ़तवेकी नौबत आ गई—

'ज़ाहिदे-गुमराह के मैं किस तरह हमराह हूं,
वह कहे अल्लाह 'हू' और मैं कहूं अल्लाह हूं।'※

विरोधियोंने प्रयत्न किया कि किसी तरह मन्सूर सूलीपर चढ़ा दिये जायँ। अल्लामा अब्दुल्-अब्बास नामक बहुत बड़े विद्वान् उस समय मुफ्ती थे। उनसे जाकर पूछा कि आप मन्सूरके बारेमें क्या कहते हैं। इन्होंने उत्तर न दिया; बिलकुल

※ ज़ाहिदे-गुमराह = पथभ्रष्ट तपस्वी, कोरा कर्मकाण्डी, द्वैतमार्गी। हमराह = साथी। अल्लाह—हू = 'हू' अरबीमें ख़ुदाका एक नाम है, ख़ौफ़ (भय) को भी 'हू' कहते हैं। 'हू' में यहां चमत्कारपूर्ण श्लेष है। अर्थात् द्वैतमार्गी भक्त या तपस्वी तो ईश्वरको 'हू' समझता है—उससे भय खाता है, और 'अद्वैती, कहता है कि मैं ही तो ब्रह्म हूं, अपने स्वरूपसे भय कैसा ? 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'—भय दूसरे हीसे होता है, द्वैत-भावनाही भयका कारण है।

चुप रहे। जब आग्रह किया गया, तो कहा कि 'इस शख़्सका हाल मुझसे छिपा है, मैं इसकी बाबत कुछ राय नहीं लगा सकता।' जब इधरसे निराशा हुई, तो ख़लीफ़ा मुक़्तदर-बिल्लाने वज़ीर हामिद बिन-अब्बाससे जाकर कहा और धर्मके साथ पालिटिक्सका रंग भी दे दिया कि यह शख़्स (मन्सूर) अपने तईं ज़मीनका मालिक बताता है और बहुतसे लोग इसके साथ हो गये हैं, जिनसे सल्तनतको नुक़सान पहुंचनेका अन्देशा है। इस दावेके सबूतमें कुछ झूठे-सच्चे गवाह भी पेश कर दिये, और वज़ीरको ऐसा भरा कि वह मन्सूरको जानका गांहक हो गया, और मौलवी-मुफ्तियोंसे इनके क़त्लके फ़तवे माँगने लगा। पहले पहल तो बात कुछ टलती नज़र आई; उल्मा एका-एक क़त्लका फ़तवा देनेपर तैयार न हुए, पर विरोधकी आग बुरी होती है। जो लोग मन्सूरके पीछे पड़े थे, वे फ़िक्रमें रहे और ढूँढ़-भालकर मन्सूरकी कोई ऐसी रचना निकाल लाये, जिसमें कुछ बातें इसलाम-धर्मके विरुद्ध थीं; क्योंकि मौलवियोंने कहा था कि जबतक मन्सूरकी कोई तहरीर इसलामके ख़िलाफ़ न दिखलाओगे, क़त्लका फ़तवा न दिया जायगा। अब हामिद वज़ीरने उल्माको जमा करके वह किताब उनके सामने रखी, और मन्सूरको बुलवाकर पूछा कि 'यह इबारत शरय्यतके ख़िलाफ़ तुमने क्यों लिखी?' मन्सूरने कहा—'यह इबारत मेरी अपनी नहीं है; मैंने इसे उस किताबसे नक़ल किया है।' इसपर कहीं क़ाज़ी उमर-मक्कीकी ज़बानसे निकल गया कि 'ओ कुश्तनी! (बध्य) मैंने तो वह

किताब शुरूसे आख़िर तक पढ़ी है, मैंने उसमें यह इबारत नहीं देखी।'—बस, क़ाज़ीका इतना कहना काफ़ी बहाना था। वज़ीरने फ़ौरन कहा कि 'क़त्लका फ़तवा हो गया, क़ाज़ी साहबने मन्सूरको 'कुश्तनी' कह दिया। अब काज़ी साहब, आप फ़तवा लिख दीजिये कि मन्सूरका ख़ून मुबाह (जायज़, हलाल) है।—'क़ाज़ी साहबने बहुतेरा चाहा कि अपने वाक्यका दूसरा अर्थ लगाकर कन्नी काट जायँ, पर वज़ीर मन्सूरके ख़ूनका प्यासा हो गया था। उसने इन्हें मजबूर किया, और क़ाज़ीने वज़ीरकी नाराज़गीका ख़याल करके फ़तवा लिख दिया, जिसपर सब हाज़िर उल्माओं (उपस्थित विद्वानों) ने दस्तख़त किये। वज़ीरने फ़ौरन मन्सूरको क़ैदखाने भेज दिया, और क़त्लकी आज्ञाके लिए सब माजरा ख़लीफ़ाके सामने पेश कर दिया। ख़लीफ़ाने कहा कि 'शेख़ जुनैद बग़दादी जबतक मन्सूरको बध्य न कहेंगे, मैं कोई आज्ञा न दूंगा।' वज़ीरने जुनैदसे निवेदन किया। पहले तो उन्होंने इस झगड़ेमें पड़ना उचित न समझा, पर अन्तमें सूफ़ियाना चोला उतारकर आलिमाना लिबास पहिना और लिख दिया कि 'ज़ाहिरके लिहाज़से क़त्लका फ़तवा दिया जाता है; अन्दरका हाल अल्लाह ही ख़ूब जानता है।' कहते हैं, यह मन्सूरकी वह पेशीनगोई पूरी हुई, जो उन्होंने जुनैदके साथ विवाद करते हुए उस वक्त की थी—कि मेरे ख़ूनसे तो लकड़ी लाल होगी, पर तुम्हें भी तब यह 'चोला' बदलना पड़ेगा। पर अनेक विद्वानोंके मतमें यह घटना निरी निर्मूल है। वे कहते हैं कि जुनैद तो इस घटनासे पहिले ही

चोला छोड़ चुके थे—मर चुके थे। खैर कुछ हो, खलीफ़ा बारह
एक वर्षतक क़त्लके हुक्मको टालते रहे। यह पूरा वर्ष मन्सूरने
क़ैद-ख़ानेमें काटना पड़ा। क़ैदके दिनोंमें एक बार इब्न-अता
इन्हें किसीकी मार्फ़त कहलाकर भेजा कि 'भाई अपने कहेकी
माफ़ी माँग लो, छुट्टी पा जाओगे।' आपने उत्तर दिया—'माफ़ी
माँगनेवाला ही मौजूद नहीं है, जो माफ़ी माँगे।'—

कहते हैं, क़ैदख़ानेमें इन्होंने बहुतसी करामातें दिखलाईं।
आख़िरी करामात यह थी कि क़ैदख़ानेमें जितने क़ैदी थे, आपने
सबको आज़ाद कर दिया। क़ैदख़ानेकी ओर उंगलीसे इशारा
किया; दीवार फट गई; सब क़ैदी बाहर चले गये। एक क़ैदीने
कहा कि 'आप अन्दर रुके क्यों खड़े हैं; आप भी निकल
आइये।' बोले, 'तुम खलीफ़ाके क़ैदी हो और हम अल्लाहके क़ैदी
हैं। तुम आज़ाद हो सकते हो, मैं नहीं हो सकता।'—कहा जाता
है कि इस घटनाकी सूचना मिलने पर खलीफ़ाने आपको सूलीका
हुक्म दे दिया। जो कुछ हुआ हो, सारांश यह कि पूरे एक वर्ष
क़ैद रखनेके बाद २४ ज़ीक़ाद (अरबीका ११ वाँ महीना) सन्
३०६ हिजरीको मन्सूर क़त्ल करनेकी जगहपर लाये गये, और
विरोधियोंकी इच्छा पूरी हुई। लिखा है कि जिस दिन उन्हें सूली
दी गई है, बगदादमें आसपास और दूर दूरसे आकर इतनी भीड़
इकट्ठी हो गई थी, जिसकी गणना नहीं हो सकी। वज़ीरने
जल्लादको हुक्म दिया कि पहले मन्सूरके एक हज़ार कोड़े मारे।
यदि इससे दम निकल जाय तो खैर, नहीं तो एक हज़ार कोड़े

और मारे। यदि इतनेपर भी दम न निकले तो फिर सूली दे दे। निदान ऐसा ही किया गया। मर्दे-ख़ुदा मन्सूरने पूरे दो हज़ार कोड़े खाये और उफ़ तक न की और आख़िरको गर्दन कटवाकर जान दे दी। अफ़सोस, बावली दुनियाने इस 'होशियार'को न पहिचाना ! किसी फ़ारसी कविने ठीक कहा है—

रुबायी—

'ज़ाहिद बख्याले-ख़ेश मस्तम् दानद्,
काफ़िर बगुमां ख़ुदापरस्तम् दानद्।
मुर्दम् ज़ ग़लतफ़हमिए-मर्दुम् मुर्दम्,
ऐ काश कसे हरांचे हस्तम् दानद्॥'

यानी 'ज़ाहिद—कर्मकाण्डी भक्त—ने तो अपने ख़यालमें मुझे मस्त—अवधूत—समझा, और काफ़िरने अपने अनुमानसे मुझे ईश्वर-भक्त समझा। मैं आदमियोंकी ग़लतफ़हमी—उलटी समझ—से मर गया ; मैं जैसा था, वैसा किसीने न समझा।'—

क़त्ल के हालात ये हैं कि जब इन्हें क़त्लगाह—बधस्थान—की ओर ले चले, तो बहुत भारी भारी बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ इन्हें पहना दी थीं, पर इन्हें कुछ बोझ न मालूम होता था ; बिलकुल आरामके साथ चल रहे थे। जब सूलीके पास पहुंचे, तो भीड़ पर दृष्टि डाली और ज़ोरसे 'हक़ हक़ अन्-अल्-हक़' का नारा लगाया। इस वक्त एक फ़क़ीर आगे बढ़ा और उसने आपसे पूछा—'इश्क़ क्या है ?' बोले, 'आज, कल और परसोंमें देखलोगे,

यानी आज आशिक़को सूली दी जायगी, कल उसे जलाया जायगा, परसों उसकी ख़ाक उड़ाई जायगी।' निदान ऐसा ही हुआ।

जब मन्सूरको सूली पर चढ़ाया, तो उन्होंने अपने एक भक्तको उपदेश दिया कि—'अपने मनको भक्ति और ध्यानके बोझमें दबाये रहो, जिससे बुरे कामोंकी ओर प्रवृत्ति न हो।' बेटेसे कहा-'हक़ (ईश्वर) को याद किये बिना एक साँस लेना इबादतके दावेदार पर हराम है।'

—क़त्लके बाद, कहते हैं, कि जब उनके शरीरसे ख़ूनकी बूदें टपकती थीं, तो प्रत्येक रक्त-बिन्दुसे 'अनअलहक़' चिह्न (नक़्श) बनता जाता था। जब उनकी राख (शरीर-भस्म) नदीमें डाली गई, तो पानी पर भी वे नक़्श बनने लगे। जलानेसे पहले उनके रोम रोमसे 'अनअलहक़' की ध्वनि निकल रही थी। जब ख़ाक हो गये तो उसमेंसे भी वही आवाज़ आती रही। नदीमें जब उनकी राख बहाई गई, तो ऐसा भारी तूफ़ान आया कि शहरके डूबनेका डर हो गया। बड़ी मुश्किलसे वह तूफ़ान दूर हुआ।

मन्सूरके विषयमें लोगोंके विचार बड़े ही विचित्र हैं, जिससे प्रकट होता है कि कोई कितना ही विद्वानसे विद्वान् और विरक्तसे विरक्त व्यक्ति क्यों न हो, दुनियावाले उसे बुरा-भला कहे बिना नहीं मानते। मन्सूरके समयके सर्वसाधारणने तो ख़ैर इन्हें 'काफ़िर' 'मुरतिद', 'मरदूद',—सब कुछ बनाया ही था, पर उस समयके कुछ मुल्ला और सूफ़ी भी इनके कमालसे मुन्किर थे; फिर भी प्रायः पहुंचे हुए सूफ़ियों और विद्वानोंने इनकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा ही की है

और इन्हें सदाचारी, तपस्वी और परमज्ञानी माना है। हज़रत शिबलीने कहा है कि "मैंने एक स्वप्नमें मन्सूरको देखा, और उनसे पूछा कि कहो, 'अल्लाहसे आपकी क्या गुज़री'? उत्तर दिया कि 'मुझे विश्वासके धाममें उतारा और मेरी बड़ी प्रतिष्ठा की।' मैंने पूछा कि 'तुम्हारे अनुयायियों और विरोधियों पर क्या बीती?' कहा, 'दोनों दया-दृष्टिके पात्र समझे गये; क्योंकि दोनों दयनीय थे; जिस समाजने मुझे पहचान लिया था, वह मेरी अनुकूलताके लिए विवश था, और जिसने मुझे पहचाना नहीं था, वह अपने मतकी पगडंडी—शरय्यत—पर चलनेको लाचार था।'—

एक दूसरे सज्जनने भी स्वप्नमें देखा कि क़यामत (प्रलय) उपस्थित है और मन्सूर बिना सिर एक हाथमें प्याला लिए खड़े हैं। स्वप्नद्रष्टा सज्जनने पूछा कि 'क्या हाल है?' कहा कि 'सिर-कटोंको वहदतका जाम—अद्वैतामृतका प्याला—पिला रहा हूं।'

शेख़ अबू-सयीदका कथन है कि 'मन्सूर महापुरुष थे; वह अपने समयमें अद्वितीय थे।'

सुप्रसिद्ध सूफ़ी-विद्वान् फ़रीदुद्दीन'अत्तार' कहते हैं कि—'मन्सूर बड़े पावन-चरित और तपस्वी थे। इनका सब समय भक्ति और ध्यानमें बीतता था। यह अपने धर्मके विरुद्ध कोई काम न करते थे और अद्वैतमार्गके पक्के पथिक थे। भावावेशकी मस्तीमें इनसे एक बात सूफ़ी-सम्प्रदायके विरुद्ध निकल गई—अनधिकारियोंके सामने रहस्योद्घाटन कर दिया—इससे इनपर कुफ्रका फ़तवा नहीं लग सकता। जिसके मस्तिष्कमें थोड़ी भी अद्वैतकी गन्ध पहुंच

चुकी है, वह उनपर 'हलूली'-अवतारी—बननेके दावेका दोषारोप नहीं कर सकता—(मतान्ध मुल्लाओंने अवतारवादका प्रचारक समझकर मन्सूर पर कुफ्रका फ़तवा लगाया था)। जो इन्हें बुरा कहता है, वह अद्वैत-मार्गसे सर्वथा अनभिज्ञ है।'

सुप्रसिद्ध 'अमीर खुसरो' लिखते हैं कि एक दिन नज़ामुद्दीन औलियाके सामने मन्सूरका ज़िक्र आया तो आप बहुत देर तक मन्सूरकी महत्ताकी प्रशंसा करते रहे और कहने लगे कि जब मन्सूर सूलीके पास पहुंचे, तो शेख़ शिबलीने उनसे पूछा कि 'इश्क़ (ईश्वर-प्रेम) में सब्र (सन्तोष) क्या है ?' उत्तर दिया कि 'अपने महबूब (प्रेमास्पद-ईश्वर) की ख़ातिर हाथ-पाँव कटवा दे और दम न मारे'—यह कहकर नज़ामुद्दीन औलिया आँसू भर लाये और कहा कि सचमुच मन्सूर बड़े सच्चे प्रेमी थे।

बात यह है कि मन्सूर जो थोड़े बहुत बदनाम हुए, इसका कारण कुछ तो मतान्ध लोगोंकी मुख़ालफ़त थी और कुछ उनके अज्ञ अनुयायियोंने उनके नामपर बहुतसी अत्युक्ति-पूर्ण ऊट-पटाँग बातें प्रसिद्ध करके उन्हें बदनाम किया। मन्सूरके पीछे उनके अनुयायियोंका एक जत्था 'ज़न्दीक़' नामसे प्रसिद्ध हो गया था, जो मन्सूरके अनुकरणमें—शहीद होनेके जोशमें—यों ही बातें बनाकर जलने-मरनेको तैयार रहता था। इनका उद्धत आचरण देखकर लोग कहते थे कि यह सब मन्सूरकी ही शिक्षाका परिणाम है। निःसन्देह मन्सूर एक अद्वितीय विद्वान और अपने धर्मके पूरे पण्डित थे ; ईश्वरीय रहस्यके मर्मज्ञ थे। इस विषय पर उन्होंने

अद्भुत ग्रन्थ लिखे हैं। मन्सूर कवि भी उच्चकोटिके थे, भाषण-कला-में भी वह परम दक्ष थे। समाप्ति पर मन्सूरकी दो-एक सूक्तियोंका सारांश भी सुनने लायक़ है। कहते हैं—

'इस लोकका त्याग--सांसारिक वैभवसे विरक्ति—मनका—मनकी कामनाओंका—संन्यास है, और परलोकसे—स्वर्गसे—विरक्ति, आत्माका संन्यास है। ईश्वर और जीवके बीचमें सिर्फ़ दो डगकी दूरी है; एक पाँव इस लोकसे उठा लो और दूसरा परलोक (स्वर्गकामना) से, बस, ब्रह्मको पा लोगे।' *

सूफ़ी (अद्वैतमार्गी) का लक्षण बतलाते हैं—

'अद्वैत भावमें उसकी (सूफ़ी की) धारणा ऐसी दृढ़ होती है कि न वह किसीको जानता है और न कोई उसे पहिचानता है।' फिर कहते हैं कि—'जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त है, वे एक ही दृष्टिमें लक्ष्य-को पा लेते हैं, फिर उन्हें कोई द्विविधा बाक़ी नहीं रहती। बड़े बड़े औलिया और अंबिया (ऋषि-महर्षि) जो ईश्वरको जान-

---

* प्रोफ़ेसर 'इक़बाल' ने मन्सूरके इस भावको अपनी एक मशहूर ग़ज़लके दो शेरोंमें अच्छी तरह ज़ाहिर किया है। वह कहते हैं—

'वाइज़! कमाले-तर्कसे मिलती है य्हां मुराद,
दुनिया जो छोड़ दी है तो उक़बा भी छोड़ दे।

सौदागरी नहीं य इबादत ख़ुदा की है,
ओ बेख़बर! जज़ा की तमन्ना भी छोड़ दे।'

वाइज़ = उपदेशक। कमाले-तर्क = पराकाष्ठाका त्याग। उक़बा = परलोक। जज़ाकी तमन्ना = फल-प्राप्तिकी कामना।

पहिचानकर भी 'आपेसे बाहर' नहीं हुए, इसका कारण था कि वे लोग 'हाल'—भावावेश—को (ब्रह्मप्राप्तिके उस आनन्दातिरेकको जिससे 'ब्रह्मनिष्ठ' पुरुष बेसुध हो जाते हैं) दबानेकी शक्ति रखते थे ; इस कारण 'हाल' उनकी हालतको बदल नहीं सकता था ; दूसरे लोग भावावेशकी लहरमें पड़कर बह जाते हैं—फूट पड़ते हैं—अन्दरके आनन्दको उगलने लगते हैं और पकड़े जाते हैं।'—

भावावेश, 'वज्द' या 'हाल' क्या चीज़ है, वह क्यों होता है, इसपर महाकवि 'अकबर' ने अपनी एक कवितामें अच्छा प्रकाश डाला है। कहते हैं—

'वज्दे*-आरिफ़ की हक़ीक़त कुछ सुना दूँ आपको,
गो कि मेरी अस्ल क्या इक बन्दए-ना चीज़ हूँ,
नाचती है रूह इन्सानी बदनमें शौक़ से।
जब कभी पा जाती है परतौ† कि मैं क्या चीज़ हूँ॥

उपसंहार

मनसूरकी सूलीके मज़मूनको शाइरोंने तरह तरहसे सूफ़ियाना रंगमें रंगकर दिखाया है-अपनी-अपनी प्रतिभाके प्रकाशका परिचय दिया है। इस प्रकारके दो चार नमूने सुनाकर मनसूरकी रामकहानी समाप्त करते हैं—

'अमीर मीनाई' कहते हैं—

'दी गई मन्सूर को सूली अदब के तक पर,
था 'अनलहक़' हक़ व लेकिन लफ़्ज़ गुस्ताख़ाना था।'

* वज्दे-आरिफ़=ब्रह्मज्ञानीका भावावेश।
† परतौ=प्रकाश, झलक।

—मनसूरको जो सूली दी गई वह बेअदबीकी सज़ा थी, जो बात न कहनी चाहिए थी कह दी थी, 'अनलहक़' की बात तो हक़ (सच) थी, पर उसका इस तरह कहना गुस्ताख़ी थी—बड़ा बोल था, इसकी सज़ा मिली।

'अकबर' फरमाते हैं—

'हज़रते-मनसूर 'अना' भी कह रहे हैं हक़के साथ,
दार तक तकलीफ़ फरमाएं जब इतना होश है।'

—मनसूर 'हक़' (ब्रह्म) के साथ 'अना' (अहं) भी कह रहे हैं—अभी 'अहंभाव' बना है, जब इतना होश बाक़ी है— अहंभावको नहीं भूले—तो फिर सूलीतक तकलीफ़ फ़रमाएँ—शूला-रोहणका कष्ट भी स्वीकार करें !

इस शेरका भाव बड़ा ही मनोहर है और फिर कहनेका यह ढंग उससे भी अधिक सुन्दर और औचित्यपूर्ण है—

—'दार तक तकलीफ़ फरमाएँ जब इतना होश हैं !

अकबर साहब एक दूसरे शेरमें फ़रमाते हैं—

'किया अच्छा जिन्होंने दारपर मन्सूरको खींचा,
कि ख़ुद मन्सूरको जीना था मुश्किल राज़दां होकर'

—जब ब्रह्मभावना दृढ़ होकर देहाध्यास छूट जाता है— जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है—तो फिर ब्रह्मज्ञानीको चोला छोड़ते देर नहीं लगती—उस दशामें वह अधिक दिन जीवित नही रह सकता—जो 'राज़दां' उस परम रहस्यसे परिचित हो गया—सच्चा ठिकाना पा गया, वह फिर इस शरीर-प्रपंचकी भूल भुलैयांमें कब

फँसा रह सकता है, इसलिये सूली देनेवालोंने अच्छा ही किया कि मनसूरको अनिष्ट देह-बन्धनसे शीघ्रही मुक्त कर दिया !

इस बारेमें अकबर साहबने एक बात और भी की है—

'खु.दा बनता था मन्सूर इस लिये आफ़त य पेश आई,
न खिंचता दारपर साबित अगर करता खु.दा होना !'

—यानी तटस्थ भावसे ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करता—ईश्वर है और सब कुछ वही है—ऐसा कहता तो कुछ हर्ज न था, बात वही थी पर सूलीकी आफतसे बच जाता !

'मनसूर सरकटाके सुबुक-दोश हो गया,
था सख्त इसके दिल पै 'अनलहक़' का राज़ बोझ।'

मनसूरके दिलपर 'अनलहक़का राज़' (अहं ब्रह्मास्मि)का रहस्य एक भारी बोझ था, उसका छिपाए रखना असह्य हो रहा था, इस लिये सिर कटाकर 'सुबुकदोश' हो गया, गर्दनका बोझ उतार दिया !—

'सुबुकदोश' शब्द इस शेरकी जान है ।

'मीर-तक़ी' साहब अपने खास रङ्गमें फरमाते हैं—

"मनसूरकी हक़ीक़त तुमने सुनी ही होगी,
जो हक़ कहे है उसको य्हां दार खींचते हैं'

—इस झूठी और ज़ालिम दुनियामें 'हक़गो' सच्चे और सीधे आदमीका गुज़ारा नहीं, मन्सूरकी दुर्घटना इसका प्रमाण है कि जो हक़' ('हक़' का अर्थ सत्य भी है और ब्रह्म भी) बात कहता है उसे यहां सूली मिलती है, मन्सूरका यही दो अपराध

था कि उसने 'हक़' कहा था, इसी सबबसे सूली पाई। सच न कहता तो मौज करता। झूठो, दुनिया झूठोंहीको पूजती है! मीरके इन शब्दोंमें कितना दर्द भरा है।

'जो हक़ कहे है उसको यहां दार खींचते हैं'!

फ़ारसी कवि 'ग़नी' (कश्मीरी) ने कहा है—

"मन्सूर बस्त रख़्त ज़े दुनिया वो दार मांद,
परवाज़ कर्द गुल ज़े गुलिस्तां वो ख़ार मांद।"

—मन्सूर दुनियासे कूच कर गये, और दार (सूली) बाक़ी रह गई। फुलवाड़ीसे फूल उड़ गया और कांटा बाक़ी रह गया। मन्सूरके बिना यह दुनिया सूली और कांटेके सिवा कुछ नहीं!
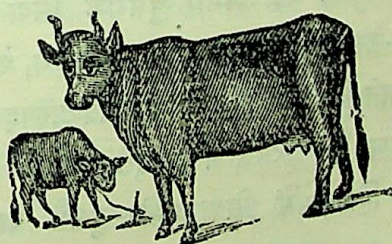
अमीर-ख़ुसरो

भारतवर्षमें जो अनेक प्रसिद्ध मुसलमान कवि, लेखक और विद्वान् हुए हैं, अमीर-ख़ुसरो उन सबके शिरोमणि थे। स्वर्गीय मौलाना 'शिबली'ने उनकी जीवनीमें लिखा है—×××'हिन्दोस्तानमें छै सौ बरससे आज तक इस दर्जेका जामै-कमालात—(सर्वगुण-संपन्न विद्वान्) नहीं पैदा हुआ, और सच पूछो, तो इस क़दर मुख्तलिफ़ और गूनागूं औसाफ़के जामा (जिसमें इतनी विविध प्रकारकी विशेषतायें हों) ईरान और रूमकी ख़ाक (भूमि) ने भी हज़ारों बरसकी मुद्दतमें दो ही चार पैदा किये होंगे।'—

मिर्ज़ा ग़ालिबकी नाज़ुक-ख्याली मशहूर है, उनकी परख और नज़र बहुत ऊंची थी, वह अमीर ख़ुसरोके सिवा किसी हिंदोस्तानी फ़ारसी-लेखक या कविके क़ायल नहीं थे; केवल ख़ुसरोहीको आदर्श मानते थे।* उन्होंने किसी विवादास्पद प्रसंगमें अपने एक मित्रको लिखा है—'××× मैं अहले-ज़बानका पैरो (अनुयायी) हूं और हिन्दियोंमें सिवा अमीर-ख़ुसरो देहलवीके सबका

---

* ग़ालिबने अपनी ख़ुसरो-विषयक भक्तिका परिचय पर्यायसे इस प्रकार दिया है—

''ग़ालिब मेरे कलाममें क्योंकर मज़ा न हो'
पीता हूं धोके ख़ुसरवे-शीरीं सख़ुनके पांव।'

मुनिकर (न माननेवाला) हूं ।' यही बात उन्होंने फिर एक दूसरे पत्रमें लिखी है—

'××× ग़ालिब कहता है कि 'हिंदोस्तानके सुख़नवरों(कवियों) में अमीर-खुसरो देहलवीके सिवा कोई उस्ताद मुसल्लिम-उस्-सबूत (माननीय प्रामाणिक विद्वान्) नहीं हुआ ।'—ग़ालिबको जाननेवाले जानते हैं कि इस सम्मतिका कितना महत्त्व और मूल्य है। वह व्यक्ति सचमुच धन्य है जिसे ग़ालिब इस तरह सराहते हैं! फ़ारसके विद्वानोंने भी अमीर-ख़ुसरोकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है, उनकी उस्तादीके सामने सिर झुकाया है। ख़ुसरो फ़ारसीही के नहीं, अन्य कई भाषाओंके भी पारंगत विद्वान् थे। गान-विद्याके भी वह आचार्य थे। बहुतसे नये राग और रागनियाँ उनके बनाए हुए मशहूर हैं। वीणाका परिवर्तित रूप 'सितार' उन्हींका ईजाद है। इसके अतिरिक्त वह एक शूर-वीर सैनिक भी थे। शस्त्र-विद्या उनकी कुल-विद्या थी। वह उम्र-भर शाही दरबारोंमें बड़े-बड़े पदोंपर रहे। उन्होंने ११ बादशाहोंको दिल्लीके तख़्तपर उतरते और बैठते देखा, और ७ बादशाहोंके स्वयं दरबारी रहे। इस प्रकार रात-दिन राजसेवामें संलग्न रहते हुए जितनी साहित्य-सेवा ख़ुसरोने की, उसे देखकर आश्चर्य होता है। बड़े-बड़े एकांत-सेवी साहित्यसेवी भी इतना न कर सके होंगे। बाईस-तेईस ग्रन्थोंके अतिरिक्त हज़ारों फुटकर पद्य भी उनके प्रसिद्ध हैं। उनके पद्योंकी संख्या कई लाख लिखी है। 'तज़्करए-इरफ़ान'में लिखा है—'अमीर साहबका कलाम (कविता) जिस क़दर फ़ारसी भाषामें है उसी

क़दर व्रजभाषामें ।'—पर दुर्भाग्यसे अमीर खुसरोकी हिंदी-कविता कुछ फुटकर पद्योंको—पहेलियों और कहमुकरनियोंको—छोड़कर, इस समय नहीं मिलती, यद्यपि ख़ुसरो हिन्दी-कविताके नाते ही सर्वसाधारणमें प्रसिद्ध हैं। ख़ुसरोकी हिन्दी-कविताके विनाशका 'श्रेय' मुसलमानोंकी हिन्दी-विषयक उपेक्षा ही को है। इस दुर्घटनाके लिये मौलाना मुहम्मद अमीन चिड़ियाकोटीने मुसलमानोंको उपालंभ दिया है और हिन्दुओंकी गुणग्राहिताको सराहा है कि ख़ुसरो और दूसरे मुसलमान हिंदी-कवियोंकी जो थोड़ी-बहुत हिंदी-कविता अब तक नष्ट होनेसे बची हुई है, यह हिन्दुओंहीकी कृपाका फल है । मुसलमानोंने हिन्दी और हिंदुओंको मिटानेमें कभी कमी नहीं की ।—अरब और तुर्किस्तानकी मामूली-मामूली बातोंकी मुसलमानोंको जितनी चिंता है—अरबका ऊंट किस तरह जुगालता है और हुदीख़्वां (ऊंट हांकनेवाला) किस तरह बलबलाता है,—गाता है—इसका जितना महत्त्व उनकी दृष्टिमें है, उसका सहस्रांश भी यदि ख़ुसरोकी हिंदी-कविताका मान या अभिमान उन्हें होता, तो यह अनर्थ न हो पाता। यदि आज अमीर ख़ुसरोकी हिन्दी-कविता अपने असली रूपमें और पर्याप्त संख्यामें उपलब्ध हुई होती, तो उससे भाषा-साहित्यके इतिहास-ज्ञानमें कितनी सहायता पहुंची होती !

मुसलमानोंमें इस व्यापक नियमके अपवाद-स्वरूप कुछ सहृदय सज्जन हुए हैं सही, जैसे मीर गुलामअली 'आज़ाद' बिलग्रामी, (जिन्होंने 'सर्व-आज़ाद' में बिलग्रामके मुसलमान हिन्दी-कवियोंका

विस्तृत वर्णन करके अपनी भावुकताका परिचय दिया है) पर बहुत ही कम, ऐसे ही जैसे अँगरेज़ोंमें भारतभक्त, उदारहृदय एक ऐंड्रूज़ साहब। अस्तु।

अमीर खुसरो जन्मसिद्ध कवि थे—मांके पेटसे कवि पैदा हुए थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि—मेरे दूधके दांत अभी न टूटे थे कि मैं शेर कहता था, और मुंहसे कविताके मोती झड़ते थे।—'सीरउल्-औलिया' और 'सीरउल्-आरफ़ीन में लिखा है कि अमीर खुसरो अभी पांच ही बरसके थे कि दिल्लीमें पहुंचे। बाप बचपन ही में मर गये, नानाने इन्हें पाला। जब यह दिल्ली गये, तो उन दिनों दैवयोगसे हज़रत निज़ामुद्दीन औलियाका डेरा इनके ननि-हालमें था। हज़रत निज़ामुद्दीन सूफ़ी-संप्रदायके पक्के मुबल्लिग़ फ़क़ीर थे। (दिल्लीके हसन-निज़ामी, उन्हींकी दरगाहके मुजाविरोंमें एक हैं) मुरीद बनाना यानी चेले मूंड़ना इनका धार्मिक व्यवसाय था। खुसरोके पिता और नाना भी उनके भक्तोंमें थे। खुसरोको इसी अवस्थामें इनके चरणोंमें चढ़ा दिया गया,—दीक्षा दिला दी गई। प्रेम-पंथकी शृङ्गारिक कविताका उपदेश खुसरोको इन्हीं रसिया गुरुसे मिला। इन्होंने इस विषयमें यह मंत्र दिया—'बतर्ज़ सफ़ाहानियान बिगो, यानी इश्क़-अँगेज़ व ज़ुल्फ़ो-ख़ालआमेज़।' अर्थात् इश्क़िया शाइरी करो।

खुसरोके पांच दीवान (कवितासंग्रह ग्रंथ) हैं, जिनमें सबसे पहला 'तोहफ़तुस्सिग़र' है। इसमें १६ वर्षकी उम्रसे १९ वर्ष तककी कविताओंका संग्रह है। इसकी भूमिकामे खुसरोने अपनी

कविताका मनोरंजक और शिक्षाप्रद प्रारम्भिक वर्णन किया है। लिखा है —

'ईश्वरकी दयासे मैंने १२ बरसकी उम्रमें बैत और रुबायी कहनी शुरू की। उस समयके कवि विद्वान् सुन सुनकर आश्चर्य प्रकट करते थे। उनकी आश्चर्यपूर्ण प्रशंसासे मेरा उत्साह बढ़ता था। वे मुझे उभारते थे। मेरी यह दशा थी कि सांझसे सवेरे तक चिराग़के सामने कविता लिखने-पढ़नेमें तल्लीन हो अभ्यास करता और मस्त रहता था। अभ्यास करते-करते दृष्टि सूक्ष्म हो गई, कविताकी बारीकियां सूझने लगीं। और कविता-प्रेमी साथी मेरी बुद्धिकी परीक्षा लेते थे, इससे हृदयमें और भी उमंग बढ़ती थी—दिल गरमाता था—और दिलकी गरमी ज़बानमें उतरकर कविताको चमकाती थी। इस समय तक कोई गुरु न मिला था, जो कविताकी दुर्गम घाटियोंमें कुशलतासे चलनेकी राह बताता, क़लमको उल्टे रास्ते चलनेसे रोकता, दोषोंसे बचाकर गुणोंका उत्कर्ष दिखाता। मैं नवाभ्यासी तोतेकी तरह अपने ही ख़्यालके दर्पणके सामने बैठा-बैठा कविताका अभ्यास करता था—कविताका मर्म और कविता करना सीखता था,—दिलके लोहेको अभ्यासकी 'सान' पर रगड़-रगड़ कर तेज़ करता रहा। प्राचीन सत्कवियोंके ग्रन्थोंका स्वाध्याय निरंतर करता था। इस प्रकार करते-करते कविताके मर्मको समझने लगा, भावुकता प्राप्त हो गई। 'अनवरी' और 'सनायी'की कविताका विशेष रूपसे आदर्श मानकर देखता था। जो अच्छी कविता नज़र आती, उसीका जवाब लिखता। जिस कविकी कविताका मनन करता,

उसीके ढंग पर स्वयं लिखता। बहुत दिन तक 'ख़ाक़ानी' (ईरानके एक प्रसिद्ध कवि) की कवितासे लिपटा रहा। उसकी कवितामें जो ग्रन्थियाँ थीं, उन्हें सुलझाता, यद्यपि उसके दुरूह स्थलोंपर नोट लिखता था, पर लड़कपन और नवाभ्यासके कारण कठिन कविता-का भाव अच्छी तरह न खुलता था। मेरा उत्साह और कल्पना-शक्ति आकाशमें उड़ती थी; पर उस्ताद ख़ाक़ानीकी कविता इतनी उच्च कोटिकी थी कि उस तक मेरी बुद्धि नहीं पहुंचती थी। तथापि अनुकरण करते-करते तबीयत बढ़ने लगी। मेरी कविताका कोई विशेष आदर्श नियत न था, हर उस्तादके रंगमें कहता था, इसलिये इस संग्रह (तोहफ़तुस्सिग़र) में नया-पुराना सब रंग मौजूद है।"—

'बचपनमें बापने पढ़नेके लिये मकतबमें बिठाया। यहाँ यह हाल था कि क़ाफ़िएकी तकरार थी—क़ाफ़िया ढूँढनेसे काम था। मेरे उस्ताद मौलाना सादुद्दीन ख़त्तात सुलेखके अभ्यासकी आज्ञा देते थे; पर मैं अपनी ही धुनमें था। वह पीठ पर कोड़े लगाते, और मुझे ज़ुल्फ़ोख़ाल (अलक, तिलक) का सौदा था। इसी उधेड़-बुनमें यहाँ तक नौबत पहुंची कि मैं इसी छोटी उम्रमें ऐसे शेर और ग़ज़ल कहने लगा कि जिन्हें सुनकर बड़े-बूढ़ोंको आश्चर्य होता था। एक बार सुबहके वक़्त मेरे उस्तादको ख़्वाजा-असील नायब-कोतवालने ख़त लिखनेके लिये बुलाया। मैं दवात-क़लम लेकर साथ गया। असीलके घरमें ख़्वाजा अज़ीज़ुद्दीन नज़रबंद थे। ख़्वाजा साहब बहुत बड़े विद्वान् और कविताके पूरे पारखी थे। जब हम

वहाँ पहुंचे, तो वह स्वाध्यायमें संलग्न थे — मुतालए-किताबमें मसरूफ़ थे। किताब देखते-देखते जब कभी वह कुछ कहने लगते थे, तो उनके मुँहसे मोती झड़ते थे।—जवाहर आबदार ज़बानसे निकलते थे। मेरे उस्तादने उनसे कहा कि 'यह मेरा ज़रा-सा शागिर्द (छोटा-सा शिष्य) इस बचपनमें कविताका बड़ा प्रेमी है, शेर पढ़ता भी खूब है, किताब इसे देकर इम्तहान लीजिए।' ख्वाजा अज़ीज़ने फ़ौरन् किताब मुझे देकर सुनानेकी फ़रमाइश की। मैंने शेर मधुर गीतके स्वरमें पढ़ने आरम्भ किए। उसके प्रभावसे सुननेवालोंकी आँखें डबडबा आईं, चारों ओरसे शाबाश की आवाज़ें आने लगीं। फिर मेरे उस्तादने कहा कि 'पढ़ना सुन लिया, अब कोई मिसरा (समस्या) देकर कविता-शक्तिकी परीक्षा लीजिए।' ख्वाजा साहबने चार अनमिल चीज़ोंके नाम लेकर कहा कि इन्हें सार्थक पद्यबद्ध करो। वे नाम—मू (बाल), बैज़ा (अंडा), खरबूज़ा और तीर (बाण) थे। मैंने तत्काल इन्हें 'रुबायी'में बाँधकर सुनाया*। जिस वक़्त मैंने यह रुबायी पढ़ी, ख्वाजाने बहुत ही प्रशंसा की, और नाम पूछा। मैंने कहा—'खुसरो'। फिर बाप का नाम-धाम और अता-पता पूछकर

* वह फ़ारसी 'रुबायी', जिसमें इन चार अनमिल चीज़ोंको मिलाया है, अस्पष्ट है। मौलाना 'शिबली' लिखते हैं कि 'जिस पुरानी पुस्तकसे यह रुबायी नक़ल की है, वह ग़लत थी, मैंने (शिबली ने) उससे वैसी ही नक़ल कर दी है।'

लेखकके प्रमादसे मूल पाठ अशुद्ध है। इस दशामें अर्थ छतरां अस्पष्ट है। इससे यहाँ दोनोंका उल्लेख नहीं किया है।

कहा कि तुम अपना तख़ल्लुस (कविताका उपनाम) 'सुलतानी' रक्खो। इसके पीछे बहुत-सी बातें मेरा दिल बढ़ानेकी कीं, और कवित्व-कलाके संबंधमें बहुत-सी रहस्यकी बातें बता दीं, जिन्हें मैं दिलमें रखता गया। उस दिनसे मैंने अपना उपनाम 'सुलतानी' रक्खा। इस दीवानके प्रायः पद्योंमें यही नाम काममें आया है। इसके बाद मैं बारीक मज़मूनोंके पीछे पड़ा रहा। यह सब कुछ हुआ, पर ज़माना लड़कपनका था, इसलिये कभी अपना कलाम (कविता) जमा करनेका ख्याल नहीं किया। मेरा भाई ताजदीन ज़ाहिद, जिसकी विवेचना-शक्ति कविता-कामिनीका सिंगार करनेमें समर्थ है, मेरे पद्योंका संग्रह कर लेता था, और जो कुछ मैंने १६ बरसको उम्रसे १९ बरसकी उम्रतक कहा, उस सबका उसने संग्रह बना डाला। मैंने उसे देखकर कहा कि यह तो पानीमें डुबो देने क़ाबिल है। पर उसने न माना और कहा कि इसे सिलसिलेवार कर दो। भाईके आग्रहसे मैंने संग्रहका विभाग करके प्रत्येक परिच्छेदके आरम्भमें परिच्छेद-सूचक एक-एक पद्य लगा दिया। क्रमविभागका यह प्रकार मेरा आविष्कार (ईजाद) है, मुझसे पहले किसीने यह सिल-सिला क़ायम नहीं किया। इस दीवानका नाम 'तोहफ़तुस्सिग़िर' (लड़कपनका कलाम) है। निस्संदेह यह कविता बहुत ऊट-पटांग है, मैंने बहुत चाहा कि यह जमा न की जाय, पर यार-दोस्तोंने और ख़ासकर भाई ताजदीनने न माना, बराबर आग्रह करते रहे। मैं भाईके कहनेको न टाल सका। स्नेहने हम दोनों

भाइयोंमें अभेद-बुद्धि उत्पन्न कर दी है, अभिन्न-हृदय बना दिया है—दोनोंको एक कर दिया है—

"बस कि जानम् यगाना शुद् बा ऊ,
दर गुमानम् कि ईं मनम् या ऊ।"

—'मेरी आत्मा इस प्रकार उसमें मिल गई है कि मैं सोचने लगता हूं, मैं यह हूं या मैं वह हूं!'— भाईका अभिप्राय इस तुकबंदीके जमा करनेसे यह था कि यह भी किसी शुमारमें आ जाय। मैं कहता था कि लोग एतराज़ (आक्षेप) करेंगे। भाई कहता था कि बुद्धिमान् यह समझकर कि (जैसा इस संग्रहके नामसे प्रकट है) यह लड़कपनका कलाम है, एतराज़ (आक्षेप) न करेगा, और अनभिज्ञके आक्षेपका मूल्य ही क्या। मैं कहता था कि इसमें 'शुतर-गुरबा' (ऊंट-बिल्लीका-सा साथ, वैषम्य-दोष) बहुत है। उसका उत्तर था कि लोग इसे तावीज़ बनाकर बाज़ू (बाहु) पर बाँधेंगे। निदान भाईके आग्रहसे इस संग्रहको सहृदयोंकी सेवामें समर्पित करता हूं, आशा है, वे इसे स्वीकार करेंगे।'—

यह ख़ुसरोकी उस भूमिकाका भावार्थ है, जो उसने अपने पहले दीवान 'तोहफ़तुस्सिग़िर' पर लिखी है। इसमें ध्यान देने-योग्य बात यह है कि अमीर ख़ुसरोको कवि-सम्राट् किस चीज़ने बनाया। स्वाभाविकी प्रतिभा, स्वाध्याय-शीलता, उत्साह-संपन्नता, निरन्तर अभ्यास और लगन, यही सब बातें अमीर ख़ुसरोको कवि-सम्राट् बनानेमें कारण थीं। समझदार सोसाइटी, साथियों-की छेड़-छाड़, बड़ोंकी उत्साह-वर्द्धक समालोचना, इन सबने

मिलकर उन कारणोंको और कार्यक्षम बना दिया, ख़ुसरोकी कविताको चमका दिया। फिर क़द्रदान भी ऐसे मिले कि न मिले होंगे किसी को। ख़ुसरोको कई बार कविताके पुरस्कारमें हाथी-बराबर तोलकर रुपए मिले थे !

अमीर ख़ुसरोने अपनी तरक्क़ीका जो गुर लिखा है वह बहुत ही उपादेय है, उन्नति-मार्गके पथिकोंका पाथेय (तोशा) है। ख़ुसरोके उन पद्योंका भाव यह है—'जो कोई मेरी प्रशंसा करता है, यद्यपि वह सच हो, तो भी, मैं उसपर कान नहीं देता; क्योंकि प्रशंसा आदमीको अभिमत्त बनाकर रास्तेसे दूर हटा देती है, मिथ्या स्तुति धोकेमें डालकर हानि पहुंचाती है, जैसे नादान बच्चे गुड़से फुसलाकर ठग लिए जाते हैं। जो सचमुच कविता-रत्नके पारखी हैं, उनकी निंदा भी प्रशंसा है। मैं स्वयं अपनी कविताके गुण-दोषोंपर ध्यान-दृष्टि रखता हूं, अच्छी कविताकी कोई प्रशंसा न करे, परवा नहीं, मैं ख़ुद उसे सराहता हूं।'—

इस प्रकार निरन्तर लगनके साथ अभ्यास करते-करते अमीर ख़ुसरोने वह कमाल हासिल किया कि शेख़ सादी और हाफ़िज़-जैसे 'बुलबुले-शीराज़' भी इस 'तूतिए-हिंद' (यह खुसरोका ख़िताब था) के सम्मोहन स्वरसे मोहित होकर प्रशंसा करते थे। एक लेखकने तो यहांतक लिखा है कि शेख़ सादी शीराज़ी, ख़ुसरो से मिलनेके लिये शीराज़से दिल्लीमें आए थे। पर शेख़ सादीका हिंदोस्तानमें आना इतिहाससे सिद्ध नहीं होता। हां, इसपर सब इतिहास-लेखक सहमत हैं कि जब सुलतान शहीदने 'सादी'को

शीराज़से बुलाया, तो उन्होंने बुढ़ापेके कारण आना स्वीकार न किया, और लिख भेजा कि 'खु़सरोका सम्मान कीजिए, वह परम आदरणीय रत्न हैं।' उस समय खु़सरोकी उम्र बत्तीसके लगभग थी। इसी अवस्थामें सादी-जैसे महाकविसे प्रशंसाका सार्टिफ़िकेट पा जाना खु़सरोकी महत्ताका सूचक है।

प्रारम्भिक अवस्थामें खु़सरो अपनी कविता किसी कविता-गुरुको न दिखाते थे, प्राचीन महाकवियोंको गुरु मानकर उन्हींके आदर्शपर रचना करते थे। पर आगे चलकर उन्होंने 'शहाब'को कविता-गुरु बना लिया था। 'शहाब'की 'अमीर' ने बहुत तारीफ़ की है। खु़सरोने 'निज़ामी'के जवाबमें जो अपनी पाँच मसनवियाँ लिखी हैं, वे 'शहाब' की देखी—शोधी—हुई हैं, और इसके लिये ख़ुसरोने अपने उस्तादका बहुत उपकार माना है। कैसा आश्चर्य है कि उसका आज कोई नाम भी नहीं जानता, जिसे कभी कवि-सम्राट् अमीर खु़सरोके काव्य-गुरु होनेका गौरव प्राप्त था!

अपनी मातासे अमीर खु़सरोको अनन्य प्रेम था। बड़ी उम्रमें भी वह इस तरह मातासे मिलते थे, जैसे छोटे बच्चे मांको मुहब्बतसे लिपट जाते हैं। खु़सरोने अवधके सूबेकी नौकरीका ऊँचा पद केवल इसी कारण छोड़ दिया था कि माता दिल्लीमें उन्हें याद करती थी। अवधसे आकर जब दिल्लीमें मांसे मिले हैं, तो उस मुलाक़ातका हाल इस जोशसे लिखा है, जिसके एक-एक शब्दसे प्रेमका मधु टपकता है।

जब माताका देहान्त हुआ, तो खु़सरोकी अवस्था ४८

वर्षकी थी। माताकी मृत्युके मरसियेमें इस तरह विलाप किया है, जैसे छोटा बच्चा मांके लिये बिलखता है। भाईका मरसिया भी बड़ा करुणाजनक लिखा है।

खुसरो कहीं बाहर किसी मुहिम पर थे कि पीछे अचानक कुछ आगे-पीछे, माता और भाई, दोनोंका एक-साथ देहांत हो गया। दोनोंका मरसिया 'लैला-मजनूं' मसनवीके अन्तमें बड़ा ही करुणा-पूर्ण है, पढ़कर दिलपर चोट लगती है।

अमीर खुसरोके दो संतान थीं, एक पुत्र, एक पुत्री। पुत्रका नाम 'मलिक अहमद' था। यह भी कवि और समालोचक थे; इन्हें कवितामें तो प्रसिद्धि प्राप्त न हुई, पर अपने समयमें यह समालोचना-के लिये प्रसिद्ध थे। कविता-कलाके पूरे मर्मज्ञ थे, बड़े-बड़े कवियों-की कवितामें उचित संशोधन कर डालते थे जिन्हें कवि विद्वान पसंद करते थे। मलिक अहमद, सुलतान फ़ीरोज़शाह के दरबारी थे।

जब खुसरो साहबने मसनवी 'लैला-मजनूं' लिखी है, उस वक्त इनकी पुत्री ७ वर्षकी थी। स्त्रियोंकी बेक़द्री उस समय भी ऐसी ही थी। खुसरोको भी खेद था कि पुत्री क्यों पैदा हो गई! पुत्री को लक्ष्य करके जो उपदेश-वाक्य आपने लिखे हैं, उसमें अफ़सोसके साथ पुत्रीसे कहते हैं—'क्या अच्छा होता कि तुम पैदा ही न होतीं, या पुत्री न होकर पुत्र होतीं।' फिर सोच-समझकर दिलको तसल्ली देते हैं कि ईश्वर जो दे, उसे कौन टाल सकता है।—

'पिदरम् हम ज़ मादर अस्त आख़िर;
मादरम् नीज़ दुख़्तर अस्त आख़िर।'

—'मेरा बाप भी तो आख़िर मां ही के पेटसे पैदा हुआ था, और मेरी मां भी तो किसीकी लड़की ही थी !'

चर्खेका उपदेश

पुत्रीको जो आपने उपदेश दिया है, वह बिलकुल भारतीय ढंगका और महत्त्व-पूर्ण है—

'दोको सोज़न गुज़ाश्तन् न फ़न अस्त,
कालते-परदापोशीए-बदन अस्त।
पा-ब दामाने-आफ़ियत् सर कुन् ;
रू ब-दीवारो पुश्त बर दर कुन्।
दर तमाशाए-रोज़नत् हवस् अस्त ;
रोज़नत् चश्मे-सोज़ने तो बस अस्त।'

—अर्थात् चर्खा कातना और सीना-पिरोना न छोड़ना—इसे छोड़ बैठना अच्छी बात नहीं है, क्योंकि यह परदा-पोशीका-शरीर ढँकनेका—साधन है। स्त्रियोंको यही उचित है कि घरमें दरवाज़ेकी ओर पीठ फेरकर और दीवारकी ओर मुंह करके शान्तिसे बैठें। इधर-उधर ताक-झांक न करें। झरोखेमेंसे झांकने-की साध सुई के झरोखे (छिद्र) को देखकर पूरी करें।—

पुत्रीके प्रति ख़ुसरोके इस उपदेशपर मौलाना 'शिबली' लिखते हैं—'×××इस नसीहतसे मालूम होता है कि उस ज़मानेमें औरतोंकी हालत निहायत पस्त थी। अमीर साहब इस क़दर साहिबे-दौलत व सर्वत (ऐश्वर्यवान्) थे, लेकिन बेटीसे कहते थे कि ख़बरदार, चर्खा कातना न छोड़ना, और कभी मोखेके पास बैठकर उधर-उधर न झांकना।'—

अफ़सोस है कि मौलाना शिबलीका स्वर्गवास चर्खा-आन्दोलनके युगसे पहले हो गया, वर्ना वह अमीरकी इस सुनहरी नसीहतपर वज्द करते! और देखते कि जिसे वह 'पस्ती'का सबब समझते हैं, वह संसारके सबसे बड़े नेता गांधी महात्माके मतमें उन्नतिका एक-मात्र साधन है—मुक्तिका उपाय है, चर्खा ही सुदर्शन चक्र है, कामधेनु गौ है, चिंतामणि है और कल्पवृक्ष है! इस समय संसार चर्खेकी महिमाके गीत गा रहा है, राजकुमारियां और रानियां ही नहीं, बड़े-बड़े राजकुमार और राजा महाराजा तक चर्खा कात रहे हैं, वृद्ध रसायनाचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय रसायन-शास्त्रको भूलकर चर्खेकी रसायनके पीछे पागल हो रहे हैं!

अमीर ख़ुसरोकी इस दिव्य दृष्टिकी दाद देनी चाहिये कि छै सौ बरस पहले चर्खेका ऐसा उपादेय उपदेश दे गये, जिसकी उपयोगिता संसार मुक्तकंठसे आज स्वीकार कर रहा है।

खुसरोकी कविता

ख़ुसरोकी कविता अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण, सरस और हृदय-हारिणी है। यद्यपि उन्होंने अनेक ऐतिहासिक कहानियां—अपने आश्रयदाता बादशाहोंके कारनामे और प्रशस्तियां लिखी हैं, जो उन्हें दरबारदारीके दबावसे लिखनी पड़ती थीं, पर उनका मुख्य रस शृङ्गार था। वह स्वभावसे ही सौंदर्योपासक प्रेमी पुरुष थे। फिर उन्हें दीक्षागुरु (हज़रत निज़ामुद्दीन) से भी यही उपदेश मिला कि 'बतर्ज़ सफ़ाहानियान् बिगो'—यानी शृंगार रसकी कविता करो। ख़ुसरो उपदेशक या सूफ़ी कवि नहीं थे। कवियोंके कितने भेद

हैं, और कवियोंमें कितनी बातें होनी चाहियें, इस विषयपर लिखते हुए ख़ुसरोने लिखा है—'शाइरकी तीन क़िस्में हैं, १—उस्ताद तमाम (काव्यके सब अंगोंका पूर्ण आचार्य), जो किसी ख़ास तर्ज़का मूजिद हो—प्रकार-विशेषका प्रवर्तक हो—जैसे हकीम सनाई, अनवरी, निज़ामी, ज़हीर, २—उस्ताद नीम-तमाम (अर्धाचार्य !), जो किसी ख़ास तर्ज़का मूजिद नहीं, पर किसी तर्ज़का सफल अनुयायी है। ३—सारिक़ (चोर), जो दूसरोंके मज़मून चुराता है। फिर लिखते हैं कि उस्तादीकी चार शर्तें हैं- तर्ज़ ख़ासका मूजिद हो, उसका कलाम शाइरोंके अंदाज़ पर हो, सूफ़ियों (वेदांतियों) और वाइज़ों (उपदेशकों) के ढंगका न हो, कविता निर्दोष हो, ग़लतियां न करता हो;—इत्यादि लिखकर कहते हैं कि मैं दरहक़ीक़त उस्ताद नहीं; क्योंकि चार शर्तोंमेंसे मुझमें सिर्फ़ दो शर्तें पाई जाती हैं, यानी मैं मज़मून नहीं चुराता और दूसरे मेरा कलाम सूफ़ियों और वाइज़रोंके अंदाज़पर नहीं। शेष दो शर्तें मुझमें नहीं हैं, अव्वल तो मैं किसी तर्ज़का मूजिद नहीं, दूसरे मेरा कलाम ग़लतियोंसे ख़ाली नहीं होता।'—

साहित्य-संसारमें इससे अधिक विनय और सत्यशीलताका उदाहरण कम मिलेगा! आज संसार जिसे उस्ताद-कामिल मान रहा है, वह इस तरह अपनी हीनताकी घोषणा करता है 'विद्या ददाति विनयं' में सचमुच सचाई है। अस्तु।

ख़ुसरोकी स्वीकारोक्तिसे स्पष्ट है कि उनका कलाम सूफ़ियाना नहीं है, और चाहे जो कुछ हो; पर आश्चर्य है कि सूफ़ी-

संप्रदायमें ख़ुसरोकी कविता बड़े आदरकी दृष्टिसे देखी जाती है, और ख़ालिस सूफ़ियाना कलाम समझकर पढ़ी जाती है, जिसे सुन-कर सूफ़ी साधु आपेमें नहीं रहते, सिर धुनते-धुनते बावले हो जाते हैं, अक्सर मर भी जाते हैं ! इसका कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि ख़ुसरोका सूफ़ी-संप्रदायसे संबंध विशेष था। वह एक सूफ़ी गुरुके शिष्य थे, इसलिये ख्वाह-मख्वाह उनका कलाम भी ख़ालिस सूफियाना समझ लिया गया। शुद्ध सांसारिक शृंगारको भी परमार्थ प्रेम बतलाकर टट्टीकी आड़में शिकार खेलना सूफ़ियोंके बाएं हाथका खेल है। खुले हुए इश्क़े-मजाज़ीको छिपा-हुआ इश्क़े-हक़ीक़ी ज़ाहिर करना, छिपे रुस्तम सूफ़ियों ही का काम है। बड़े-बड़े रिंद मशरब, शराबी और अनाचारी फ़क़ीरों और शाइरोंको पहुंचा हुआ सूफ़ी कहकर इन्हीं लोगोंने पुजवाया है।

मौलाना शिबलीने उमर-ख़य्यामके बारेमें लिखा है—'××× साफ़ साबित है कि वह दरहक़ीक़त शराब पीता था और यही ज़ाहिरी शराब पीता था। अफ़सोस है कि वह फ़िलसफ़ी और हकीम (दार्शनिक) था, सूफ़ी न था, वर्ना हाफ़िज़की तरह यही शराब, शराबे-मार्फ़त बन जाती !'—कहनेको तो सूफ़ी समदर्शी और एकात्मवादी होते हैं, उनकी दृष्टिमें सब धर्म और सब जातियाँ समान हैं, उन्हें किसीसे राग-द्वेष नहीं होता, पर मुसलमान सूफ़ि-योंके आचरणोंको देखते हुए यह एकात्मवाद भोले-भाले भिन्न धर्मियोंको फुसलाकर भ्रष्ट करनेका एक बहाना है। ख्वाजा चिश्ती और निज़ामुद्दीन औलियासे लेकर जितने बड़े-बड़े जय्यद सूफ़ी हुए

हैं, वही लोग भारतवर्षमें इस्लामको जड़ जमानेवले हुए हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद है—ख्वाजा हसन निज़ामी भी तो एक प्रसिद्ध सूफ़ी हैं, और उनकी करतूतें किसीसे छिपी नहीं हैं।

शेख़-सादीने क्या पतेकी कही थी—

'मोहतसिब दर कफ़ाए-रिन्दानस्त,
ग़ाफ़िल अज सूफ़ियाने-शाहिदबाज़।'

—कोतवाल, बेचारे रिंदोंके पीछे पड़ा है, और इन बदकार सूफ़ियोंके हथखण्डोंसे बेख़बर है, इन्हें नहीं पकड़ता!

मतलब यह नहीं कि सब सूफ़ी ऐसे ही होते हैं (जैसोंको शेख़ सादी पकड़वाना चाहते हैं!) या अमीर ख़ुसरोके कलाममें सूफ़ियाना रंग है ही नहीं। नहीं, यह बात नहीं है, सूफ़ियोंमें कहीं सच्चे सूफ़ी भी हुए होंगे और होंगे, और ख़ुसरोके कलाममें भी सूफ़ियाना रंग है और हो सकता है। कहना यह है कि ख़ुसरो सूफ़ी भले ही हों, पर वह 'सूफ़ी शाइर' नहीं थे, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है, और जैसा कि उनका कलाम ख़ुद पुकारकर कह रहा है। अस्तु; अतिप्रसंग हो गया, सूफ़ी साधु क्षमा करें। कविता-प्रेमी हर कविताको सूफ़ियोंके कहनेसे सूफ़ियाना रङ्गकी न समझ लिया करें, यही इस निवेदनका तात्पर्य है।

अमीर ख़ुसरोकी विशेषता

ख़ुसरोमें कविताकी दृष्टिसे यों तो बहुतसी विशेषताएं हैं, पर उनकी एक विशेषता मुसलमान-लेखकोंमें बहुत प्रसिद्ध है, जिसका

उल्लेख मौलाना आज़ाद, हाली और शिबलीने कई जगह जी-खोलकर किया है। वह विशेषता खु.सरोकी कवितामें 'भारतीय-पनकी छाप' है। फ़ारसीके जितने कवि हिंदोस्तानमें हुए, वे हिन्दू हों या मुसलमान, भारतनिवासी हों या प्रवासी ईरानी, सारेके-सारे फ़ारसका ही समां बाँधते रहे, वह गुल और बुलबुलका ही रोना रोते रहे, हिंदोस्तानके कमल और भौंरेंको, कोयल और पपीहेको, कहीं भूलकर भी उन भले आदमियोंने याद नहीं किया। ऋतुओंका वर्णन है, तो वहींकी ऋतुओंका, जङ्गल और पहाड़ोंके दृश्य हैं, तो वहींके, उपमान और उपमेय सब वहींके। आँखकी उपमा देंगे तो 'नर्गिस' से या 'बादाम' से। भारतीय सौंदर्यकी दृष्टिसे यह उपमा कितनी विरूप है, इसपर शायद ही किसी उर्दू-फ़ारसीके कविने ध्यान दिया हो। बहुतोंने 'नर्गिस' को आँखसे देखा भी न होगा, यह आँखका उपमान कैसे बना, इसका पता भी बहुत कम कवियोंको होगा। मौलाना शिबलीने लिखा है कि '×××आँखकी तशबीह (उपमा) 'नर्गिस' से आम (प्रसिद्ध) है, लेकिन नर्गिसको देखा, तो उसका फूल एक गोल-सी कटोरी होती है, जिसको आँख-से मुनासिबत (सादृश्य-सम्बन्ध) नहीं। खोजसे मालूम हुआ कि इब्तदाए-शाइरीमें (फ़ारसी-कविताके प्रारम्भिक कालमें) तुर्क माशूक़ थे। उनकी आँखें छोटी और गोल होती हैं, इसी बिना (आधार) पर पुराने शाइर आँखोंके छोटे होनेकी तारीफ़ करते हैं।' ×××

पुराने शाइर जो तारीफ़ करते थे, वह देख-भालकर करते थे।

ईरानमें तुर्क माशूकोंकी आँखें छोटी-छोटी और गोल-गोल होती थीं। वहांके लिये 'नर्गिस' की उपमा अनुरूप हो सकती है। पर भारतीय आँखके सौंदर्यका जो आदर्श है, उससे नर्गिसको क्या निसबत !

इसी तरह बुलबुलका रोना-गाना फ़ारसमें तो कुछ अर्थ रखता है, पर यहांकी बुलबुलमें वह बात कहां ? फिर भी यहांकी फ़ारसी-उर्दू की कविता बुलबुलके तरानोंसे भरी पड़ी है ! इस प्रसंगमें मौलाना आज़ादके एक अनुभवका, उन्हींके शब्दोंमें, उल्लेख किए बिना आगे नहीं बढ़ा जाता। स्वर्गीय मौलाना आज़ादने फ़ारसकी बहार (वसंत) का वर्णन करते हुए लिखा है—

×× 'इधर गुलाब खिला, उधर बुलबुल हज़ारदास्तां उसकी शाख़पर बैठी नज़र आई। बुलबुल न फ़क़त फूलकी टहनीपर, बल्कि घर-घर दरख़्तोंपर बोलती है और चहचहे करती है। और गुलाबकी टहनोपर तो यह आलम होता है कि बोलती है, बोलती है, बोलती है; हदसे ज़्यादा मस्त होती है, तो फूलपर मुँह रख देती है, और आँखें बंद करके ज़मज़मा करते रह जाती है। तब मालूम होता है कि शाइरोंने जो इसके और बहारके और गुलो-लालाके मज़मून बांधे हैं, वे क्या हैं, और कुछ असलियत रखते हैं या नहीं। वहां (फ़ारसमें) घरोंमें नीम कीकरके दरख़्त तो हैं नहीं, सेब, नाशपाती, बिही, अंगूरके दरख़्त हैं। चांदनी रातमें किसो टहनी पर आन बैठती है, और इस जोश व ख़रोशसे बोलना शुरू करती है कि रातका काला गुंबद पड़ा गूंजता है, वह बोलती है और अपने ज़मज़मेमें तानें

लेती है, और इस ज़ोर शोरसे बोलती है कि बाज़ मौक़े पर जब चह-चह करके जोश व ख़रोश करती है, तो यह मालूम होता है कि इसका सीना फट जायगा ! अह्ले-दर्दके दिलोंमें सुनकर दर्द पैदा होता है, और जी बेचैन हो जाते हैं। मैं (आज़ाद) एक फ़सले-बहारमें उसी मुल्कमें था। चांदनी रातमें सहनके दरख्त पर आन बैठती थी, और चहकारती थी, तो दिलपर एक आलम गुज़र जाता था; कैफ़ियत बयानमें नहीं आ सकती। कई दफ़ा यह नौबत हुई कि मैंने दस्तक दे-देकर उड़ा दिया × × ×।'—

यह है फ़ारसकी बुलबुलका हाल, जिसका बयान वहांकी बहार (वसंत) के मुनासिब-हाल है। हिंदोस्तानमें ऐसी बुलबुल किसीने कहीं देखी है ! यहां जो चिड़िया बुलबुलके नामसे मशहूर है, उस ग़रीबपर तो किसीका यही शेर सादिक़ आता है—

'मालूम है हमें सब, बुलबुल तेरी हक़ीक़त ;
एकमुश्त उस्तख्वाँ * हैं, दो पर लगे हुए हैं।'

भारतके वसंतमें कोकिलका कल-कूजन ही आनन्द देता है। खुसरोंने फ़ारसी-साहित्यके कवि-समयको सब जगह आदर्श नहीं माना ; उन्होंने बहुत-सी बातोंका वर्णन भारतीय ढंगसे किया है। खुसरोका एक फ़ारसी शेर है—

'ज़हे ख़रामशू आँ नाज़नीं ब अय्यारी;
कबूतरे ब निशात आमदस्त पिंदारी।

इसमें खुसरोने किसी मदमाती युवतीकी गतिको कबूतरकी

* एकमश्त-उस्तख्वां=एक मुठ्ठी हड्डियाँ।

मस्ताना चालसे उपमा दी है। इसपर 'शिबली' कहते हैं कि-'अमीर' साहब चूंकि हिन्दी ज़बानसे आशना (परिचित) थे, इसलिये तशबीहात (उपमाओं) में उनको ब्रज-भाषाके सरमाएसे बहुत मदद मिली होगी। यह शेर ग़ालिबन् इसी ख़िरमनकी ख़ोशा-चीनी है। फ़ारसी-शाइर माशूक़की रफ़्तारको कब्क (चकोर) की रफ़्तारसे तशबीह देते थे, हिंदीमें हंसकी चाल आम तशबीह (प्रसिद्ध उपमा) है, लेकिन कबूतर मस्तीकी हालतमें जिस तरह चलता है; वह मस्ताना-ख़िराम (मद-मंथर गति) की सबसे अच्छी तसवीर है।'—

सबसे बड़े मार्केकी बात जो ख़ुसरोने की, वह प्रेम-प्रकाशनमें भारतीय साहित्यके आदर्शका अनुकरण है, अर्थात्—

'आदौ वाच्यः स्त्रियो रागः पश्चात् पुंसस्तदिङ्गितैः।'

—प्रेमका प्रारंभ पहले स्त्रीकी ओरसे होना चाहिए, फिर स्त्रीकी प्रेम-चेष्टाओंको देखकर पुरुषकी ओरसे।

इसके औचित्यको किसी समझदार फ़ारसी-शाइरने दृष्टांत द्वारा सिद्ध किया है—

'इश्क़ अव्वल दर दिले-माशूक़ पैदा मीशवद;
ता न सोज़द शमा कै परवाना शैदा मीशवद।'

अर्थात्—

'पहले तिय के हीय मैं उमगत प्रेम-उमंग;
आगे बाती बरति है, पाछे जरत पतंग'

फ़ारसी-साहित्यमें इसके बिलकुल उलटा होता है। वहां प्रेम-

प्रेम प्रसंगमें स्त्रीका अधिकार ही नहीं। प्रेमी पुरुष प्रेम-पात्र पुरुषपर आसक्त होता है, जो बहुत ही अस्वाभाविक, प्रकृति-विरुद्ध व्यापार है। फ़ारसीका सारा साहित्य इसी घृणित रसाभासके वर्णनसे भरा पड़ा है। मौलाना हाली और मौलाना शिबलीने इसपर बहुत बहस की है, फ़ारसी-साहित्यके इस प्रकारको उन्होंने निन्दनीय बताया है। इस विषयमें फ़ारसी-कवियोंमें ख़ुसरोने ही भारतीय आदर्शका अनुकरण किया है। मौलाना 'आज़ाद'ने ख़ुसरोके संबंधमें लिखते हुए लिखा है—'× × × इसमें यह बात सबसे ज़्यादह क़ाबिल लिहाज़ है कि इन्होंने (ख़ुसरोने) बुनियाद इश्क़की औरतहीकी तरफ़से क़ायम की थी, जो कि ख़ासा नज़्म हिंदीका है।'—

मौलाना हालीने इस संबंधमें एक मनोरंजक ऐतिहासिक घटनाका उल्लेख किया है, जो सुनने लायक़ है—

'××× एक मौक़े पर जहाँगीर (बादशाह) के रूबरू क़व्वाल, अमीर ख़ुसरोकी ग़ज़ल गा रहा था, और बादशाह उसको सुनकर बहुत महज़ूज़ (आनंदित) हो रहा था। जब क़व्वालने यह शेर गाया—

'तो शबाना मी-नुमाई ब-बरे के बूदी इम्शब ;
कि हनोज़ चश्मे-मस्तत् असरे-खुमार दारद ;❀

❀ इसी प्रसंग का यह बिहारी का दोहा है—
'पल सोहैं पगि पीक-रँग छल सोहैं सब बैन,
बल सौहैं कत कीजियतु, यह अलसौहैं नैन।'

बादशाह दफ़ातन् बिगड़ गया, और क़व्वालको फ़ौरन् पिट-वाकर निकलवा दिया, और इस क़दर बर्हम (क्रुद्ध) हुआ कि तमाम नदीम (दरबारी) और ख़वास (नौकर-चाकर) ख़ौफ़से लरज़ने लगे और फ़ौरन् मुल्ला नक़शी मोहर-कनको जिनका बादशाह बहुत लिहाज़ करता था, बुलाकर लाए, ताकि वह किसी तदबीरसे बादशाहके मिज़ाजको धीमा करें। जब वह सामने आए, तो बादशाहको निहायत ग़ौज़ो-ग़ज़बमें भरा हुआ पाया। अर्ज़ किया, हुज़ूर! ख़ैर बाशद!—बादशाहने कहा, देखो, अमीर ख़ुसरोने कैसी बेग़ैरतीका मज़मून शेरमें बाँधा है। भला कोई ग़ैरतमंद आदमी अपनी महबूबा (प्रिया) या मनकूहा (विवाहिता) से ऐसी बेग़ैरतीकी बात कह सकता है? मुल्ला नक़शीने एक निहा-यत उम्दा तौजीह (कारणनिर्देश) से उसी वक्त, बादशाहका गुस्सा फ़रो कर दिया। उन्होंने कहा—अमीर ख़ुसरोने चूंकि हिंदोस्तानमें नशवोनुमा पाया था, इसलिये यह अक्सर हिंदो-स्तानके उसूलके मुवाफ़िक़ शेर कहते थे। यह शेर भी उन्होंने उसी तरीक़ेपर कहा है—गोया 'औरत अपने शौहर (पतिसे) कहती है कि तू रातको किसी ग़ैर औरतके यहां रहा है; क्योंकि अबतक तेरी आँखोंमें नशेका या नींदका ख़ुमार पाया जाता है।'—यह सुनकर बादशाहका ग़ुस्सा जाता रहा, और फिर गाना-बजाना होने लगा।'—

मालूम होता है, जहाँगीर उसदिन कुछ ज़्यादा पिए हुए थे, तभी ज़रा-सी मामूली बातपर इस तरह बरस पड़े; वर्ना फ़ारसी-

शाइरीका माशूक हद दर्जेका हरजाई, बेवफ़ा, झूठा और ज़ालिम होता है। रक़ीबका रोना, हरजाईपनकी शिकायत, यही तो फ़ारसी-शाइरीके आशिक़का 'क़ौमी गीत' है अस्तु।

अमीर ख़ुसरोकी इस विशेषताका वर्णन प्रायः मुसलमान कवि-लेखकोंने बड़े आश्चर्यसे किया है। 'सर्व आज़ाद' नामक फ़ारसी-ग्रन्थके लेखकने भी इस संबन्धमें खुसरोका उल्लेख किया है। उन्होंने अकबर बादशाहके समयकी एक सतीकी घटना लिखी है कि ××× अकबरके समयमें एक नौजवान हिंदू-वरकी बरात आगरेमें छत्तेके बाज़ार होकर लौट रही थी। अचानक बाज़ारके छत्तेकी कड़ी टूटकर वरके ऊपर गिर पड़ी, जिसकी चोटसे बेचारे वरकी वहीं मृत्यु हो गई। अभागी वधू (दुलहिन), जो अत्यंत रूपवती युवती थी, वरके साथ सती होने लगी। जब इस घटनाकी ख़बर अकबर-को मिली, तो दुलहिनको अपने सामने बुलाकर समझाया-बुझाया, और तरह-तरहके लालच देकर उसे सती होनेसे रोकना चाहा। पर सती वधू अपने व्रतसे न डिगी, और पतिके साथ चितामें जल-कर सती हो गई *।'

इस घटनाका उल्लेख करके मीर ग़ुलामनबी आज़ाद लिखते हैं—

'अज़ ईं जास्त कि शोअराए-ज़बान हिंद दर अशआर ख़ुद इश्क़ अज़ जानिबे-ज़न बयाँ मी कुनंद कि ज़ने हिंदू हमीं यक

* इस घटनापर शाहज़ादा दानियालकी आज्ञासे 'नौयी' शाइरने मसनवी सोज़ो-गदाज़ लिखी थी।

शौहर मी कुनद्, व ओरा सरमायए-ज़िन्दगी मी-शुमारद्, व बाद्-मुर्दने-शौहर ख़ुदरा बा मुर्दा-शौहर मी सोफ़द् अमीर ख़ुसरो मी-गोयद्—

ख़ुसरवा दर इश्क़बाज़ी कमज़ हिन्दूज़न मबाश,
कज़ बराए मुर्दा सोज़द ज़िन्दा जाने-खेश रा।'

—अर्थात् यही बात है कि हिंदी-भाषाके कवि अपनी कविता-में स्त्रीकी ओरसे प्रेमका वर्णन करते हैं; क्योंकि हिंदू-स्त्री बस एक ही पतिको वरती है, और उसे ही अपना जीवन-सर्वस्व समझती है। पतिके मरनेपर मृत पतिके साथ वह भी जल मरती है। अमीर ख़ुसरोने कहा है—

—ऐ ख़ुसरो! प्रेम-पंथमें हिंदू स्त्रीसे तू पीछे मत रह; उसकी बराबरी कर कि वह मुर्दा पतिके साथ अपनी ज़िन्दा जानको जला देती है।—

इसी भावको एक और फ़ारसी-कविने इन शब्दोंमें प्रकट किया है—

'हमचु हिन्दूज़न कसे दर-आशक़ी मरदाना नेस्त;
सोख़्तन बर शमा मुर्दा कार हर परवाना नेस्त।'

—यानी प्रेममें हिंदू-स्त्रीकी तरह कोई मर्द मर्द-मैदान नहीं। मरी हुई (बुझी हुई) शमा (मोमबत्ती) के ऊपर जल मरना, हर परवानेका काम नहीं है। एक उर्दू-कविने इस भावको और भी चमत्कृत कर दिया है—

निसबत न 'सती' से दो 'पतंगे' के तईं,
इसमें और उसमें इलाक़ा भी कहीं!

वह आगमें जल मरती है मुर्देके लिये,
यह गिर्द बुझी शमाके फिरता भी नहीं।'

अफ़सोस है, भारतवर्षकी एक बहुत बड़ी विशेषता, जिसे शत्रु भी मुक्तकंठसे सराहते थे, ज़मानेके हाथों मिट रही है। 'सिविल-मैरिज' प्रचलित हो गया, तलाक़की प्रथाके लिये प्रस्ताव हो रहे हैं! पाश्चात्य-शिक्षाकी आँधीने सबकी धूल उड़ा दी!

'ता सहर वह भी न छोड़ी तूने ऐ बादे-सबा;
यादगारे-रौनके-महफ़िल थी परवानेकी ख़ाक।'

ख़ुसरोकी कवितामें चमत्कारके साथ हृदयपर अधिकार करनेकी अद्भुत शक्ति भी है। इसके दो-एक ऐतिहासिक उदाहरण देखिए—

एक लड़ाईमें ख़ुसरो सुलतान मोहम्मद (ग़यासुद्दीन बलबन-के बेटे) के साथ थे। ख़ुसरो तातारियोंके हाथ क़ैद हो गए, और सुलतान मोहम्मद मारा गया। दो वर्षके बाद किसी तरह छूटकर ख़ुसरो दिल्ली पहुंचे। ख़ान शहीद—(सुलतान मोहम्मद) की मृत्यु-पर जो मर्सिया (करुण-कविता) इन्होंने लिखी थी, दरबारमें बादशाहको सुनाई, जिसे सुनकर दरबारमें हाहाकार मच गया, लोग रोते-रोते बेसुध हो गए। बादशाह (ग़यासुद्दीन बलबन) तो इतना रोया कि ज्वर चढ़ आया, और तीसरे दिन मर गया।

एक बार ख़्वाजा निज़ामुद्दीन औलिया यमुनाके किनारे एक कोठे पर बैठकर हिंदुओंके स्नान-पूजाका तमाशा (!)

देख रहे थे। ख़ुसरो भी पास बैठे थे। ख़्वाजा-साहबने कहा, देखते हो—

'हर क़ौम रास्तराहे, दीने व क़िब्लागाहे।'

—अर्थात् प्रत्येक जाति अपने धर्म और ध्येयको ठीक समझकर चल रहा है, सबका मार्ग सीधा है।

उस समय ख़्वाजा साहबकी टोपी ज़रा टेढ़ी थी। अमीर ख़ुसरोने तिरछी टोपीकी ओर इशारा करके फ़ौरन् कहा—

'मा क़िब्ला रास्त करदेम् बरतरफ़ कज-कुलाहें।'

जहाँगीर बादशाहने 'तुज़क-जहाँगोरी' में लिखा है कि—'मेरी मजलिसमें क़व्वाल यह शेर गा रहे थे। मैंने इसका शाने-नज़ूल—(प्रकरण और प्रसंग, जिस पर इस कविताकी रचना हुई थी) पूछा। मुल्ला अलीअहमद मोहरकनने उक्त घटना सुनाई। इस अंतिम पदके समाप्त होते-होते मुल्लाकी हालत बदलनी शुरू हुई, बेहोश होकर गिर पड़े, देखा तो दम न था!'—

भावुकताने बेचारे मुल्लाकी जान ले ली। ख़ुसरोकी इस उक्तिमें कौन-सा विषका बुझा बाण छिपा है, यह ज़रा सोचनेकी बात है।

'क़िब्ला'-शब्दका अर्थ है—ध्येय-पदार्थकी प्रतीक, जिसे सामने रखकर ध्येय वस्तुका ध्यान करें। मुसलमान लोग काबेकी ओर मुँह करके नमाज़ पढ़ते हैं, इसलिये वह 'क़िब्ला' कहलाता है। पूज्य व्यक्ति गुरु, पिता आदिको भी क़िब्ला कहते हैं। ख़्वाजा साहब (टेढ़ी टोपीवाले) ख़ुसरोके गुरु थे, अर्थात् 'क़िब्लेकी टोपी

टेढ़ी थी ; ख़ुसरोने विनोदसे कहा, हमने भी तो क़िबला सीधा ही किया था—हमारा क़िबला सीधा था, टोपी टेढ़ी क्यों है ? टोपी टेढ़ी नहीं, गोया क़िबला ही टेढ़ा हो गया। इसे एक ओर करो, नहीं तो ऐसे टेढ़े क़िबलेको सलाम है ! टेढ़ा क़िबला दरकार नहीं।—यदि ख़ुसरोकी इस उक्तिका यही भाव है—जैसा शब्दोंसे प्रकट होता है—तो इस मोठे मज़ाक़में एक बाँकपन है, जिससे ख़ुसरोकी सूझ, हाज़िरजवाबी और ज़िंदादिलीका सबूत मिलता है। पर इतनी-सी बात पर मुल्ला क्यों मर गया ? बात कुछ गहरी और पतेकी है। मरनेवाला मुल्ला सच्चा और सहृदय था। इसलामके एक बहुत बड़े प्रचारक हज़रत ख़्वाजा साहबके मुँहसे यह सुनकर कि हर एक क़ौमका दीन-ईमान सीधा और सच्चा है, हर मज़हब अपने-अपने रास्ते पर ठीक हैं, मुल्लाके ध्यानमें इसलामका ख़ूनी इतिहास फिर गया, जिसने कि दूसरे धर्मवालोंको 'गुमराह' कहकर दीनके नाम पर ख़ूनकी नदियाँ बहाई हैं,—'या तो दीन-इसलाम क़बूल करो, नहीं तो मरनेको तैयार हो ; सिर्फ़ एक दीन-इसलाम ही सच्चा है, उसके सिवा सब कुफ़्र है ; काफ़िरोंको हक़ नहीं कि ज़िन्दा रहें'—इसलामको इस मतांधताने करोड़ों निरपराध प्राणियोंकी हत्या करा डाली। यदि ख़्वाजेकी यह बात सच्ची है कि 'हर क़ौम रास्तराहे दीने व क़िबलागाहे'—हर क़ौम सीधे रास्ते पर है, सबका दीन और क़िबला (तीर्थ-स्थान, प्रतीक) सच्चे हैं, तो फिर दीनके नामपर इतनी लूट-मार और नृशंस हत्याएँ क्यों की गईं ? इसका पाप किसके सिर जायगा ? वे मतांध मुल्ला और बादशाह,

जिन्होंने धर्मके नामपर बड़े-बड़े अधर्म किए, किस नरकमें ढकेले जायँगे ? सब दीन सच्चे हैं, तो फिर इसलामका विधर्मियोंपर खूनी जहाद क्यों जारी है ?

हम समझते हैं, यही सोचते-सोचते सहृदय मुल्लाका हृदय फट गया ! जो कुछ भी कारण रहा हो, मुल्लाके मरनेमें और खुसरोके कलामकी तासीरमें कलाम नहीं !

* * *

खुसरोके कलामकी तासीरके ये दो उदाहरण-मारनेके हुए। एक उदाहरण जिलानेका भी सुनिए—

कहते हैं कि नादिरशाहने क्रुद्ध होकर जब दिल्लीमें क़त्लेआम-का हुक्म दिया और खुद तमाशा देखनेके लिये सुनहरी मसजिदमें डटकर बैठ गया—हज़ारों आदमी गाजर-मूलीकी तरह काट डाले गए, दिल्लीके गली-कूचे आदमियोंकी लाशोंसे भर गए, खूनकी नदी बह निकली *, क़त्ल बराबर जारी था, नादिरशाहकी रुद्र-मूर्ति देखकर किसीको हिम्मत न पड़ती थी कि कुछ प्रार्थना करे, तब मोहम्मदशाह (दिल्लीके बादशाह) का एक बूढ़ा वज़ीर डरता-काँपता, जान पर खेलकर, नादिरशाहके सामने पहुंचा, और अमीर खुसरोका यह शेर पढ़कर सिर झुकाए हाथ जोड़े हुए खड़ा हो गया—

'कसे न मांद कि दीगर ब तेग़-नाज़ कुशी ;
मगर कि ज़िंदा कुनी खल्क़रा व बाज़ कुशी।'

* इस क़त्लेआममें एक लाखसे ऊपर आदमी क़त्ल किए गए थे।

—अर्थात् कोई आदमी नहीं बचा, सब तुम्हारी क़हरकी निगाहके शिकार हो गए,—निगाहे-नाज़की तलवारसे सबको मार डाला, अब लोगोंको लुत्फ़की निगाहसे ज़िन्दा करो और फिर मारो *।

जब शिकारगाहके बध्य पशु समाप्त हो जाते हैं, तो नए जानवर पाले जाते हैं, और तब तक शिकार खेलना बंद रहता है।

यह अन्योक्ति काम कर गई; नादिरशाह सुनकर तड़प गया, और फ़ौरन् क़त्ले-आम बंद करनेका हुक्म दे दिया। उसी-दम हत्या बंद हो गई।

इस तरह ख़ुसरोके इस एक शेरने लाखों आदमियोंकी जान बचा दी।

ख़ुसरोकी कविताके कुछ नमूने

प्रेम-पंथके पचड़ोंके चमत्कृत वर्णनको फ़ारसीमें 'वक़ूअ गोई' कहते हैं। उर्दू वालोंने इसका नाम 'मामलाबंदी' रक्खा है। संस्कृत-कवियोंने तो शृंगार-रसमें इसका बहुत ही चमत्कृत वर्णन किया है, पर फ़ारसीमें इस रीतिके प्रवर्तक अमीर ख़ुसरो ही हुए हैं; मौलाना

* लुत्फ़ और क़हरकी निगाहकी तासीरके फ़र्क़ पर ख़ुसरोका एक और शेर है—

'गुफ़्तम् चगूना मी कुशी वो ज़िन्दा मी कुनी;
अज़ यक निगाह कुश्तो निगाहे दिगर न कर्द।'

—अर्थात् मैंने कहा, तुम किस तरह मारते और जिलाते हो? उसने एक ही निगाहसे मार तो दिया, पर दूसरी निगाह (जिलानेवाली) न की!

ग़ुलामनबी आज़ादने अपने एक ग्रंथमें इस बातका उल्लेख किया है और मौ० शिबलीने इस मतकी पुष्टि की है तथा खुसरोकी फ़ारसी कवितासे इस विषयके कुछ उदाहरण भी उद्धृत किए हैं—

'चूँ रफ़्तम् बर दरश् बिसियार दरबाँ गुफ़्त ईं मिसकीं,
गिरफ़्तारस्त शायद, कीं तरफ़ बिसियार मी आयद्।'

—मुझे उसके (प्रेमपात्र के) दरवाज़े पर बारबार जाता देखकर दरबानने कहा, शायद यह भी कोई 'गिरफ़्तार' है; क्योंकि अक्सर इधर आता है।

'मस्त आँ ज़ौक़म् कि शब दर कूए-ख़ेशम् दीदो-गुफ़्त।
कीस्त ईं ? गुफ़्तन्द मसकीने गदाई मीकुनद्।'

—मैं उस घटनाको याद करके मस्त हूं। रात जब उसने मुझे गलीमें देखकर कहा कि यह कौन है ? किसीने कहा कि कोई ग़रीब है, भीख मांगता है।

'वादा मी ख्वाहमो दरबंद वफ़ा नीज़ नीयम् ;
ग़रज़ आनस्त कि बारे ब तक़ाज़ा बाशम्।'

—मैं वादा चाहता हूं, वफ़ाकी शर्त नहीं कराता—वादा पूरा हो, इसपर ज़ोर नहीं देता—इस बहानेसे तक़ाज़ा करनेका तो मौक़ा मिलता रहेगा।

'अज़ कुजा आमदी ऐ बाद ! कि दीवाना शुदम्;
बूए-गुल नेस्त कि मी आयदम् ईं बूए-कसेस्त।'

—ऐ हवा ! तू कहाँसे आ रही है ? जो ख़ुशबू तू ला रही है, यह किसी फूलकी तो है नहीं। इसे सूंघकर मैं दीवाना (मस्त) हो गया। सच बता, यह सुगंध किसकी है ?

'गुफ्ती अंदर ख्वाब गह गह रूए-ख़ुद बिनुमायमत ;
ई सुख़न बेगानारा गो काशनारा ख्वाब नेस्त।'

—तू जो कहता है कि मैं तुझे सपनेमें कभी-कभी सूरत दिखा दिया करूंगा, यह बात किसी ग़ैरसे कह, दोस्तको नींद कहाँ! जो सपनेमें तुझे देखेगा!

'मन कुजा ख़ुसपम् कि अज़ फ़रयादे-मन ;
शब न स। ख़ुसपद कसे दर कूए-तो।'

—मुझे तो भला नींद क्यों आती! मेरे रोनेके रौलेसे तो मेरे मुहल्लेमें भी रात कोई न सो सका!

'ऐ आशना कि गिरयाकुनां पंद मीदिही ;
आब अज़ बिरूँ मरेज़ कि आतिश बजां गिरफ्त।'

—ऐ दोस्त, तुम आँसू बहाते हो और मुझे समझाते हो; यह पानी बाहर मत गिराओ; आग तो अंदर लगी हुई है, बुझ सके तो उसे बुझाओ।

'गुफ्तम् असीर गर्दी ऐ दिल!
दीदो कि बआक़बत् हमाँ शुद।'

—ऐ दिल, मैं कहता न था कि पकड़े जाओगे; देखा, आख़िर वही हुआ न?

'ब-लबस् रसीदा जानम् तो बिया कि जिंदा मानम् ;
पस अज़ां कि मन न मानम् ब-चेकार ख्वाही आमद्।'

—जान होठोंपर आई हुई है, तू आ कि मैं ज़िंदा बचा रहूं। उसके बाद जब कि मैं न रहूंगा, तो तेरा आना फिर किस कामका होगा!

'मी रवी वो गिरिया मी आयद मरा ;
साअते बिनशीं कि बारां बुगज़रद ।'

—तुम जा रहे हो और मुझे रोना आ रहा है। इतने तो ठहरे रहो कि यह आँसुओंकी झड़ी बंद हो जाय। बारिश बंद होनेपर चले जाना।

अच्छा चकमा है ! जाना ही तो रोनेका कारण है, जब जायगा तभी रोना आयगा। न कभी यह झड़ी बंद होगी, न वह कभी जा सकेगा।

'गुफ्तम् ऐ दिल मरौ आँजा कि गिरफ्तार शवी ;
आक़बत रफ्तो हमा गुफ्तए-मन पेश आमद।'

—ऐ दिल, मैंने कहा था कि वहाँ मत जा, नहीं तो गिरफ़्तार हो जायगा। आख़िर तू न माना, वहाँ गया, और जो मैंने कहा था, वह सामने आया।

'जाँ ज़ नज्ज़ारा ख़राबो नाजे ऊ ज़ अंदाजा बेश ;
मा बबूए मस्तो साक़ी मी दिहद पैमानारा ।'

—मैं तो दर्शन-मात्रसे ही मस्त हूं और उसके नाज व अदा, अंदाजेसे बड़े हुए हैं, मै तो मद्यकी गंधसे ही मस्त हो रहा हूं और साक़ी प्याले-पर-प्याला दिए जाता है ! यह कृपा मार डालेगी।

'ख्वाही ए जाँ बिरो ख्वाह बमन बाश कि मन ;
मुर्दनी नेस्तम् इम रोज़ कि जानाँ ईंजास्त ।'

—ऐ जान (प्राण), चाहे तो तू चली जा, चाहे मेरे पास रह। तू चली जायगी तो भी मैं आज मरूँगा नहीं; क्योंकि जानां (प्यारा) पास है।

अत्युक्ति

'बख़ानए तो हमा-रोज़ बामदाद बुवद ;
कि आफ़ताब नियारद शुदन बुलंद ईं जा ।※

—तुम्हारे घरमें तो तमाम दिन प्रातःकाल ही का समय रहता है; क्योंकि वहां सूर्य (तेरे मुखसे डरकर) ऊंचा नहीं हो सकता । फ़ारसी-कवि मुखकी सूर्यसे उपमा देते हैं ।

'रवम् ज़ ज़ोफ़ बहरे जानिबे कि आह रवद ;
चू अनकबूत कि बर तारे ख्वेश राह रवद ।'

—कृशताके कारण उधर ही चल देता हूं, जिधर आह (दुःखोच्छ्वास) जाती है, जैसे कि मकड़ी अपने तारपर उड़ी फिरती है। शरीर इतना कृश हो गया है कि वह आहके साथ उड़ा फिरता है ।

श्लेष

'ज़बाने-शोख़े-मन तुर्की व मन तुर्की न मोदानम ;
च ख़ुशबूदे अगर बूदे ज़बानश दर दहाने-मन ।'

—उस चंचलकी ज़बान (भाषा) तुर्की है, और मैं तुर्की नहीं जानता। क्या अच्छा होता कि उसकी ज़बान मेरे मुंहमें होती ।

ज़बान शब्द श्लिष्ट है, भाषा और जिह्वा । इसीका इस शेरमें मजा है !

※ इसी भावका बिहारीका यह प्रसिद्ध दोहा है—
'पत्रा ही तिथि पाइयतु वा घरके चहुंपास
नित प्रति पून्योई रहत आनन-ओप-उजास ।'

स्वर्गीय सैयद अकबरहुसेनने भी इस भावको अच्छे ढंगसे अपनाया है—

'दिल ! उस बुते-फ़िरंगसे मिलनेकी शक्ल क्या ;
मेरा तरीक़ और है, उसकी है शान और।
क्योंकर ज़बां मिलानेकी हसरत बयां करूँ ;
उसकी ज़बान और है, मेरी ज़बान और।'

❀ ❀ ❀ ❀

'शमा अज़ दिले उश्शाक़ निशां मीआरद ;
जां अज़ सरे-सोज़ दरम्यां मीआरद।
खुश मी सोज़द लेक ऐबश ईनस्त ;
कि सोज़िशे-ख़ेश बर ज़बां मीआरद ;

—शमाने आशिक़ोंके दिलसे जलना सीखा है। यह भी अच्छी जलती है; पर इसमें एक ऐब (दोष) है कि अपने जलनेको ज़बान पर लाती है। खुद ज़ाहिर करती है आशिक़के दिलकी तरह चुपचाप बेमालूम नहीं जलती !

ज़बानपर लाना, ज़ूमानी (द्व्यर्थक) है। इसीने शेरमें जान डाल दी है, शमाकी लौको भी ज़बान कहते हैं।

मरनेके बाद भी किसीका एहसान नहीं चाहता—

'न ख्वाहम् बादे-मुर्दन हेच कस बरमन कफ़न पोशद ;
कि आतिश चूं बमीरद ख्वेश रा अज़ ख्वेश-तन पोशद।'

—मैं नहीं चाहता कि मरनेके बाद कोई मुझे कफ़न उढ़ावे, कफ़नसे ढँके। आग जब मरती (बुझती) है तो खुद अपने आपेको छिपा लेती है।

बुझनेपर जो राख रह जाती है, वही आग क़फ़न है।

कविताका महत्त्व

" आँके नामे-शेर ग़ालिब मोशवद वर नामे-इल्म ;
हुज्जते-अक्ली दरीं गोयम् अगर फ़रमाँ बुवद।
हर चे तकरारश कुनी आदम् बुवद् उस्तादे आँ ;
आँचे तसनीफ़ेस्त उस्ताद; एज़दे सुबहाँ बुवद्।
पस चरा बर दानशे कज़ आदमी आमोख्ते ;
नायदाँ ग़ालिब कि तालीमे वे अज़ यज़दाँ बुवद्।
इल्म कज़तकरार हासिल शुद चू आवे दर ख़ुमस्त ;
कज़ वे अर दह दल्व बाला बर कशी नुक्साँ बुवद।
लेक तबए-शाइराँ चश्मास्त जाइंदा कज़ो ;
गरकशी सद दल्व वेरूं आब सद चदाँ बुवद ।"

—कविता सब विद्याओंसे श्रेष्ठ है, आज्ञा हो, तो इसपर कुछ युक्तियाँ सुनाऊँ। कविताका आदिगुरु, जिसने इसकी चर्चा की, आदम * हुआ है, और जिसने सबसे प्रथम कवितामें ग्रंथ लिखाया, वह स्वयं ईश्वर है (इलहामी किताबें एक प्रकारकी कविता ही तो हैं)। फिर उन विद्याओंपर जो आदमीकी बनाई हुई हैं,— मनुष्योंने मनुष्योंसे सीखी हैं, यह ईश्वर-प्रदत्त विद्या (कविता) क्यों न अधिकार जमावे !

और विद्याएं ऐसी हैं, जैसा मटकेमें भरा हुआ पानी। यदि उसमेंसे दस डोल पानी निकालोगे, तो मटका खाली हो जायगा;

* अरबी-फ़ारसीवाले, वाल्मीकिकी तरह, हज़रत आदमको कविता का आदि-प्रवर्तक मानते हैं, और आदमसे ही आदमी (मनुष्य) उत्पन्न हुए हैं।—

पर कविकी प्रतिभा एक ऐसा चश्मा (स्रोत) है कि उसमेंसे सौ डोल पानी खींचो, तो पानी कम होनेकी जगह और सौगुना बढ़ जायगा।

उपदेश और नीति

खुसरोने एक क़सीदेमें नीति और ज्ञानका उपदेश दिया है, हर एक वाक्यको दृष्टांतसे दृढ़ किया है। दावा और दलील साथ-साथ मौजूद हैं। इसके कुछ नमूने लीजिए—

'मर्द पिनहाँ दरगलीमें बादशाहे-आलमस्त ;
तेग़-ख़ुफ़िया दरनियामे पासबाने किशवरस्त।"

—मर्द आदमी कंबलमें छिपा हुआ भी संसारका राजा है, तलवार म्यानमें बंद हो, तो भी (अपने आतंक से) राज्यकी रक्षक है।

"राहरौ चूँदर रिया कोशद मुरीदे-शहवतस्त ;
बेवा ज़न चूरुख़ बिआरायद बवंदे-शौहरस्त।"

—भक्ति-मार्गका पथिक यदि दंभका आचरण करता है, तो वह विषय-वासनाका दास है! विधवा स्त्री, यदि शृंगार करती है, तो समझो पति करना चाहती है।

'नफ़्स ख़ाके तुस्त हरगह नूरे-बाला बरतो ताफ़्त;
साया ज़ेरे पा शवद हरगह कि बर तारक ख़ुरस्त।'

- जिस समय तेरे ऊपर परम ज्योतिका प्रकाश होगा, तो मन ख़ुद ख़ाक होकर रह जायगा; जब सूर्यका प्रकाश सिरपर होता है, तो छाया पैरोंपर आ जाती है।

'नाकसो-कस हर कि हिरसे-माल दारद दोज़ख़ीस्त ;
ऊदो सरगीं हरचे दर-आतिश फ़ितद् ख़ाकिस्तरस्त ।'

—मूर्ख हो या विद्वान्, जो मायाके मोहमें फँसा है, नरकका अधिकारी है। अगर और गोबर, जो भी आगमें गिरेगा, जलकर राख हो जायगा।

'ऐ बिरादर मादरे-दहर अर ख़ुरद् ख़ूनत मरंज ;
चूँ तुरा ख़ूने-बिरादर बिह ज़ शीरे-मादरस्त ।'

—ऐ भाई! पृथिवी-माता तेरा खून पी जाय, तो रंज क्यों करता है, जब कि तू भाईके ख़ूनको माताके दूधसे मीठा समझता है।
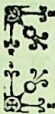
'अश्कम् बिरूँ मो अफ़गनद् राज़े-दरूने पर्दारा ;
आरे शिकायत हा बुवद् मिहमाने-बेरू कर्दारा ।'

—आंसुओंने भीतरका भेद बाहर ज़ाहिर कर दिया। घरसे बाहर किया हुआ महमान (पाहुना, अभ्यागत) बाहर जाकर शिकायत करता ही है। *

---

* इस लेखकी प्रायः सामग्री मौलाना शिबली, मौ० हबीबुर्रहमान-शिरवानी और मौलाना मुहम्मदहुसेन'आज़ाद'के लेखों और ग्रन्थों-से ली गई है, और कुछ इधर उधरसे भी—

सरमद शहीद

सरमदका असली नाम क्या था, इसका पता किसी पुरानी पुस्तकमें नहीं मिलता। 'सरमद' तख़ल्लुस—कविताका उपनाम—है, सर्वसाधारणमें यही प्रसिद्ध रह गया, सांसारिक नाम लुप्त हो गया। 'सरमद'का अर्थ है अनादि अनन्त (ब्रह्म), यही नाम इस ब्रह्म-विद्के स्वरूपका परिचायक है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस वेदान्त-सिद्धान्तके सर्वथा अनुकूल है। किसीने लिखा है फ़िरंगी था, और किसीने अरमनी (अरमीनियन), इस प्रकार सरमदकी जन्म-भूमिके बारेमें भी विवाद है। धर्मके सम्बन्धमें भी कोई कहता है ईसाईसे मुसलमान बना था; कोई कहता है पहले यहूदी था। वह अरमनका निवासी रहा हो, या फ़िरंगिस्तानका, पर मुसलमान होनेसे पहले वह यहूदी था, इसका पता सरमदने स्वयं दिया है। सरमदकी एक रुबायी है—

"सरमद कि बकूए-इश्क़ बदनाम शुदी,
अज़ दीने-यहूद सूए-इसलाम शुदी,
मालूम न शुद कि अज़ ख़ुदा वो अहमद,
बरगश्ता, बसूए लछमनो-राम शुदी।"

अर्थात्—सरमद इश्क़के कूचेमें—प्रेम-पन्थमें—पड़ कर बदनाम हो गया, यहूदी दीन (पन्थ) छोड़कर इसलामकी ओर आया, और फिर इसलामके ख़ुदा और रसूलसे मुँह मोड़कर राम और लक्ष्मणके भक्तोंमें जा मिला!

दर-असल सरमद एक सूफ़ी फ़क़ीर था, किसी धर्म; मत या पन्थका पाबन्द न था। सरमदके सम्बन्धमें पुराने और नये लेखकोंने जो कुछ लिखा है उससे सिर्फ़ यही मालूम होता है कि वह अपना पैतृक धर्म छोड़कर मुसलमान मतमें आया था, अपने देश (संभवतः-अरमीनिया)से शाहजहाँ बादशाहके शासन-समयमें व्यापारी बनकर भारतमें पहुंचा ; दैवकी लीला विचित्र है, बेचारा आया था व्यापार करने—कुछ कमाने—पर यहाँ आते ही अपने आपको भी खो बैठा, इश्क़की आगने दीन दुनिया दोनोंका सरमाया जलाकर खाक कर दिया ! 'सरमद' तिजारतके सौदेको आया था, वह तो न हुआ, प्रेमकी हाटमें अपने आप हीको बेच बैठा—

"दल्लाले-इश्क़ बूद ख़रीदारे-जांसितां,
ख़ुदरा फ़रोख़्तेम् चे सौदा बमा रसद् !"

प्रेमका दलाल, किसी चितचोरका गाहक बनकर चला था; पर मैंने अपने हीको बेच डाला, यह मेरा सौदा क्या अच्छा रहा ! खुद खरीदार ही बिक गया !

"सौदेके लिये बरसरे बाज़ार हुये हम,
हाथ उसके बिके जिसके ख़रीदार हुए हम !"

कहते हैं सिन्धके ठट्ठा नगरमें, किसीके मतसे गुजरातके सूरतमें, और किसीके कथनानुसार बिहारके पटना-शहरमें यह 'दुर्घटना' घटी थी—सरमदके सिरपर प्रेमकी बिजली गिरी थी, जिसने इस उक्तिको चरितार्थ करके दिखा दिया—

"आग इस घरमें लगी ऐसी कि जो था जल गया।"

—एक विदेशी व्यापारीको दिगम्बर अवधूत बनाकर बैठा दिया। सांसारिक प्रेमने सरमदको आदर्श दिव्य प्रेमी बना दिया—इश्क़े-मजाज़ीने इश्क़े-हक़ीक़ीके दर्जेपर पहुंचा दिया। किसी प्रकारके प्रेमसे पिघले हुए दिलमें सच्चा प्रेम आसानीसे घर कर लेता है—

"मुहब्बत बादिले-ग़मदीदा उल्फ़त बेशतर गीरद,
चिराग़ेरा कि दूदे-हस्त दरसर ज़ूदतर गीरद।"

—प्रेमकी चोट खाये हुए दिलमें प्रेम जल्दी और मज़बूतीसे बैठ जाता है, जो बत्ती पहले जल चुकी है—वह जिसमें अभी तेलका धुआँ उठ रहा है, लौको जल्दी पकड़ती है। सरमद अपना सब सरमाया लुटाकर प्रेमोन्मादकी दशामें मुद्दत तक ख़ाक छानते फिरे, "बहुत ढूँढ़ा पता उसका न पाया" आख़िर जब सरगरदानी और परेशानीसे तंग आ गये तो वह यह कहकर आसन जमाकर बैठ गये—

"सरमद अगरश वफ़ास्त ख़ुद मी आयद
गर आमदनश रवास्त ख़ुद मी आयद,
बेहूदा चेरा दरपए-ऊ मी-गरदी,
बिनशीं अगर ऊ ख़ुदास्त ख़ुद मी आयद।"

—सरमद! अगर उसमें वफ़ा है तो ख़ुद आयगा, अगर उसका आना मुनासिब है तो आयगा, व्यर्थ क्यों उसके पीछे मारा-मारा फिरता है, बैठ, अगर वह ख़ुदा है तो खुद आयगा! ('ख़ुदा' शब्दमें यहां श्लेष है, और यही इस शेरकी जान है ख़ुदा—=स्वामी, मालिक, और ख़ुद आनेवाला)।

शाहजहां बादशाहके अन्तिम शासन-समयमें सरमद दिल्ली पहुंचे। शाहज़ादा दाराशिकोह सूफ़ी साधुओंका बड़ा भक्त था, मस्त और अवधूत महात्माओंमें उसकी बड़ी निष्ठा थी। वह सरमदका अनन्यभक्त और प्रेमी शिष्य बन गया, सरमदकी सेवा-शुश्रूषा और संगतिमें अपना अधिक समय बिताने लगा। शनैः शनैः सरमदके भक्तोंको भीड़ बढ़ने लगी, सारा शहर उसका उपासक हो गया; कट्टर मुल्लाओंके कान खड़े हुए, सरमदके कारण दाराशिकोहका पक्ष प्रबल होता देखकर औरंगज़ेब और उसके अनुयायियोंमें खलबली पड़ गई। सरमद कोई मामूली फ़क़ीर न था, अपने समयका अद्वितीय विद्वान, पहुंचा हुआ सूफ़ी और असाधारण कवि था, उसे वाद-विवादमें परास्त करना असम्भव था। औरंगज़ेबी मुल्लाओंका कुछ वश न चलता था; शाहजहां अभी शासनारूढ़ था, दाराशिकोह युवराज था, सर्वसाधारणकी सरमदमें असीम श्रद्धा थी, इसलिये सरमदको सर करना मुल्लाओंकी शक्तिसे बाहर था, खुल्लमखुल्ला विरोधका मौक़ा न देखकर गुप्त षड्यन्त्र रचे जाने लगे, औरंगज़ेब और उसके कठमुल्ला समयकी ताक और सरमदकी घातमें रहने लगे।

सरमदकी सिद्धि और प्रसिद्धिका समाचार जब शाहज़हां तक पहुंचा तो बादशाहने इनायतख़ां 'आशना'को भेजा कि जाकर सरमदसे मिले और उसके कश्फ़ो-करामातका हाल मालूम करके सुनावे। वह गया और वहांसे लौटकर बादशाहको यह चुटकला सुनाया—

"बर सरमदे-बरहना करामात तोहमतस्त,
कश्फ़े कि ज़ाहिरस्त अज़ो कश्फ़े-औरतस्त।"

अर्थात् नंग धड़ंग सरमदपर करामात (सिद्धि)की तोहमत थोपी गई है, उससे जो कश्फ़ (रहस्यका पर्दा उठ जाना) ज़ाहिर है; वह सिर्फ़ इतना ही है कि उसने अपने गोपनीय अंगोंसे परदा दूर कर दिया है ! रहस्यका पर्दा तो उसके सामनेसे नहीं हटा, पर अपने गुह्य अंगोंसे परदा दूर करके वह दिगम्बर बन गया है। यानी उसमें कश्फ़ोकरामात कुछ नहीं !

औरंगज़ेब जब पिताको क़ैद और भाइयोंको क़त्ल करके तख़्तपर बैठा तो और इन्तज़ामोंके साथ इधर भी उसका ध्यान गया। क़ाज़ियोंको और मुफ़्ती मुल्लाओंको सरमदके पीछे लगाया कि कोई बात ऐसी पकड़ें जिससे क़त्लका शरई बहाना हाथ आ जाय। दाराशिकोहके और सब साथियोंको एक एक करके औरंगज़ेब चुन चुका था, कुछ मारे गये, कुछ जान बचाकर इधर-उधर भाग गये। सरमद कहाँ जाते, उन्हें तो ख़बर ही न थी कि क्या हो रहा है, अपने हालमें ऐसे मस्त थे कि अपनी भी ख़बर न थी। मुल्लाओंकी ख़ुफ़िया-पुलिस घातमें थी, जिसका सरदार क़ाज़ी अब्दुल-क़वी था, जो सर्वसाधारणमें 'क़ाज़ी क़वी'के नामसे मशहूर था। इसने अपने जासूस छोड़ रक्खे थे। एक दिन सरमद नंगा बाज़ारमें चला जाता था, क़ाज़ीके प्यादे पकड़ ले गये, क़ाज़ीने कहा, 'ओ फ़क़ीर ! यह क्या हरकत है ? कपड़े क्यों नहीं पहनता ?' सरमदने कहा—

'बाबा ! क्या करूं, शैतान 'क़वी' (ज़बरदस्त) है !' क़ाज़ी सुनकर कट गया, कटनेकी बात ही थी, क़ाज़ीका नाम (क़वी) शैतानका विशेषण बन गया ! शैतान क़वी है ! यानी उसीने कपड़े उतारकर नंगा कर दिया है !

क़ाज़ी क़वीने बादशाहको रिपोर्ट की। बादशाहने सरमदके फ़ैसलेके लिए एक मजलिस (मिटिंग) बुलाई, जिसमें बड़े बड़े मौलवियों और दरबारी लोगोंको जमा करके सरमदको बुलाया गया। जब सरमद पहुंचे तो सबसे पहले बादशाहने स्वयं प्रश्न किया कि 'लोग कहते हैं सरमदने दाराशिकोहको सलतनतका मुफ़्दा दिया था—राज्य-प्राप्तिकी शुभ भविष्य-वाणी कही थी, क्या यह सच है ?' सरमदने कहा, 'हां' और वह मुफ़्दा सच निकला। उसे अब्दी-सलतनतकी ताजपोशी नसीब हुई—शाश्वत स्वाराज्य-पद प्राप्त हो गया।" फिर पूछा कि नंगा क्यों रहता है, कपड़े क्यों नहीं पहनता ? सरमदने कहा—

"आं-कस कि तुरा ताजे-जहांबानी दाद,
मारा हमा असबाबे-परेशानी दाद,
पोशांद लिबास हरकेरा ऐबे दीद,
बेऐबांरा लिबासे-उरयानी दाद !"

—जिसने कि तुझे बादशाहीका ताज दिया है, उसीने मुझे यह परेशानीका सामान दिया है, जिसे उसने ऐबवाला देखा, उसे लिबास पहनाकर ढांक दिया, जो बे-ऐब पाये, उन्हें उरयानीका लिबास दे दिया—दिगम्बर रहने दिया !

यह बरजस्ता जवाब सुन कर औरंगज़ेब पेच-ताब खाकर रह गया। क़ाज़ीने बहुत उभारा, पर बादशाहको नग्नताके अपराध-पर हत्याकी हिम्मत न पड़ी। जानता था कि सरमदके भक्तोंकी संख्या कम नहीं है, और सरमद कोई मामूली आदमी नहीं है, बग़ावत फैल जायगी, नग्नताके अपराधका परदा इतने भारी पापको छिपा न सकेगा। टाल गया। क़ाज़ीसे कहा—क़त्लकी सज़ाके लिए सिर्फ़ नंगा रहनेका जुर्म काफ़ी सबूत नहीं है। कोई ज़बरदस्त सबब और सबूत चाहिए। इस तरह इस वक्त. तो बला टल गई। पर क़ाज़ी 'क़वी' था, सरमदके सिर था, मुखबिर लगा रक्खे थे, हर-वक्त ताकमें रहता था, एक दिन ऐसे वक्त. आन लिया कि भंगका प्याला सरमदके हाथमें था, चाहता था कि पिये, जो क़ाज़ी साहब आ पहुंचे। कहा ओ फ़क़ीर ! क्या पीता है ? सरमदने कहा, 'बाबा ! जंगलकी बूटी है'। क़ाज़ीने कहा, भङ्ग नशेकी चीज़ है, इसका पीना हराम है, तुझ पर हद्दे-शरअ (इसलामी क़ानून-तोड़नेका जुर्म) जारी की जायगी। सरमदने क़ाज़ीके पायजामेका कपड़ा चुटकीमें पकड़कर कहा कि बाबा ! यह क्या चीज़ है? क़ाज़ी समझ गया, और कहा—अलबत्ता रेशमी कपड़ा पहनना जायज़ नहीं, मगर इसमें रेशम और सूत मिला हुआ है, इसी वास्ते इसे 'मशरूअ' (सूत-रेशम मिला हुआ कपड़ा, और जो शरअसे जायज़ हो) कहते हैं। सरमदने कहा कि बाबा ! आख़िर इस ठण्डाईमें भी तो सौंफ, काली मिरचें और कई और चीज़ें हैं !

क़ाज़ी अपना-सा मुँह लेकर रह गया, इस जुर्मपर चालान

न कर सका, सौंफ और काली मिरचोंने मज़ा बिगाड़ दिया, ठण्डाईके लतीफ़ेने क़ाज़ीको ठंडा कर दिया!

आख़िर क़ाज़ी क़वी और दूसरे मतान्ध मुल्लाओंने सरमदको फाँसी दिलाने-लायक़ जुर्मका सबूत ढूँढ़ निकाला, और अपने इरादेमें कामयाब हो गये, सरमदकी एक रुबायी है—

"आंकस कि सिर्रे-हक़ीक़तश् बावर शुद,
ख़ुद पहनतर अज़ सिपहरे-पहनावर शुद,
मुल्ला गोयद् कि बर फ़लक शुद अहमद,
सरमद गोयद फ़लक ब अहमद दर शुद।"

—जिसे ईश्वरकी सत्ता और महत्ता पर विश्वास हो गया—उसके स्वरूपको समझ गया, वह स्वयं आकाशसे भी महान् हो गया, मुल्ला कहता है कि मुहम्मद आसमान पर (ख़ुदासे मिलने) गये, 'सरमद' कहता है कि आसमान मुहम्मदमें समा गया।

इस वेदान्त-वादका अर्थ मुल्लाओंने यह लगाया कि सरमद मुहम्मद साहबके 'मेराजे-जिस्मानी' (सशरीर आकाशगमन)-के मोजिज़ेसे इन्कार करता है, इसलिए काफ़िर है और काफ़िरकी सज़ा मौत है। यद्यपि सूफ़ियोंके यहाँ इस तरहके हज़ारों मज़मून हैं, पर सरमदका अपराध तो दाराशिकोहका साथी होना था, यह तो एक बहाना था, बस इसी पर क़त्लका फ़तवा मिल गया, सच है—

"बिगड़ती है जिस वक्त ज़ालिमकी नीयत,
नहीं काम आती दलील और हुज्जत।"

इसके अतिरिक्त एक दूसरा कारण लिखा है। सरमद पूरा कलमा नहीं पढ़ता था, सिर्फ़ इतना ही पढ़ता था—"ला इलाह" जिसका अर्थ है—नहीं है कोई प्रेमास्पद या पूज्य। पूरा कलमा है—"ला इलाह-इल्-अल्लाह, मुहम्मद रसूल अल्लाह"—सूफ़ी लोग कलमेके अन्तिम अंश (मुहम्मद रसूल अल्लाह) को नहीं पढ़ते, सिर्फ़—"ला-इलाह इल्-अल्लाह" (नहीं है कोई पूज्य, सिवाय अल्लाहके) इतना ही पढ़ते हैं। पर सरमद इसमेंसे भी पहला आधा ही अंश पढ़ते थे, जिससे नास्तिकताकी ध्वनि निकलती है। जब सरमद औरंगज़ेबके दरबारमें बुलाये गये, तो बादशाहने मौलवियोंसे कहा कि सरमदसे कहो कलमा पढ़े, क्योंकि बादशाह सुन चुका था कि सरमद जब कलमा पढ़ता है तो 'ला-इलाह' से ज़्यादा नहीं कहता। बादशाहके इशारे पर मौलवियोंने सरमदसे कलमा पढ़नेको कहा, सरमद अपनी आदतके मुताबिक़ 'ला-इलाह' कहकर चुप हो गये। इस पर जब मौलवियोंने शोर मचाया तो सरमदने कहा कि "मैं तो अभीतक नफ़ीमें ही मुस्तग़रक़ हूं—अभावमें ही ग़ोते खा रहा हूं, मर्तबए-असबात तक नहीं पहुंचा—सत्तावाद या साक्षात्कारकी सीमातक नहीं गया, अगर 'ला-इलाह-इल्अल्लाह' कहूँगा तो झूठ होगा; जो दिलमें न हो वह ज़बानपर कैसे आये—' मौलवियोंने कहा यह तो सरीह कुफ़्र है, अगर तोबा न करे तो वाजिबे-क़त्ल है। ये कूपमण्डूक मतान्ध मुल्लाने नहीं जानते थे कि सरमद इन कुफ़्र और क़त्लके फ़तवोंसे बहुत ऊपर है, विधि-निषेधसे परे है, इनकी दौड़ मसजिदकी सीढ़ियोंतक थी, उस-

की पहुंच 'ला मकान' तक। जिसकी नज़रमें मौत, मौतकी मौत हो, वह मौतसे क्यों डरे—

'मौत यह मेरी नहीं मेरी क़ज़ाकी मौत है,
क्यों डरूं इससे कि फिर मरकर नहीं मरना मुझे।'

सरमदके अन्दर दिव्य प्रेमकी प्रचण्ड ज्वाला जल रही थी, मौतकी धमकीके छींटे उसे बुझा न सकते थे, इस परीक्षाके लिए वह तैयार था। मौतसे एक दिन पहलेकी बात है, 'सरख़ुश' (पानीपती) ने लिखा है कि एक दिन मैं और नासरअली सरहिन्दी और अब्दुलक़ादिर 'बेदिल' दिल्लीकी जामा-मसजिदमें हौज़के किनारेपर बैठे शेर पढ़ रहे थे कि सामनेसे सरमद आया। हमें देखकर हँसा और यह शेर पढ़ा—

'देर अस्त कि अफ़सानए-मन्सूर कुहन शुद,
अकनूँ सरे नौ जलवा दिहम् दारो-रसन रा।'

—बहुत दिन हुए मन्सूरका क़िस्सा पुराना पड़ गया, मैं अभी नये सिरसे (सूली पर चढ़कर) उसे फिर ताज़ा करता हूं, दारो-रसनके मज़मूनको फिर चमकाकर दिखाता हूं।

इस घोषणाके दूसरे दिन वही हुआ जो कहा था। 'सरखुश' कहता है, सरमदकी यह वाणी सुन कर श्रोता आश्चर्यचकित हो गये और कहा कि कुछ और सुनाइए तो सरमदने यह शेर पढ़ा—

'सर जुदा कर्द अज़ तनम् शोख़े कि बा मा यार बूद,
क़िस्सा कोतह कर्द वर्ना दर्दे-सर बिसयार बूद।'

—उस शोख़ने जो मेरा यार था, मेरा सिर शरीरसे जुदा कर

दिया—अच्छा किया, क़िस्सा ख़त्म हुआ, वर्ना भारी सिर-दर्द था, जाता रहा !

जिस दिन सरमदको क़त्लगाहमें ले गये हैं, तो सारा शहर टूट पड़ा। इतनी भीड़ थी कि कंधेसे कंधा छिलता था, रास्ता न मिलता था, मानो शाहज़ादेकी बरात जा रही है, बरातियोंका हजूम है कि जिसका ओर छोर नहीं है। सरदम उस हालतमें भी अपने हालमें मस्त था और ज़बाने-हालसे कह रहा था —

'बज़ुर्मे-इश्क़े तो अम् मीकुश्‌न्द ग़ौग़ाएस्त,
तो नीज़ बरसरे बाम आ कि ख़ुश तमाशाएस्त।'

—मुझे तेरे प्रेमके अपराधमें मारा जा रहा है, यह उसीका कोलाहल है, तू भी अटारी पर चढ़कर देख तो, क्या अच्छा तमाशा है !

जब जल्लाद तलवार चमकाता हुआ आगे आया तो निगाह मिलाई और मुस्कराकर कहा—

'फ़िदाये तो शवम् बिया बिया,
कि तो बहर-सूरते कि मी आई,
मन तुरा ख़ूब मीशनासम्।'

—तेरे क़ुर्बान जाऊं आ आ, तू जिस सूरतमें भी आवे, मैं तुझे खूब पहचानता हूं। 'बहर रंगे कि आई मीशनासम्'—इसके बाद यह शेर पढ़ा और सिर तलवारके नीचे रखकर जान दे दी—

'शोरे-शुदो अज़ ख़्वाबे अदम चश्म कशूदेम्,
दीदेम् कि बाक़ीस्त शबे-फ़ितना ग़नदेम्।'

—ख्वाबे-अदममें—अभावकी निद्रामें—पड़े सो रहे थे, कि शोर (प्रपंचका कोलाहल) सुना तो हमने आंखें खोल दी थीं, (सृष्टिमें आ गये थे) जब देखा कि शबे-फ़ितना (अविद्याकी रात) अभी बाक़ी है तो फिर सो गये ! उसी दशामें पहुंच गये※

इस प्रकार सरमद अनन्त समाधिमें सदाके लिये सो गये। औरंगज़ेबका यह कांटा भी निकल गया, पर सहृदयोंके हृदयमें असह्य शोक-शंकु गड़ गया !-औरंगज़ेबके ख़ुशामदी इतिहास-लेखकों और मतान्ध मुल्लाओंने इस 'ब्रह्महत्या' को भी औरङ्गज़ेबके पुण्य-कार्योंमें ही गिनाया है, पर निष्पक्ष और सहृदय लोगोंके मतमें सरमदकी हत्या एक ऐसा भारी पाप था कि औरङ्गज़ेबके दूसरे बड़े बड़े पाप इसके पासंग थे, उनके विचारसे यह महापाप ही औरंगज़ेब और मुग़लिया सलतनतको ले डूबा; अपने शासनके पहले ही सालमें औरंज़ेबने 'ब्रह्मविद्' सरमदकी हत्याका पाप कमाया था, जिसने मरते दम तक एक दिन भी औरंगज़ेबको चैन-से न बैठने दिया; मौत भी आई तो वतनसे दूर परदेशमें भटकते

※ सरमदकी जीवन-लीलाका अन्तिम दृश्य देखनेवाले किसी व्यक्तिके आधारपर एक लेखकने लिखा है कि सरमदने जिन्दगीमें 'लाइलाह' से ज़्यादा कलमा नहीं पढ़ा, पर जब शहादत पाई—शिरश्छेद हुआ—तो लोगोंने कटे हुए सिरसे उठता हुआ 'ला-इलाह इल् अल्लाह' का घोष तीन बार सुना ! अर्थात् ईश्वरकी सत्ताका पूर्ण साक्षात्कार सरमदको तब हुआ जब अपनी सत्ताका व्यवधान जाता रहा !

हुए। औरंगज़ेबके अन्तिम समयके उद्गारसे उसकी अत्याचार-जन्य अन्तर्वेदनाका अनुमान होता है। अस्तु,

सरमदकी समाधि दिल्लीमें जामा-मसजिदके पूर्वकी ओरकी सीढ़ियोंके सामने है, सिर्फ़ सड़क बीचमें है, जामा-मसजिदके यात्री उसकी भी ज़ियारत करते हैं।

सरमदकी शाइरी

औरंगज़ेबके अत्याचारसे मालूम होता है सरमदकी शाइरी (कविता) भी नष्ट हो गई। जिस प्रकार सरमदका जीवन-वृत्तान्त उस समयके लेखकोंने मतान्धताजन्य पक्षपातसे या औरंगज़ेबके डरसे नहीं लिखा, सिर्फ़ यही दो चार मामूली बातें लिखी मिलती हैं, इसी तरह उसकी कविताका संग्रह भी किसीने नहीं किया। कवितामें बची-खुची कुल ३२८ रुबाइयाँ और गद्यमें २३ रुक्के मिलते हैं। सरमद बहुत ऊँचे दर्जेका कवि था, पद्यमें ग़ज़ल और रुबायीका कामिल उस्ताद था। ग़ज़ल 'हाफ़िज़' के रङ्गमें और रुबायी 'ख़य्याम' के ढङ्गपर कहता था। एक रुबायीमें इस ओर इशारा किया है।—

"बा-फ़िक्रो-ख़याले कस न बाशद कारम्,
दर तौरे-ग़ज़ल तरीक़े-'हाफ़िज़' दारम्।
अम्मा ब-रुबाई अम् मुरीदे-ख़य्याम्,
न जुर्रा-कशे बादए-ऊ बिसयारम्।"

अर्थात् मुझे किसी अन्यके काव्य या विचारसे कुछ वास्ता नहीं (मैं स्वयं कवि हूँ) ग़ज़ल 'हाफ़िज़'की रीतिपर कहता हूँ और रुबायी उमर-ख़य्यामकी शैलीपर, पर इन दोनोंकी तरह शराब नहीं

पीता, यानी इनकी कविताका अनुकरण करता हूँ, मद्यसेवनके व्यसनकी नहीं।

सरमदके कहनेका ढङ्ग बड़ा हृदयहारी और चमत्कारयुक्त है। यद्यपि सरमदकी कविताका बहुत थोड़ा भाग उपलब्ध है, पर उस थोड़ेमें भी बहुत कुछ है। भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म, नीति, उपदेश इत्यादि सब रंग हैं। ज़बान (भाषा) साफ़ और बन्दिश चुस्त है; कहनेके ढंगमें एक बांकपन है, जो सुनने और समझनेवालेके दिलपर असर करता है। सरमदकी कविताके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं। भिन्न भाषाकी कविताके अनुवादमें वह चमत्कार तो रहता नहीं जो मूलमें है, कुछ योंही आभास-सा मिल जाता है; फिर भी उदाहरण दिये बिना नहीं रहा जाता—

"ऐ जलवागरे-निहां अयाँ शौ बदर आ,
दर फ़िक्र बजुस्तेम् कि हस्ती तो कुजा!
ख़्वाहम् कि दर-आग़ोश किनारत गीरम्,
ता चन्द तो दरपरदा नुमाई ख़ुदरा।"

—ऐ छिपकर जलवा (प्रकाश) दिखानेवाले ज़ाहिर हो, सामने आ, हम इसी चिन्ता और खोजमें हैं कि तू कहां है? इच्छा है कि तुझसे लिपट जायँ, तू कब तक अपनेको परदेमें छिपाये रहेगा!

"शादी बुवद अज़ दीनो ज़े दुनिया हमारा,
अज़ हर-दो निजात देह कि शादीस्त मरा।
आशुफ्तए-ख़ुद बकुन कि आनम् हवसस्त,
अज़ परदा बरूं आई व ख़ुदरा बिनुमा।"

—दीन और दुनिया (यह लोक और परलोक) मिलनेसे सब-किसीको ख़ुशी होती है, पर इन दोनोंसे मुझे निजात दे दे,—पिण्ड छुड़ा दे—मेरी ख़ुशी तो इसीमें है, मेरी कोई अभिलाषा है तो बस यही कि मुझे अपना ही प्रेमी बना दे, परदेसे बाहर आ और अपना स्वरूप दिखा !

"मशहूर शुदी बदिलरुबाई हमा जा;
बेमिस्ल शुदी दरआशनाई हमा जा,
मन आशिक़े ईं तौरे तोअम् मीबीनम्,
ख़ुदरा न नुमाई व नुमाई हमा जा।"

—तू अपने सौन्दर्य और प्रेमके लिये सब जगह प्रसिद्ध है, मैं तो तेरी इस अदापर लट्टू हूं कि तू अपने आपको छिपाता है, फिर भी सब जगह दिखाई दे रहा है !

('बेहिजाब इतना कि हर ज़र्रेमें जलवा आशकार,
उस पै पर्दा यह कि सूरत आज तक देखी नहीं।")

"अज़ जुर्म फ़ज़ूं याफ़्ताअम् फ़ज़्ल तुरा;
ईं शुद सबबे-माशियते-बेश मरा,
हरचन्द गुनह बेश, करम बेशतरस्त,
दीदम् हमाजा व आज़मूदम् हमा रा।"

—मेरे अपराधोंसे तेरी दया अधिक है, मेरे पापोंकी वृद्धि और अधिकताका यही सबब है। मेरे पाप बहुत हैं, पर तेरी दया उनसे कहीं अधिक है; यह मैं ख़ूब देख-भालकर आज़मा चुका हूं। इसी आशयका किसी पुराणका यह पद्य है—

"नाम्नोस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः" ॥

अर्थात्—हरिके नाममें पाप नष्ट करनेकी जितनी शक्ति है, उतने पाप कोई पातकी कभी कर ही नहीं सकता !

"नाकरदा गुनाह दर जहां कीस्त बिगो,
आं कस कि गुनाह न कर्द चूं ज़ीस्त बिगो !
मन बद् कुनम् व तो बद मकाफ़ात दिही,
पस फ़र्क़ मियाने-मनो तो चीस्त बिगो ।"

—संसारमें वह कौन है जिसने पाप नहीं किया, बता तो सही ? जिसने पाप नहीं किया वह किस तरह जिया, यह तो कह ? मैंने पाप किया और तूने उसका वैसा ही बुरा बदला (दण्ड) दिया, तो फिर मुझमें और तुझमें फ़र्क़ ही क्या रहा ? फ़र्मा तो सही ?

"सरमद गिला इख्तसार मी बायद कर्द,
यक कार अज़ीं दोकार मी बायद कर्द,
या तन ब-रज़ाये-यार मी बायद दाद,
या क़तअ-नज़र ज़े यार मी बायद कर्द ।"

—सरमद ! (प्रेम-पन्थमें पड़कर) झींकना मत झींको । इन दो कामोंमें से एक काम करो । या तो यार (प्रेमास्पद)की इच्छापर तनको वार दो, या फिर उससे दृष्टि हटा लो—उसका ख्याल ही छोड़ दो । यारीका दम भी भरो, और जी भी चुराओ ! दोनों बातें एक साथ नहीं निभ सकतीं ।

"ता नेस्त न गरदी रहे-हस्तत न दिहन्द,
ईं मर्तबा बा-हिम्मते-पस्तत न दिहन्द;
चूँ शमा क़रारे-सोख्तन् ता न दिही,
सर रिश्तए-रोशनी बदस्तत न दिहन्द।"

—जब तक तू मिट न जायेगा, तुझे शाश्वत पद न मिलेगा, यह पद कृपण—(पस्त-हिम्मत) पुरुष नहीं पा सकता। मोमबत्तीकी तरह जब तक जलनेका इक़रार न करेगा, तब तक तुझे प्रकाशका सूत्र (आत्म-ज्योतिः) न दिया जायेगा!

"सरमद ग़मे-इश्क़ बुल्-हवसरा न दिहन्द,
सोज़े दिले-परवाना मगसरा न दिहन्द,
उमरे-बायद कि यार आयद ब किनार;
ईं दौलते-सरमद हमा कसरा न दिहन्द।"

—ऐ सरमद! प्रेमकी चिन्ता—ग़मे-इश्क़—विषयीको नहीं दिया जाता—वह उसका पात्र नहीं होता। परवाने (पतंग)के दिलकी जलन मक्खीको नहीं मिलती, यारसे मिलनेको एक उम्र चाहिये—यह परम धन योंही हर-किसीको नहीं मिलता!

"सरमद नफ़्से बरी ज़ हस्ती न शुदी,
सरमस्त शराबे-हक़्परस्ती न शुदी;
बुत दर बग़लो इबादते हक़् हैहात्,
शरमिन्दा अज़ीं खु़दा-परस्ती न शुदी।"

—ऐ सरमद! तू एक क्षणके लिये भी अपनी हस्ती (पृथक्-सत्ता, अहंकार)से बरी होकर हक़परस्ती (ब्रह्म-भावना)की शराब-

से मस्त न हुआ! बुत (मूर्त्ति, अहं-भाव) तो बग़लमें है और इसपर ख़ुदापरस्तीका तुझे अभिमान है! अफ़सोस! इस ख़ुदा-परस्तीसे तुझे शरम नहीं आती! अर्थात् जबतक अपनी पृथक्-सत्ताका भान और अहं-भाव बना है, ब्रह्म-निष्ठ नहीं हो सकता।

ग़ालिबने भी इसी भावको इस शेरमें ज़ाहिर किया है—

"हर चन्द सुबुक-दस्त हुए बुतशिकनोमें,
हम हैं तो अभी राहमें है संगे-गरां और।"

—यानी हम बुतपरस्तीसे तो हाथ उठा बैठे, पर हम ख़ुद हैं तो यही (अहं-भाव) ब्रह्म-प्राप्तिके मार्गमें एक भारी पत्थर है।

"ऐ बेख़बर अज़ मानिए-ख़ुद हम चु किताब,
दर जिल्दे तो आयाते-इलाही ब हिजाब,
यानी ज़ तो हक़ पदीदो तू अज़ असरश,
आगाह नई चु शीशा अज़ बूए-गुलाब।"

—ऐ अज्ञानी जीव! तू पुस्तककी तरह मानी, अर्थ (अपने-स्वरूप)को नहीं जानता, तेरी जिल्दमें आयाते-इलाही (ब्रह्म-ऋचाएं) छिपी हैं, तेरी सत्ता ही ब्रह्मसत्ताकी परिचायक है—तू उसीका चिह्न है, पर तुझे अपने स्वरूपका बोध नहीं, जैसे शीशा (बोतल) अपने अन्दर भरे हुये गुलाबकी गन्ध को नहीं जानता।

"मुमकिन न बुवद कि यार आयद बकिनार,
ख़ुदरा अज़ ख़याले-ख़ामो अन्देशा बरार,
हर चीज़ कि ग़ैर ऊस्त दरसीनए तुस्त,
बिसयार हिजाबे स्त मियाने तो व यार।"

—जब तक तू बाह्य चिन्ताओं और मिथ्या-भावनाओंसे अपनेको मुक्त न करेगा, यार (प्रेमास्पद ब्रह्म) न मिलेगा। तेरे चित्तमें जो अनेक भिन्न-भावनाएं भरी हैं, यही तेरे और यारके बीचमें भारी परदा पड़ा है, यारसे मिलना है तो इसे बीचसे दूर कर।

"हरचन्द कि सद दोस्त बमन दुश्मन शुद
अज़ दोस्तीए-यके दिलम् एमन शुद।
वह्दत बगज़ीदेमो ज़् कसरत रस्तेम,
आख़िर मन अज़ो शुदमो ऊ अज़ मन शुद।"

—सैकड़ों मित्र थे जो मेरे शत्रु हो गये, पर उस एककी मित्रताके भरोसे मैं सन्तुष्ट और सुखी हूं। अनेकताको छोड़कर मैंने एकताको अपनाया है, परिमाण यह हुआ कि मैं 'वह' होगया और वह 'मैं' होगया, भेदभाव जाता रहा, दोनों एक होगये।

"सरमद तू हदीसे-काबा वो दैर मकुन,
दर कूचए-शक चू गुमरहां सैर मकुन,
हां शेवए-बन्दगी ज़े शैतां आमोज़,
यक क़िबला गज़ीं वो सिज्दए-ग़ैर मकुन।"

—सरमद! तू काबे और काशीकी बात मत कर—मन्दिर मस्जिद दोनोंकी चिन्ता छोड़, दुविधा और सन्देहमें मत भटकता फिर, ईश्वर-पूजाकी विधि शैतानसे सीख, बस एक हीको अपना पूज्य बना, दूसरेके सामने सिर न झुका।

एक-निष्ठ भक्तिका उपदेश कैसे अद्भुत उदाहरणसे दिया है, मुसलमान जिस* शैतानके नामपर 'ला हौल' पढ़कर कानोंपै हाथ रखते हैं, सरमद उसीकी एक-निष्ठताको आदर्श समझकर सराह रहा है!

ग़ालिबने भी दृढ़भक्तिकी प्रशंसामें प्रकारान्तरसे कहा है—

"वफ़ादारी बशर्ते उस्तवारी अस्ले-ईमां है,
मरे बुतख़ाने में तो काबे में गाड़ो बिरहमन को।"

---

* शैतान, पहले फ़रिश्तोंका उस्ताद था। बड़ा ज्ञानी और ईश्वरका अनन्यभक्त था। खुदाने जब चालीस दिनतक मिट्टी गूंदकर एक पुतला बनाया और उसमें रूह फूँककर "आदम" की रचना की तो सब फ़रिश्तोंसे कहा कि आदमको सिज्दा करो—सिर झुकाकर पूजा करो। सब फ़रिश्तोंने खुदाकी आज्ञासे आदमको सिज्दा किया, पर शैतानने जिसका पहला नाम अज़ाज़ील था, आदमके सामने सिर न झुकाया, खुदाका हुक्म न माना, कहा कि मैं एक ख़ुदाको छोड़कर किसी दूसरेकी पूजा कभी न करूंगा, फिर यह आदम तो मुझसे हर तरह हीन है; ज्ञानमें, उम्रमें, प्रकृतिमें, सब प्रकार छोटा और हेटा है; यह मिट्टीसे बना है, मेरी उत्पत्ति अग्नितत्त्वसे है, मैं फ़रिश्तोंका भी गुरु हूं, यह आजका अबोध बालक है। इत्यादि 'तुलनात्मक समालोचना' से ख़ुदाको निरुत्तर कर दिया, इसी 'अपराध' पर क्रुद्ध होकर खुदाने शाप देकर बेचारेको 'शैतान' बना दिया, फ़रिश्तोंकी पंक्तिसे पृथक् कर दिया, तभीसे 'शैतान' बाग़ी बनकर ख़ुदाके बन्दोंको बहकाता फिरता है—

इसी घटनाका उल्लेख 'ज़ौक़' ने इस शेरमें किया है—

"गया 'शैतान' मारा एक सिज्दे के न करने में,
अगर लाखों बरस सिज्दे में सर मारा तो क्या मारा।"

—यानी सच्ची श्रद्धासे—एकान्त भावनासे—मूर्तिपूजा (जो इसलामी मतमें घोर अपकर्म है!) करता हुआ ब्राह्मण यदि मन्दिरमें मर जाय तो वह इस सम्मानके योग्य है कि उसे काबेमें ले-जाकर गाड़ा जाय।

"ऐ ज़ाहिदे ख़ुद-फ़रोश हरगिज़ मग़रूर,
बायद न शवी कि ता न गरदी रंजूर;
गोयन्द तुरा ज़ाहिदो हस्ती फ़ासिक़,
बर-अक्स निहन्द नामे ज़ंगी काफ़ूर।"

—ऐ ज़ाहिद—(त्याग और तप करनेवाले) अभिमान मत कर—त्याग और तपका यह अभिमान कहीं तुझे शोकमें न डाल दे! तुझे कहते तो 'ज़ाहिद' हैं पर तू है निरा नास्तिक और पाखण्डी। तेरा ज़ाहिद नाम ऐसा ही है जैसे कोयलेके समान काले हबशीका नाम काफूर रख दें।

"शाहे-शाहानेम् ज़ाहिद! चूँ तो उरियाँ नेस्तम्,
शौक़ो-ज़ौक़े शोरशम् लेकिन परीशां नेस्तम्,
बुत-परस्तम् काफ़िरम् अज़ अहले-ईमां नेस्तम्,
सूए-मस्जिद मीरवम् अम्मा मुसलमां नेस्तम्।"

—ऐ ज़ाहिद! मैं बादशाहोंका बादशाह हूं, तेरी तरह नंगा-कृपण नहीं हूं, बुतपरस्त और काफ़िर हूं, ईमानवालों—मुसलमानोंमें नहीं हूं, यों मस्जिदकी तरफ़ भी मैं जा निकलता हूं, पर मुसलमान नहीं हूँ।

"दर गोशए-फुक्र सैरे-दरया करदम्,
अज़ बहरे-ख़ुद आराम मुहय्या करदम्;
हर नेको-बदे कि बीनद अज़ जा न रवद,
ईं वज़अ ज़ आईना तमाशा करदम् ।"

—फ़क़ीरीकी कुटियाके कोनेमें बैठकर संसारकी सैर करता हूँ और इसीमें सुख पाता हूँ, यह स्वरूप-निष्ठा और सम-दर्शिताका भाव मैंने दर्पणमें देखा, बुरा और भला जो सामने आता है, देखता है, पर(वह दर्पण) अपनी जगहसे नहीं हिलता—निर्लिप्त रहता है !

"अज़ नक्शे बर-आब हर चे गुफ़्तम् गुफ़्तम्,
व ज़ गोशे-हुबाब हरचे गुफ़्तम् गुफ़्तम्;
ईं आलमे-पीरी व ज़बानम् ख़ामोश,
अय्यामे-शबाब हरचे गुफ़्तम् गुफ़्तम् ।"

—मैंने जो कुछ कहा वह पानीके ऊपरकी लकीरें थीं, जिसे बुदबुदों (बुलबुले) के कानोंने सुना, अब बुढ़ापा आ गया, वाणी बन्द है, जवानीमें जो कुछ कह चुका, कह चुका !

"अज़ बहर चे हुब्बे-जाह बायद करदन्,
उम्रे-ख़ुदरा तबाह बायद करदन्;
मानिन्दे नगीं चे लाज़िमस्त अज़ पये नाम्,
जां कन्दनो रू सियाह बायद करदन् ।"

—प्रतिष्ठा-प्राप्तिकी लालसामें अपना जीवन नष्ट करना क्या उचित है ? नगीने (नाम-मुद्राके नग) की तरह नामकी ख़ातिर जान खपाकर मुँह काला करना क्या ज़रूरी है ?

यह भाव उर्दू के इन शेरोंमें भी है, और खूब है—

"नगीनेके सिवा कोई भी ऐसा काम करता है,
कि हो नाम औरका रोशन और अपनी रूसियाही हो।"

"नगींको क्या ग़रज़ है, और भला किस कामकी ख़ातिर।
जिगर अपना खुदाता है, फ़क़त एक नामकी ख़ातिर!"

"यारे ब गज़ीं कि बेवफ़ाई न कुनद,
दिलख़स्ता तुरा दर आशनाई न कुनद;
पैवस्ता दर आग़ोशे किनारत गरदद,
हरगिज़ ज़े तो यक गाम जुदाई न कुनद,

—उस यारको ढूँढ़ जो बेवफ़ाई न करे, मित्रतामें घात करके तेरा दिल न तोड़े, हमेशा तेरे पास रहे, और जो पल भरको भी तुझसे जुदा न हो।

"दुनिया-तलबांरा कि ग़मे दीनारस्त,
बे-महरिए-शां बयक दिगर बिसियार स्त,
अज़ अक़रबो-मार हेच अन्देशा मकुन,
ज़ीं क़ौम हज़र बकुन कि नेशो-ख़ार स्त।"

—ये दुनियापरस्त लोग, धनकी चिन्तामें मरते हैं—परस्पर कितना द्वेष-भाव रखते हैं, तू साँप और बिच्छुओंसे ज़रा मत डर, पर इन यार लोगों से बचा रह, ये निरे ज़हरीले डंक और काँटे हैं।

"यारां चे क़द्र राहे-दुरंगी दारन्द,
मसहफ़ ब बग़लो दीने फ़रंगी दारन्द;
पैवस्ता बहम चू मुहरहाए-शतरंज,
दर दिल हमा फ़िक्रे-ख़ानाजंगी दारन्द।"

—ये 'बन्धु' किस क़दर दुरंगी चाल चलते हैं, कुछ ठिकाना ! गलेमें तो क़ुरान लटकाये फिरते हैं और मत फिरंगियोंका रखते हैं—देखनेमें तो मुसलमान हैं, पर आचार-विचार और व्यवहारमें अंगरेज़ हैं, आपसमें मिले हुए हैं, पर शतरंजके मोहरोंकी तरह ख़ानाजंगीकी फ़िक्रमें हैं—एक दूसरेको मारनेकी घातमें हैं !

सरमद्की यह उक्ति आज-कल कुछ 'मुसलिम बन्धुओं'पर कितनी फ़िट हो रही है ! अफ़सोसके साथ, पर बार बार पढ़नेको जी चाहता है ! बस एक और—

"हर कस ज़ ख़ुदा दौलतोदीं मी तलबद्,
या सीमबरे-माहजबीं मी तलबद् ।
बेचारा दिलम् न आं व ईं मी तलबद्,
ख़्वाहाने-विसालस्तो हमीं मी तलबद् ।"

—हर कोई ईश्वरसे धन चाहता है, या धर्म, अथवा 'चन्द्र-मुखी, कनक-लता' मांगता है। मेरा ग़रीब दिल न यह चाहता है न वह मांगता है, सिर्फ़ उससे मिलनेकी ख़्वाहिश रखता है और यही मांगता है ।

'मीर' ने भी क्या ख़ूब कहा है—

"हर सुबह उठके तुझसे माँगूँ हूँ मैं तुझी को,
तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है ।"

गोसांईं तुलसीदासजीने भी क्या अच्छा कहा है :—

"अर्थ न धर्म्म न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
जन्म जन्म रति रामपद यह बरदान न आन ।।"

मौलाना आज़ाद

अरबी फ़ारसीके पारदर्शी विद्वान्, उर्दू कविताको नये नैचुरल साँचेमें ढालनेवाले, उर्दू साहित्यके आदर्श आचार्य और सुप्रसिद्ध कवि शमसुल्-उल्मा मौलाना मुहम्मदहुसेन आज़ाद जिस्मकी क़ैदसे आज़ाद होकर २२ जनवरी (सन् १९१० ई०) को स्वर्ग सिधार गये !!

आज़ाद एक अद्भुत प्रतिभाशाली कवि और लेखक थे। उनकी 'आबे-हयात'ने उर्दू भाषाको सचमुच 'आबे-हयात' पिलाकर अजर-अमर बना दिया है, जब तक उर्दू भाषा पृथ्वीपर है, आज़ादका नाम भी उसके साथ है,—

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥'

आज़ादके पाण्डित्य, प्रतिभा, कविताशक्ति और लेखनकौशलका पता उनकी प्रत्येक पोथीसे मिलता है । यहाँ इस ज़रा सी टिप्पनीमें उनका गुणगान करना एक छोटेसे बिन्दुमें समुद्र दिखलानेकी चेष्टा करना है ।

आज़ादमें एक ऐसा अपूर्व गुण था जो अन्य मुसलमान लेखकोंमें नहीं पाया जाता । वह सारग्राही और हृदयके उदार थे । उन्होंने अपनी पुस्तकोंमें जहाँ तहाँ संस्कृत भाषा और उसके कवियों-की तथा हिंदी-कविताकी खुले दिलसे प्रशंसा की है, अपने 'तारीख़-

उर्दू" वाले मज़मूनमें हिन्दू, पारसी और बौद्धमतावलम्बियोंका नाम इस आदरसे लिया है कि एक हिन्दू लेखक अपने दूसरे सहयोगी हिन्दू लेखकका भी नहीं लेता !

हज़रत आज़ाद एक अर्सेसे खलल दिमाग़में मुब्तला थे,जिसने उन्हें साहित्य-सेवासे बलात् पृथक् कर दिया था, परन्तु इस दशामें भी उनकी दिनचर्या निराली और नियमित थी, उसमें ज़रा भी फ़र्क़ न आने पाता था। अबसे कोई तीन वर्ष पहिले हमें लाहौर जानेका इत्तफ़ाक़ हुआ; इच्छा हुई कि मौलाना आज़ादके दर्शन करते चलें। अपने दो एक मित्रोंके साथ पूछते पूछते अकबरी-दर्वाजे, जहाँ मौलाना रहते थे पहुंचे, मालूम हुआ मकानपर नहीं हैं, कहीं गये हैं, दोबारा शामको फिर गये, तब भी न मिले। जहां हम ठहरे हुये थे वहाँसे वह जगह दो ढाई मील दूर थी, अगले दिन प्रातःकाल ही हमें लाहौरसे लौटना था, आज़ादके दरवाज़ेपर खड़े हुए हम यह सोच ही रहे थे कि क्या करें, उन्हें कैसे पावें, कि इतनेमें एक हिन्दू दूकानदार जो उनके मकानके नीचेकी दूकानमें बैठता था, आ के गया, और हमें देखकर पूछा कि किसकी तलाश है ?

हमने सब क़िस्सा सुनाया, उसने कहा कि आप बेवक्त आये, इस समय वह न मिलेंगे, फिर उसने उनकी अटूट दिनचर्या सुनाकर कहा कि कल दोपहरके समय बारह और एक बजेके दरम्यान आना। दर्शनोंकी उत्कट इच्छा थी, इसलिये चलना मुलतवी रक्खा और अगले दिन ठीक समयपर पहुंचे। उसी दूकानदारको साथ लेकर दहलीज़के अन्दर गये, देखा कि हज़रत आज़ाद हाथमें तसबीह

लिए चारपाईपर लेटे लेटे कुछ पढ़ रहे हैं (जप कर रहे हैं)। हमने दूरसे झुककर सलाम किया, देखते ही उठ खड़े हुए, और हमारे पास आकर कुछ घबराहटके स्वरमें बोले—'आप कौन हैं? कहांसे आये हैं? मुझसे क्या चाहते हैं'?—मैंने कहा 'हम लोगोंने आपकी किताबोंसे बहुत फ़ायदा उठाया है, सिर्फ़ आपकी ज़ियारतके लिये हाज़िर हुए हैं, और कुछ नहीं चाहते'। आंख मींचकर और ऊपर को हाथ उठाकर फ़र्माने लगे—मैंने तो कोई किताब नहीं लिखी, कभी किसीने लिखी होगी, मैं नहीं जानता'—आज़ादको उस दशामें देखकर जी भर आया, सोचा कि क्या सचमुच 'आबेहयात' 'नैरंगे-ख़याल'के लिखनेवाले आज़ाद यही हैं? जी चाहता था कि इनके पास बैठें और कुछ सुनें, क्योंकि हमने सुना था कि आज़ाद अब भी जब कभी मौजमें आते हैं तो अद्भुत बातें और कविता सुनाते हैं, परन्तु यह वक्त उनके आरामका था; ज़्यादह तकलीफ़ देना मुनासिब न समझकर अतृप्त चित्तसे हम लौटे। चलते समय हमारे लिये दोनों हाथ उठाकर आज़ादने दुआ पढ़नी प्रारम्भ की, और जब तक हम उन्हें दीखते रहे, वह बराबर उसी प्रकार पढ़ते रहे।

आज़ाद ठिगने क़दके, पतले दुबले आदमी थे, उर्दू के महाकवि ज़ौक़के प्रधान शिष्य और दिल्लीके रहनेवाले थे, लाहौरमें मुद्दत तक गवर्नमेंट कालिजमें अरबीके प्रोफ़ेसर रहे, और आख़िर दम तक वहीं रहे। लाहौरमें उनके सुयोग्य पुत्र सदरआला या सबजज हैं। अफ़सोस उर्दू में आज़ादकी गद्दीको सँभालनेवाला अब कोई

नहीं दीखता, उनके साथी मौलाना हालीके पीछे टकसाली उर्दू लिखनेवाले पुराने शाइरोंका बस ख़ातमा हो जायगा, अब ऐसे बाकमाल कहां पैदा होते हैं। 'हक़ मग़फ़रत करे अजब आज़ाद मर्द था।'

कविताके सम्बन्धमें 'आज़ादके' विचार

यूनानके फ़िलासफरोंका कथन है कि दुनियामें दो चीज़ें अत्यन्त अद्भुत और आश्चर्यजनक हैं। एक मनुष्यकी नाड़ी, जो बिना बोले अन्दरका हाल बयान करती है, दूसरी कविता, कि उन्हीं शब्दोंको आगे पीछे कर देनेसे वाक्यमें एक चमत्कार—जो हृदयपर नया प्रभाव डालता है, आ जाता है। प्रायः पुस्तकोंमें कविताका अर्थ सानुप्रास पद्यरचना—(कलामे-मौज़ूं और मुक़फ़्फ़ा)—लिखा है, पर वास्तवमें चाहिये कि वह चमत्कृत और प्रभावोत्पादक (मवस्सर) भी हो, ऐसा कि मज़मून उसका सुनने वालेके दिलपर असर करे। यदि कोई वाक्य छन्दोबद्ध (मौज़ूं) तो हो पर चमत्कारसे शून्य हो तो वह एक ऐसा खाना है कि जिसमें कोई स्वाद (मज़ा) नहीं, न खट्टा, न मीठा; जैसा यह शेर किसी उस्तादका है—

'दन्दाने-तो जुम्ला दर दहानन्द,
चश्मान तो ज़ेरे-अब्रुवानन्द।'

अर्थात् तेरे सब दांत मुँहके अन्दर हैं, और तेरी आंखें भँवोंके नीचे हैं *

* 'जाति' या 'स्वभावोक्ति' अलंकारके निरूपणमें काव्य-प्रकाशकी

जब आदमीके दिलमें क़ूवते-गोयई (विवक्षा या वक्तृत्व-शक्ति) और मज़मून (प्रतिपाद्य विषय) का जोश, जमा होते हैं तो तबीयतसे ख़ुद ब-ख़ुद कलामे-मौज़ूं (पद्यकी तराज़ूमें जँचा-तुला वाक्य) पैदा हो जाता है। ज़ाहिर है कि जिस क़दर ऐसी क़ूवत (शक्ति) और उस क़ूवतका जोश ख़रोश ज़्यादा होगा उसी क़दर कलाम पुर-तासीर (प्रभावोत्पादक) होगा।

पृथिवीपर पहला ग़म (शोक) 'हाबील' का था कि 'क़ाबील' के कारण हज़रत 'आदम' के दिलपर पैदा हुआ, * उसे शोका-

---

एक टीकामें लिखा है कि किसी पदार्थके सिर्फ स्वभावका वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं कहला सकता, उसमें कुछ चमत्कार भी हो, जैसा कि इन नीचेके पद्योंमें स्वभाव-वर्णन तो है, पर चमत्कार नहीं, इसलिये इनपर "स्वभावोक्ति" नहीं घटती—

(१) 'गोरपत्यो बलीवर्दो घासमत्ति मुखेन सः ।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ॥'

(२) 'दीर्घपुच्छश्चतुष्पादः ककुद्मान् लम्बकम्बलः ।'
गोरपत्यो बलीवर्दस्तृणमत्ति मुखेन सः ॥'

* बाबा 'आदम' के एक लड़केका नाम 'हाबील' था, दूसरेका 'क़ाबील' दूसरे दुष्टने पहले बेचारेको जानसे मार डाला, कहते हैं कि इस दुर्घटनापर बाबा आदमके शोकसन्तप्त हृदयसे अनायास जो उद्गार निकला, वही करुण वाक्य कविताका 'बाबा-आदम' बना। ईसाई और मुसलमानोंके मतमें मनुष्य-सृष्टिके आदि प्रजापति 'बाबा आदम' माने गये हैं, उन्हींसे मनुष्य-सृष्टि हुई और उन्हींका वह वाक्य-बिन्दु कविता-नदीके प्रवाहका कारण बना। फ़ारसीके प्रायः कवियोंने आदमकी इस घटनाका उल्लेख किया है और इसके

धिक्यका परिणाम समझना चाहिए कि यद्यपि उस समयतक कविताका नाम भी कोई नहीं जानता था, पर शोकावेशमें जो वाक्य उनकी (आदमकी) वाणीसे निकला; वह पद्यमयी-कविता थी। निदान वह कविता 'सुरयानी' भाषामें अबतक मौजूद है। बस जब कि कलामे-मौज़ूं-(पद्य,कविता)की जड़ बाबा आदमसे हुई तो उसको (आदमकी) सुयोग्य सन्तान आदमीका 'मौज़ूंतबा' होना बापकी मीराससे है।

आधारपर अपनेको आदि-कवि आदमका सपूत-उत्तराधिकारी सिद्ध किया है। मिर्ज़ा 'सायब' कहते हैं:—

"अ कि अव्वल् शेर गुफ्त आदम शफ़ीअल्ला बुवद्।
तबा मौज़ूं हुज्जते-फ़रज़न्दिए-आदम् बुवद्।"

यानी जिसने, अव्वल शेर कहा, वह ईश्वरका प्यारा 'आदम' था, इसलिये 'आदमी' का मौज़ूँतबा (कवि) होना, आदमकी सन्तान होनेकी दलील है।

'अमीर ख़ुसरो' फ़र्माते हैं—

"मा हमा दरअस्ल शाइरज़ादा एम्।
दिल् बईं महनत् न अज़ ख़ुद दादा एम्।"

अर्थात् मैं वास्तवमें कवि—आदिम कवि—आदमकी सन्तान हूं, मैं स्वयं इस कविताके चक्करमें नहीं पड़ गया हूं। कविता, आदमी (आदम-की सन्तान) को 'आदम' से विरासत—उत्तराधिकारमें—मिली है।

आश्चर्यजनक साम्य है! संस्कृतवाले भी एक ऐसी ही करुणा-जनक घटनाको कविताके आदि प्रादुर्भावका कारण मानते हैं:—

वनमें व्याधके बाणसे बिंधा क्रौंच पक्षी पड़ा तड़प रहा था। बाबा वाल्मीकि उस मार्गसे आ निकले, देखकर करुण रसका स्रोत कविताके रूपमें बह निकला। कालिदासके शब्दोंमें—

इसमें सन्देह नहीं कि आदमी और हैवान (पशु) में क़ूवते-गोयायी-भाषण-शक्ति या भाषाहीका भेद है, इस कारण मनुष्यशक्ति-क़ूवते इन्सानी—भी उसीमें शामिल समझनी चाहिये

'निषाद-विद्धाण्डज-दर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।'

कारुणिक मुनिका 'शोक' 'श्लोक' में परिणत हो गया, अचानक उनकी वाणीसे यह 'प्रथम पद्य' निकला—

'मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमबधीः काममोहितम्॥'

यही पद्य रामायणकी रचना और कविताके प्रादुर्भावका कारण माना जाता है, जैसा कि रामायणमें लिखा है।

महाकवि भवभूतिने कदाचित् इसी आधारपर कि करुण रसही कविताका जनक है, प्रकारान्तरसे केवल 'करुण' रसको ही मुख्य रस कहा है, दूसरे रसोंको इसी रसका 'विवर्त'-(विकार) मानाहै। भवभूति कहते हैं—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त-बुद्बुद-तरंग—मयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्'॥

अर्थात् एक 'करुण' रसही निमित्त-भेदसे शृंगारादि रसोंके रूपमें पृथक् पृथक् प्रतीत होता है,—शृंगारादि रस करुण रसके ही 'विवर्त' हैं जैसे भंवर, बुलबुले और तरंग, ये सब जलहीका विकार हैं, वायु, क्षोभ और आघातादिके कारण जलही आवर्त्त आदिका रूप धारण कर लेता है, वास्तवमें यह सब कुछ जल ही है, आवत आदि उसीका विवत—विकार—हैं, उससे पृथक् कुछ नहीं।

जिसमें 'क़ूवते-गोयाई' कामिल हो। पद्य, गद्यकी अपेक्षा तबीयत-पर ज़्यादा ज़ोर डालनेसे पैदा होता है, यही कारण है कि गद्यसे उसका प्रभाव बढ़कर होता है। कोई विषय (मज़मून), कोई भाव (मतलब), कोई विचार (ख़याल) जो आदमीके दिलमें आवे, या मुख़ातिब (श्रोता) को समझाना चाहे तो वाणी-द्वारा उस विकसित भावको शब्द-चित्रके रूपमें प्रकट करता है, इस-कारण कवि मानो एक 'चित्रकार' है; पर वह चित्रकार नहीं जो गधे, ऊंट, वृक्ष या पत्थरका चित्र काग़ज़पर खींचे, बल्कि वह ऐसा चित्र-कार है कि भावका चित्र हृदय-पटलपर खींचता है, और प्रायः अपने कवित्वके चमत्कृत रंगसे-अपनी फ़साहतकी रंगीनींसे—प्रतिबिम्ब-(अक्स) को बिम्ब—(अस्ल) से भी सुन्दर बना देता है। वह चीज़ें जिनके चित्र चित्रकारकी लेखनीसे नहीं खिंच सकें, यह वाणीसे खींच देता है। यह चित्र ऐसे चिरस्थायी होते हैं कि हज़ारों सफ़ेद काग़ज़ भीगकर गल-सड़ गये, नष्ट हो गये, पर सैकड़ों वर्षसे आजतक उनकी तसवीरें वैसी की वैसी ही बनी हैं! कभी ग़मकी तसवीर दिलके काग़ज़पर खींचता है, कभी ख़ुशीके मज़मूनसे तबीयतको गुलज़ार करता है, कमाल है कि जब चाहता है हँसा देता है, जब चाहता है रुला देता है। अरबके निवासी लड़ाईके मौक़ोंपर जोशीली कविता गाते थे, भारत-वर्षमें भी कभी राजाओंकी सेनामें शूर-वीर, रावत, भाट, वह वह कड़के (करखे) कवित्त कहते थे कि लोग जानें अपनी मौतके मुहमें झोंक देते थे; और अबतक यह हाल है कि जब सुने जाते

है, बदनपर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सिकन्दर-आज़म 'होमर' की किताब—वीररस-सम्बन्धी काव्य—को बराबर देखता था और सोनेमें भी उसे जुदा न करता था।

कवि यदि चाहे तो पदार्थके रूपको बदलकर बिलकुल नये रूपमें दिखा दे, पत्थरको बुला दे, रुला दे, पृथ्वीमें गड़े वृक्षोंको चला दे, स्थावरको जंगम कर दे, भूतको वर्तमान, वर्तमानको भविष्यत् कर दे, दूरको नज़दीक, ज़मीनको आसमान, मिट्टीको सोना, अँधेरेको उजाला कर दे। यदि विचारकर देखो 'अक्सीर' और 'पारस' इसीको कहना चाहिये, कि जिसे छू जाय, सोना हो जाय। ज़मीन और आसमान और दोनों जहान, शेर के दो मिस-रोंमें-पद्यके दो पदोंमें हैं, तराज़ू उसकी कविके हाथमें है, जिधर चाहे झुका दे!

पद्य (नज़्म) वास्तवमें फ़साहतकी फुलवारीकी एक फूली हुई लता है। जिस तरह फूलोंके रंग और सुगन्धसे आदमीका दिमाग़ तरो-ताज़ा होता है, शेर (कविता) से रूह (आत्मा) तरो-ताज़ा होती है, फूलोंकी गन्धसे दिमाग़ तरह तरहकी ख़ुशबू महसूस (अनुभव) करता है, किसीकी गन्ध तेज़ (उग्र) है, किसीकी बू मस्त है, किसी बू (गन्ध) में नफ़ासत और लताफ़त—सुकुमारता और मनोहरता—है, किसीमें सुहानापन है। इसी-तरह कविताके विषयों—शेरके मज़मूनों—का भी हाल है, जिस तरह फूलकी—कभी फुलवारीमें, कभी हारमें, कभी इत्र खिंचकर, कभी अर्क़में जाकर, कभी दूरसे, कभी पाससे, मुख्तलिफ़

कैफ़ियतें मालूम होती हैं, इसी तरह शाइरीके मज़मून मुख्तलिफ़ हालतों और मुख्तलिफ़ इबारतोंमें रंगा-रंगकी कैफ़ियतें ज़ाहिर करते हैं।

मनुष्यके शरीरके लिये आहार 'अमृत' है। अन्तरात्माकी तृप्तिके लिये भी कुछ आहार अपेक्षित है, कविता ही वह आहार है जिससे अन्तरात्मा तृप्त और उन्नत होती है। मनुष्यकी अन्तरात्माकी पवित्रता और महिमा तो स्वयं सिद्ध है कि वह उसी परम-ब्रह्मका अंश है—उसी आदित्यकी किरण है, उसी परम-प्रकाश ज्योतिःस्वरूपका उजाला है। बस इसीसे अन्तरात्माके इस आहार—रसमयी कविता—की पवित्रता और महनीयताका विचार करना चाहिये कि जिसके आस्वादनसे उस अन्तरात्माका भी कमल खिल जाता है वह कैसी उच्च कोटिकी होगी। कविका सम्बन्ध भी उस सर्वोच्च ब्रह्म-लोकसे है, वह भी एक विधाता है कि बिना किसी सहारे और सामग्रीके अपने जगत्‌की—काव्य-जगत्‌की—रचना करता है। *

वास्तवमें कविता पवित्रात्मा ज्योतिःस्वरूपके प्रकाशकी एक झलक है जो सहृदय कविके हृदयपर पड़ती है, इसीसे वह (कवि) देखनेको तो अपनी अँधेरी कुटियामें पड़ा रहता है, पर सारे संसारमें

---

* 'नामरूपात्मकं विश्वं यदिदं दृश्यते द्विधा।
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य प्रजापतिः॥'
अर्थात् नाम रूपात्मक दो प्रकारका जो यह जगत् दीखता है इसमें पहले—नामात्मक जगत्‌का वेधा-निर्माता- कवि है, और दूसरे—रूपात्मक जगत्—का स्रष्टा, ब्रह्मा है।

इस प्रकार विचरता और हकूमत करता है जैसे कोई अपने घरके आंगनमें फिरता है। पानीमें मछली और आगमें समन्दर (आगका कीड़ा) हो जाता है, हवामें पंछी बल्कि आसमानमें फ़रिश्तेकी तरह निकल जाता है, जहांके मज़मून चाहता है बेतकल्लुफ़ लेता है और अपने अख़्तियारसे उन्हें जैसे चाहता है बरतता है। अहोभाग्य उसके जिसे इस संसारका (कविता-संसारका) प्रभुत्व प्राप्त हो! कविता दिव्य विनोद-वाटिकाका फूल है, अलौकिक वाक्य-पुष्पोंकी गन्धहै, लेखनकलाके प्रकाशकी झलक है, ज्ञानका इत्र (पुष्पसार है, आत्मिकशक्तियोंका सार है शब्दार्थका 'सत्' है, अन्तरात्माके लिये 'अमृत' है; वह शोक और विषादकी धूलको दिलसे धोती है, चित्तकलिकाको विकसित करती है, विचारोंको ऊंचा उठाती है। हृदयको सन्तोष और शान्ति देती है। प्रतिभाको उड़ने पंख लगाती है, चिन्ताके गर्द-गुबारसे अन्तःकरणके वस्त्रको स्वच्छ रखती है। एकान्तमें मनोविनोद कराती है, एकमें अनेक और अनेकमें एकका तमाशा दिखाने, घर बैठे परदेशकी सैर करानेवाली दूरबीन और सैरबीन यही है। यद्यपि कवि सदा चिन्ताओं और उलझनोंमें डूबा और उलझा रहता है, पर एक सूक्ति (पद्य, शेर) कहकर जो आनन्द उसे प्राप्त होता है, वह सप्तद्वीप-विजयी सम्राट्को भी नहीं मिलता, कविताके रसास्वादनसे हृदयमें जो चमत्कारपूर्ण आनन्दका अनुभव होता है, उसका वर्णन लेखनी या वाणी द्वारा नहीं हो सकता, वह अनिर्वचनीय है, ब्रह्मानन्दके समान 'स्व-संवेद्य' है। इस अलौकिक रसानुभवसे कभी कभी जो दुःखप्रतीति (करुण रसके प्रकरणमें)—

होती है, सहृदयका हृदयही जानता है कि उसमें जो मज़ा है वह सैकड़ों खुशियोंसे बढ़कर है। खेद है कि सहृदयताकी प्राप्ति अपने वशकी बात नहीं, यह ईश्वरकी देन है, इसे ईश्वरने अपने ही हाथमें रक्खा है। सूफ़ी सरमदने कहा है—

'सरमद ग़मे-इश्क़ बुल्हवसरा न दिहन्द,
सोज़े-दिले-परवाना मगसरा न दिहन्द।
उम्रे बायद कि यार आयद बकिनार,
ईं दौलते-सरमद हमा कसरा न दिहन्द॥"

यानी—सरमद! इश्क़का ग़म (सच्चे प्रेमका रोग) विषयी पामर-जनोंके लिये नहींहै। सोज़ेदिल – दिलकी जलन—परवाने-(पतंग)-का ही हिस्सा है, गन्दी मक्खीका नहीं। एक उम्र चाहिये कि यारसे भेंट हो, यह 'दौलते-सरमद' (हमेशा रहने वाली दौलत) हर कस-नाकसको नहीं मिली!*

जनून (उन्माद) भी एक प्रकारसे कविताकी आवश्यक सामग्रियोंमें एक साधन है। कई फिलासफ़रोंका कथन है कि दीवाने (उन्मत्त) आशिक़ (प्रेमी) और कविके विचार बहुतसे अवस-रोंपर जा मिलते हैं। कविके लिये आवश्यक है कि वह सब-

---

* किसी संस्कृत कविने भी क्या कहा है—
'बहूनि नरशीर्षाणि लोमशानि बृहन्ति च।
नरग्रीवासु बद्धानि किञ्चित्तेषु सकर्णकम्॥'
—बहुतसे बड़े बड़े, लम्बे बालोंवाले आदमियोंके सिर गर्दनोंपर बंधे लटकते हैं, पर उनमें 'कानवाला' कोई ही होता है।

ओरसे मुंह मोड़कर और सब विचारोंको छोड़कर इसीमें तल्लीन और तन्मय होजाय, और ऐसी तन्मयता सिवाय मजनून (उन्मत्त) और प्रेमीके जो कि कविके सहधर्मी भाई हैं—दूसरेमें नहीं हो सकती। मजनूनको अपने जनूनसे और आशिक़को अपने माशूक़के सिवा दूसरेसे कुछ ग़रज़ नहीं, ईश्वर यह नेमत सबको नसीब करे।*

अकसर लोग ऐसे हैं कि जिस्मानी मेहनतसे मर-खपकर उन्होंने लिखना पढ़ना तो सीख लिया है पर कविताके रसास्वादसे वञ्चित हैं। यदि सारी उम्र भी गँवा दें तो भी एक चमत्कृत वाक्य उनकी ज़बानसे न निकले। कुछ ऐसे भी हैं कि उनसे पद्य पढ़ा भी नहीं जाता, पढ़ना तो दूर रहा उन्हें गद्य-पद्यमें अन्तर भी नहीं प्रतीत होता, यह ईश्वरका कोप है, परमात्मा इससे बचावे। कुछ कवि मज़मून तो अच्छा निकालते हैं पर ज़बान साफ़ नहीं—भाषापर अधिकार नहीं—कि फ़साहतसे बयान कर सकें, कुछ ऐसे है कि ज़बान उनकी साफ़ है—भाषापर अधिकार है—पर मज़मून ऊंचे दरजेका नहीं।

यह भी देखा जाता है कि मज़मूनकी सूझ-बूझ और प्रतिभाके विकासके लिये कुछ मौसम ख़ास हैं। वसन्त और वर्षा ऐसे समय ख़ास हैं कि कवि तो कवि साधारण हृदयमें भी एक उमंग उठती है, तबीयत 'ठोक पीटकर कविराज' बनाना चाहती है,

---

* अफ़सोस है कि यह 'दुआ' दुआकरनेवालेके हक़में क़बूल हो गई थी। हज़रत 'आज़ाद' को जनून हो गया था।

मौसमकी तरह वक्त और मुक़ाम भी कविताके लिये ख़ास हैं। एकान्त स्थान जहां तबीयत और ख्याल न बँटे-ऐसा स्थान चाहे घरका कोई कोना हो, या बाग़, जङ्गल या नदीका किनारा हो, जहां चित्तको एकाग्रता प्राप्त हो सके, सब कुछ भूलकर उसीमें तल्लीन हो सके।* रातका ऐसा समय जब सारी सृष्टि अपने

---

* इस मौक़े पर 'आज़ाद' की मसनवी 'शबेक़द्र' से इसी प्रसंगका कुछ भाग उद्धृत किये बिना कलम आगे नहीं चलता:—

"आलम है सोता बिस्तरे-राहतपै ख्वाबमें,
शाइर बजाये ख्वाब है पुर पेचो-ताबमें।
उसको न मुल्ककी है न है मालकी हवस,
दौलतको आरज़ू है न इक़बालकी हवस।
है अपने जौक़-शौक़में बैठा झुकाए सर,
और सरपै आधी रात इधर आधी है उधर।
फैलाए हाथ सूरते-उम्मीदवार है,
करता यही खुदासे दुआ बार बार है।
'या रब ! नहीं है दौलतो-ज़रकी दुआ मुझे,
है तुझसे इल्तजा तो यही इल्तजा मुझे।
मेरे सखुनको ख़ल्क़में तू कारगर करे,
वह बात दे ज़बाँपै कि दिलमें असर करे।'
और कोई शाइर ऐसा भी रोशन-दिमाग़ है,
इस वक़्त घरमें बैठा जलाए चिराग़ है।
डूबा हुआ है सरको गरेबाँमें डालके,
उड़ता मगर है खोले हुए पर ख़यालके।
जिस तरह बाज़ लाये कबूतरको मारकर,
यों लाता आसमाँसे है मज़मूं उतारकर।

अपने कामोंसे थककर सो जाती है, तब कवि अपने काममें तत्पर होता है, जब संसारमें चारों ओर सुनसान और सन्नाटा छा जाता है, तब उसकी तबीयतमें जोश और ख़रोश उठता है, ज्यों ज्यों रात ढलती जाती है, ख्याल ऊंचा होता जाता है और मज़मून पैरता जाता है। खासकर पिछली रात और आसन्न-प्रभातका सन्नाटा,† सब मीठी नींदमें चुपचाप पड़े सोते हैं, मन एकाग्र, बुद्धि विशुद्ध, वायु स्वच्छ, चित्तका कमल खिला है, प्रतिभासे उच्च विचार और वाणीसे प्रसन्न गम्भीर पदावली टपकती है।

लड़ जाता ज़हन है जो कभी और तौरसे,
फिर है ज़मींकी तैमें उतर जाता ग़ौरसे।
और व्हांके ज़र्रे-ज़र्रेको सब देखभालके,
लाता है साफ़ गौहरे-मज़मूं निकालके।
नुकता जो कोई एक भी उस आन मिल गया,
यों ख़ुश है जैसे तख्ते-सुलेमान मिल गया।
करता है उसको नक़्श फिर ऐसा क़रीनेपर,
जिस तरह कोई नक़्श बिठाये नगीनेपर।
और इस अँधेरी रातमें शाइर जो चोर है,
फिरता टटोलता हुआ मानिन्द कोर है।
मज़मूं उड़ा रहा किसी शेरो-ग़ज़लके है,
लाता मगर कुछ ऐसा लिफ़ाफ़ा बदलके है।
सुननेसे जिसके आंखमें सरसों सी फूल जाय,
देखे जो ख़ुद भी साहिबे-मज़मूं तो भूल जाय॥"

† ब्राह्म मुहूर्तकी इस महिमाका कालिदासने भी उल्लेख किया है—
'पश्चिमाद्‍ यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना'

कविको चाहिये कि उसका अन्तःकरण तत्त्वग्राही और संवेदना-शील हो, स्वच्छ जलप्रवाहकी तरह कि जो रंग उसमें पड़ जाता है, वही उसका रंग हो जाता है, और जिस चीज़ पर पड़े वैसा ही रङ्ग देता है। 'मायल' कविकी 'रुबायी' मुझे इस जगह याद आयी:—

'काबेमें भी हमने उसे जाते देखा,
और दैरमें नाक़ूस बजाते देखा,
शामिल है ब-हफ़्तादो-दो मिल्लत मायल
हर रंगमें पानी सा समाते देखा।'*

उसका अपनी ही तबीयतका असर होता है कि जो मज़-मून, हर्ष या शोकका, युद्धका या शृंगारका बांधता है, जितनी उसकी तबीयत उससे मुतास्सिर (प्रभावान्वित) होती है, उतना ही असर सुननेवालेके दिलपर होता है।

दुनियामें कुछ आदमी ऐसे हैं कि जब वह कविता सुनते हैं तो दिल बेक़रार और तबीयत बेअख़्तियार हो जाती है। सबब इसका यह है कि इनका दिल आईने (दर्पण) की तरह साफ़ और तबीयत असर पकड़नेवाली है। और कुछ ऐसे 'महापुरुष' भी हैं कि उनके सामने यदि चमत्कृत भावोंके सागरको गागरमें भरकर रख दें तो भी उन्हें ख़बर न हो, इसका कारण उनके अन्तःकरणकी कालिमा है, काले तवेपर सूर्यकी किरणें क्योंकर चमकें! भावुक

---

* दैरमें नाक़ूस=मन्दिरमें घण्टा।
हफ़्तादो दो मिल्लत=सत्तर दो बहत्तर फ़िरक़े।

सहृदयोंकी दृष्टिमें सूर्यका उदय और अस्त, दोनों सन्ध्याओंके दृश्य, हज़ारों वसन्त-विकासी उद्यानोंकी छटाका मनोहर दृश्य उपस्थित कर देते हैं, और हृदयहीन कलुषितान्तःकरण जनोंकी समझमें वह एक ख़रासकी चक्की या रहट है कि दिनरात चक्करमें चला जाता है !

गान-विद्याकी हृदयहारिता और पुष्पोंकी नयनानन्ददायिनी छटाका अकथनीय प्रबल प्रभाव प्रकट है, पर जो आंखें और कान नहीं रखते, वह बेचारे उस आनन्दसे वञ्चित हैं। इसी प्रकार जो अन्तःकरण भावना और सहृदयतासे शून्य हैं वह कविताके चमत्कारको क्योंकर समझें ! इससे बढ़कर यह कि कुछ ऐसे भी सज्जन हैं कि जिन्हें कवितासे एकदम वैर और द्वेष है और कारण इसका यह बतलाते हैं कि 'इससे (कवितासे) कुछ लाभ नहीं।' यदि लाभसे अभिप्राय यह है कि जिससे चार पैसे हाथ आयें, तो निःसन्देह कविता एक व्यर्थका व्यापार है, और इसमें सन्देह नहीं कि संसारी व्यापारियोंने आजकल कविताको एक ऐसीही दशामें डाल दिया है। तथापि कविता अर्थकारिणी हो सकती है। बहुतसे महात्मा कहते हैं कि कविता कुरुचि उत्पन्न करती है और गुमराह करती है। बेशक आजकलकी कविताका अधिकांश ऐसाही है, पर यह कविताका नहीं, कवियोंका अपराध है, कारीगरीका दुरुपयोग करनेवाले कारीगर बुरे हैं, करीगरी बुरी नहीं। शैतान सकल-गुणनिधान और फ़रिश्तोंका 'आदिगुरु' होकर भी 'गुमराह' हो गया तो क्या इससे वह विद्याएं जिनका शैतान आचार्य था, बुरी हो गईं ?

देव-गुरुका नाम धारण करनेवाले 'बृहस्पति' ने तर्कशास्त्रका उपयोग नास्तिकतावादमें किया तो क्या तर्क और दर्शन शास्त्र हेय हैं। सन्मार्गदर्शक महर्षि वाल्मीकि, भगवान् वेदव्यासजी और गोसाईं तुलसीदासजी भी तो कवि थे। यदि उद्धत कवियोंके दोषसे कवितामें कुछ दोष आ गये हैं तो उनका निराकरण होना चाहिये, कविताका निरादर नहीं।*

* अरबी फ़ारसीके विख्यात विद्वान्, उर्दूके प्रसिद्ध परमाचार्य, स्वर्गीय शम्सुल्-उलमा मौ० मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' के 'ख्यालाते-नज्म और कलामे-मौजूं के बाबमें'-शीर्षक निबन्धका कुछ परिवर्त्तित और परिवर्धित अनुवाद।

महाकवि अकबर

महाकवि अकबर इस युगके एक अलौकिक महापुरुष थे। उर्दू और हिन्दीमें ही नहीं, भारतकी दूसरी किसी भाषामें भी ऐसा क्रान्तदर्शी और क्रान्तिकारी कवि इधर बहुत समयसे नहीं हुआ। मुझे उनकी कविताका रंग और ढंग बहुत पसन्द रहा है। सबसे पहले कानपुरके 'ज़माने'में (जनवरी सन् १९०४ई०के पर्चेमें) मैंने उनकी यह कविता पढ़ी थी, जो खास 'ज़माने' ही के लिये लिखी गई थी—

"फ़लकके सामने क्या मज़हबी बहाना चले
चलेंगे हम भी उसी रुख जिधर ज़माना चले"।*

---

* इस ग़ज़लका एक शेर मेरे लिये मनोरंजक 'ऐतिहासिक घटना' हो गई है। एक दफा मैं देहादून गया हुआ था। शामके वक्त प्रोफेसर पूर्णसिंहजी (फ़ारेस्ट केमिस्ट) से मिलनेके लिये गया। वह न मिले, कुछ देर इन्तज़ार करके चला आया। बंगलेपर कोई आदमी भी न था, जिसे अपने आनेकी और निराश लौटनेकी सूचना दे आता। मैंने पेन्सिलसे काग़जके टुकड़ेपर यह शेर लिखा और कमरेके दरवाज़ेकी चिकमें रख दिया—

'नसीब हो न सकी दौलते-क़दम-बोसी;
अदबसे चूमके हज़रतका आस्ताना चले।'

घूम-फिरकर जब रातको सहृदय-शिरोमणि प्रो० पूर्णसिंहजी बंगले पर पहुंचे और उस पर्चेपर उनकी नज़र पड़ी, तो पढ़कर

महाकवि अकबर

यह पहली कविता ही नज़रपर चढ़कर दिलमें बैठ गई। मैं अकबरकी कविताके लिये बेताब रहने लगा, कहीं एक मिसरा भी उनका मिल जाता तो उसे नोट कर लेता, बार बार पढ़ता और जी न भरता। उनका 'दीवान' देखनेके दिल दीवाना रहने लगा। बड़ा आदमी समझकर अकबर-साहबको पत्र लिखकर कुछ पूछनेमें संकोच होता था। थोड़े ही दिनोंमें 'अकबर' की कविताकी धूम मच गई। कविताके प्रेमी सहृदय समाजने अकबर साहबको 'दीवान' (काव्यसंग्रह) प्रकाशित करनेके लिये मजबूर किया, और 'कुल्लियाते-अकबर'का पहला हिस्सा छपकर निकल गया। पत्रोंमें समालोचना पढ़कर मैंने 'कुल्लियाते-अकबर' का पहला हिस्सा मँगाया।

कविताका नशा

यह जून सन् १९११के प्रारम्भकी बात है। वह दिन अबतक याद है। अकबरका 'दीवान' पाकर दिले-दीवाना खुशीसे मस्ताना हो नाचने लगा। एक मुद्दतकी आरज़ू पूरी हुई थी, उस खुशीका

तड़प गये। मुझे प्रातःकाल ही वहांसे चल देना था। जहाँ ठहरा हुआ था, वह जगह उनके बंगलेसे दूर थी, इसलिये अपने ठहरनेके स्थानका उसमें पता न लिखा था। उसके बाद जब पूर्णसिंह-जी मिले, तो कहते थे—'उस शेरको पढ़कर मैं रातभर बेक़रार रहा; मज़े ले-लेकर बार-बार पढ़ता और झूमता था। एक कैफ़ियत तारी हो गई, तमाम रात नींद न आई। दिल चाहता था कि अभी चलकर मिलूं, पर मालूम न था आप कहां ठहरे हैं। आपने मुझे ग़ैरहाज़रीकी यह अच्छी सज़ा दी!—

बयान नहीं हो सकता ! मैं उन-दिनों ज्वालापुर महाविद्यालयमें था। दिनमें पढ़नेको फ़ुर्सत न मिली, 'भारतोदय' के संपादनमें और विद्यार्थियोंके पढ़ानेमें लगा रहा। दो एक मित्र भी बाहरसे आये हुये थे। मेरे पास ठहरे थे, उनसे छुट्टी न मिली। गरमीका बड़ा दिन पहाड़की तरह टलता न था—छिपता न था, रातको प्रतीक्षामें दिनकी स्थिति असह्य हो रही थी—दिन काटे न कटता था, रात आती न थी, उत्सुकता और बेचैनी बढ़ रही थी। ज्यों त्यों करके दिन मुँदा, रात आई। चाय पीकर लैम्प जलाया, किताब हाथमें उठाई,पढ़ने बैठा ही था कि आगन्तुक मित्रोंकी मण्डलीने आ घेरा-अजी रहने भी दो, इस गरमीमें पढ़ने बैठे हो ? किताब कहीं भागी जाती है, दिनमें पढ़ लेना। एक साहब उठे, लैम्प उठाकर दूर रख आये, दूसरे किताब छीनने लगे। वर्षोंके भूखेके आगेसे भले आदमियोंने परसा हुआ थाल उठा लिया ! उन्हें अपनी समुत्सुकता कैसे समझाता ! उनके दिलमें अपना दिल कैसे डालता ! बहुत कहा कि मैं अलहदा बैठकर पढ़ लूंगा, आप लोग आराम कीजिये, पर कौन सुनता था—वाह अच्छे पढ़नेवाले आये, हम यहाँ यों ही आये हैं ! क्या उकता गये हो ? हम क्या यहां बैठे रहेंगे ? ऐसा ही है तो हम प्रातःकाल चले जायेंगे, फिर पढ़ते रहना। अब पढ़ोगे, और हमसे बातें न करोगे ?—मैं मन-मनमें मनाने लगा—इस स्तोत्रका पाठ करने लगा—

'या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥'

भगवति देवि ! निद्रे ! कृपा करो, इन्हें लेकर सो जाओ, मेरा उद्धार करो। पर उन्हें नींद कहां ? एक बात खत्म नहीं होती थी कि दूसरीका सिलसिला छिड़ जाता था। राम-राम करते दस बजेके क़रीब नींदने मेरी पुकार सुनी, वह आई, और उनकी आँखों-में छा गई। मैं आहिस्तासे उठा और लैम्प लेकर अन्दर बरांडेमें जा बैठा। गरमी कुछ कम न थी, पसीनेपर-पसीने आ रहे थे, पंखा झलूं कि किताब पढ़ूं। पतंगे कमबख्त अलहदा नाकमें दम कर रहे थे; मानो सोनेवालोंने अपना चार्ज पतंगोंको दे दिया था। उनकी ड्यूटीपर यह आ डटे थे! झुंडके-झुण्ड पतंगे (परवाने) चिमनी-को दीवारपर सिर दे दे मार रहे थे, लौ से लिपटनेको जूझ रहे थे, मानो ज़बाने-हालसे अकबरके इस शेरका मतलब सुना रहे थे—

'फ़ानूसको परवानोंने देखा तो यह बोले;
क्यों हमको जलाते हो कि जलने नहीं देते !'

और इस न जल सकनेकी जलनको मुझपर उतार रहे थे। नहीं, शिक्षा दे रहे थे कि 'सच्ची लगन है तो हमारी तरह लिपट जाओ किताबसे, गरमीका ख़याल न करो, हमारी तरफ़ मत देखो।' आख़िर पढ़नेकी प्रबल इच्छा-शक्तिने इस विघ्नपर विजय पाई, मैं तन्मय होकर पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते समाधिसी हो गई, आँखें और पुस्तकके पृष्ठ खुले थे, बाक़ी इन्द्रियोंका व्यापार बन्द था। बड़े साइज़के २८२ पृष्ठसे ऊपरकी पुस्तक एक आसनसे लेटे-लेटे पढ़ गया। पढ़ता था और मस्तीका एक नशा सा चढ़ता जाता था, पेन्सिल हाथमें थी, चमत्कृत पद्योंपर चिह्न करता जाता था।

सारी पुस्तक रंग डाली, खांडकी रोटी जिधरसे तोड़ी, मीठी निकली। हृदयमें विविध भावोंका तूफ़ान-सा उठ रहा था, हृदयके प्रसुप्त—वासनान्तर्विलीन—भाव जागृत हो उठे, अपने बहुतसे अनुभव कविताके दर्पणमें प्रतिबिम्बित दिखाई देने लगे—ग़ालिबका यह मशहूर शेर उस समय अकबरकी कवितापर चरितार्थ हो रहा था,—

'देखना तक़रीरकी लज़्ज़त कि जो उसने कहा,
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिलमें है।'

कभी आह निकलती थी, तो कभी वाह। कभी रोता था, तो कभी हँसता था। एक अनिर्वचनीय दशा थी, जो लिखकर नहीं बताई जा सकती। आज इतने दिनों बाद इस समय उसकी स्मृति भी एक आनन्द दे रही है। पढ़ते-पढ़ते रात बीत गई, सूर्य निकल आया, पर मैं होशमें न आया। उसी मस्तीकी धुनमें पड़ा पढ़ता रहा। एक आवृत्ति हो गई, तो दूसरी शुरू कर दी। मैं किताबोंका कीड़ा हूं, जाड़े, गरमी और बरसातकी सैकड़ों रातें तल्लीनतासे पढ़ते पढ़ते योंही आंखोंमें निकल गई हैं, पर उस रात-का-सा ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द दो-चार बार ही कभी मिला होगा। ख़ैर, मित्र-मण्डली उठ बैठी, और उसने आकर मुझे उठा दिया—'सूर्य चढ़ आया और तुम्हें ख़बर न हुई। लैम्प तो बुझा दिया होता।' मजबूरी थी, कोई बहाना बाक़ी न रहा था। उठना ही पड़ा। दिनभर रातकी वह कैफ़ियत दिमाग़में चक्कर काटती रही, एक नशासा छाया रहा।

पत्र-व्यवहार

पहला हिस्सा पढ़कर मैंने अकबर साहबको खत लिखा और दरयाफ्त किया कि दूसरा हिस्सा कबतक निकलेगा। पहले हिस्सेकी कुछ थोड़ीसी डरते-डरते दाद भी दी, दूसरेके लिये इश्तियाक़का इज़हार किया—हलकासा तक़ाज़ा किया। उसके उत्तरमें १६ जून सन १६१२को अकबर साहबने खुद अपने क़लमसे मुख्तसिर-सा कार्ड लिखा, यह उनका पहला पत्र था—

"डियर सर, मुझको मसर्रत हुई कि आप मेरे नाचीज़ अशआरकी ऐसी क़द्रदानी फ़रमाते हैं। हिस्सा दोम छप रहा है। मतबेवाले निहायत सुस्तीसे काम करते हैं, क्या किया जाय। उम्मीद है, माह जुलाईमें किताबकी अशाअत हो जाय। आपका इस्मे-गरामी मुन्दर्ज-रजिस्टर कर लिया गया।

नियाज़मन्द—

अकबर हुसैन।"

मेरा नाम अकबर साहबके रजिस्टरमें लिख लिया गया! इसे अपनी खुश-क़िस्मती समझकर खुश हुआ। पत्र-व्यवहारका एक बहाना हाथ आ गया—

'ख़त लिखेंगे गरचे मतलब कुछ न हो,
हम तो आशिक़ हैं तुम्हारे नामके।'

दूसरा ख़त लिखा और ज़रा खुलकर लिखा; एकदम दर्जन-भर बातें पूछ डालीं। इस बीचमें दूसरा हिस्सा भी छप चुका

था। मेरे ख़तके जवाबमें अकबर-साहबने लिखा, यह दूसरा ख़त था,—

"डियर सर, हस्ब इरशाद एक-कापी हिस्से दोमकी वेल्यू-पेबिल इरसाल-ख़िदमत है। आपके ख़तके मज़ामीनने मुझको एक और ही आलममें पहुंचा दिया! आपने बहुत ज़्यादा क़द्रदानी की है, आपकी तबीयत बहुत बुलन्द और मानी-फ़हम मालूम होती है। मैं एक सख़्त मजबूरीसे इस वक़्त एक सफ़रमें जा रहा हूं, दो तीन दिन बाद आपके ख़तका जवाब लिखूंगा। ख़ातिर-जमा रखिए।"—

अकबरके दरबारसे 'सख़ुन-फ़हमी'का सार्टिफ़िकेट मिल गया। मुझे कलाम-अकबरके मुताल्लिक़ अपनी समझपर कुछ शक था, वह जाता रहा, समझा कि ठीक समझा हूं। अब कलामे-अकबरको और गहरी नज़रसे देखने लगा। काव्य-सागरकी तहमें ग़ोते लगा-लगाकर सूक्ति-रत्न निकलाने लगा। कई अनर्घ रत्न ऐसे अछूते हाथ लगे, जिनकी क़ीमत अभी जौहरियोंके बाज़ारमें कूती न गई थी; किसीकी नज़रपर न चढ़े थे। मैंने उन्हें आंका तो बहुत क़ीमती मालूम हुए। पर साथ ही शक हुआ, शायद मैं ग़लती पर हूं—परखमें भूल हुई हो, स्वयं रत्नोंके विधातासे—ख़ुदाए सख़ुनसे ही न पूछूँ कि इनका 'भाव' यही है, या और कुछ? कतिपय ऐसे ही पद्य-रत्नोंकी विवेचना लिखकर मैंने अकबर साहबके पास भेजी। अपनी जांचपर उनकी सम्मति सुनकर सन्तोष हुआ कि वही भाव है, जो

मैंने समझा था। इस प्रकार अपनी कविताका पारखी और प्रेमी भक्त जानकर अकबर-साहब मुझपर विशेष कृपा करने लगे। कृपा बढ़ते-बढ़ते यहाँतक बढ़ी कि अपने 'खास-अहबावमें' मेरा शुमार करने लगे। उन्हें मुझसे एक 'रूहानी-ताल्लुक़' (आत्मिक सम्बन्ध) हो गया। इस रूहानी ताल्लुक़का ज़िक्र उन्होंने अपने कई ख़तोंमें किया है। शुरू-शुरूमें मुझे उनसे पत्र-व्यवहारमें संकोच होता था। फ़सीह उर्दूमें मैं अपना मतलब शाइराना ढंगसे इस तरह अदा कर सकूंगा कि वह समझ जायँ, इसका मुझे विश्वास न होता था। मैं उर्दू-साहित्य पढ़ता तो बहुत था, पर लिखनेका मुझे इतना अभ्यास न था। कुछ उर्दूदां मित्रोंको उर्दूमें पत्र लिखनेके सिवा बहुत कम उर्दूमें लिखनेका मौक़ा पड़ता था। मैं सोचता था कि इतने बड़े शाइर और ज़बरदस्त इन्शापरदाज़—अहले-क़लम—को टूटी-फूटी उर्दूमें क्या लिखूं, लेकिन इसके सिवा कोई सूरत न थी। मैं जानता था कि वह हिन्दी नहीं जानते, मैंने हिम्मत करके उर्दू हीमें लिखा, और मुझे यह देखकर खुशी हुई कि अकबर-साहबको मेरी उर्दू पसन्द आई। यही नहीं, दाद देकर उन्होंने मेरा हौसला बढ़ाया। एक ख़तमें लिखा था—

"××× आपका अलताफ़नामा (कृपापत्र) इस वक्त पेशे-नज़र है। माशा-अल्ला! आप क्या जीती-जागती उर्दू लिखते हैं!"

दूसरे खतमें लिखते हैं—"× × पन्दरह दिनसे रोज़ इरादा करता हूं कि आपको ख़त लिखूँगा और कलको

फिर कलपर टालता हूं। बात यह है कि आपका इनायतनामा ऐसा है कि उसका जवाब दो हरफ़ोंमें देना सितम है। अव्वल तो आपकी क़ाबलियतकी दाद, मेरे बाज़ अहबाब (मित्र) आपकी तहरीर सुनकर फड़क गये ......।"

उस दिनसे मुझे विश्वास हो गया कि मैं उर्दूमें अपना मतलब अच्छी तरह अदा कर सकता हूं। जनाब अकबर और उनके बाज़ अहबाब, मेरी तहरीर सुनकर चाहे फड़क न भी गये हों, तो भी मेरा मतलब ज़रूर समझ गये। उर्दूके बहुतसे अहम्मन्य मुसलमान लेखक जो फ़सीह उर्दूका मालिक खुदको समझ बैठे हैं, और कहते हैं कि हिन्दू और वह भी हिन्दीदां हिन्दू, अच्छी उर्दू लिख ही नहीं सकते, यह बात ग़लत है। हिन्दूके, लिए उर्दू हव्वा नहीं है, मुसलमानोंके लिए हिन्दी भलेही हव्वा हो। कम-से कम अकबर साहब ऐसा नहीं समझते थे, वह एक हिन्दीदां हिन्दूकी उर्दूकी भी पसन्द आनेपर उदारतासे दाद देते थे। गुण-ग्राहकता अकबर साहबका असाधारण गुण था। उर्दूके सुलेखक 'ज़माना' सम्पादक श्रीयुत मुन्शी दयानारायण निगम (बी० ए०)-को आपने यह लिखकर दाद दी थी—

"आपका (निगम-साहबका) ख़त पढ़कर पहली ही जो बात ज़हनमें आई, वह यह थी—अज़ीज़ अज़ जान! यह उर्दू आपको किस तरह आ गई! आप कहेंगे, भला यह भी कोई बात है, जी हां यह एक बात है; और बड़ी बात है।—"

परिचयके प्रारम्भमें मुझे सन्देह था कि अकबरके दर-

बारसे पत्रोत्तर पानेका सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा, पर आगे चलकर नौबत यहांतक पहुंची कि यदि कभी मैं पत्र लिखनेमें देर करता था, तो उन्हें खुद तरद्दुद होता था, मेरा हाल दूसरोंसे पूछते थे। एक बार जब मेरा पत्र पहुँचनेमें विलम्ब हुआ, तो आपने श्रीयुत मित्रवर रामदास गौड़को पत्र लिखा। इत्तफ़ाक़से उसी वक्त मेरा पत्र भी पहुंच गया। आपने लिखा—

"× × × मेरे प्यारे पण्डित साहब! आपकी ख़ैरियत दर्याफ्त करनेको मैने बाबू रामदासको बनारस ख़त लिखा। आज अभी उसका जवाब आया, और उसीके साथ आपका ख़त भी आ पहुंचा। मुझको बड़ा ताज्जुब हुआ! सच है, दिलसे दिलको राह है. × × × आपकी मुहब्बतके मज़े लेता हूँ, अपनी ख़ैरियतसे महीनेमें दो एक बार मुत्तला किया कीजिये।"

मेरी माताजीके देहान्तका हाल उन्हें गौड़जीके पत्रसे मालूम हुआ, तो यह हमदर्दीका पत्र लिखा—

"आपकी वाल्दा-साहिबाके इन्तक़ालकी ख़बर सुनकर निहायत अफ़सोस हुआ। मां बड़ी नियामत होती हैं। तहे-दिलसे इस रन्जमें आपका हम-दर्द हूं। अपना हाल क्या लिखूं, दुनियासे दिल-बरदाश्ता, सफ़रे-आख़रतका मुन्तज़िर बैठा हूं, याराने-मुवाफ़िक़ कम मिलते हैं"

अपनी महायात्रासे कुछ दिनों पहले अपने आखिरी ख़तमें (६ अगस्त, सन् १९२१ ई० को) लिखा था—

"× × × अगरचे बहुत नातवां व अलील हूं, दुनियासे रुख़सतका वक्त है, लेकिन आपका इश्तियाक़ और आपको याद दिलमें है—आपकी ख़ैरियत बाबू रामदास साहबसे पूछी है।"

जब आपसे मुलाक़ात होती, तो बड़ी मुहब्बतसे मिलते थे। घन्टों बातें होती थीं, अपनी नई कविता सुनाते थे। सन् १९१२ में उनसे पत्र-व्यवहार द्वारा मेरा प्रथम परिचय हुआ था। कई बार मैंने प्रयाग जाकर उनके दर्शन भी किये। उत्तरोत्तर आत्मीयता तथा स्नेह बढ़ता ही गया।

अकबरकी क़दामत-पसन्दी

मुझे उनकी क़दामत-पसन्दी (अपनी प्राचीन संस्कृतिमें आस्था) बहुत पसन्द थी। इसपर अक्सर बातें होती थीं और बहुत मजे़की बातें होती थीं। अब याद आती है, तो दिल थामकर रह जाता हूं। एक-बारकी मुलाक़ातमें मुझसे पूछा—'तुमने अपने लड़केको क्या तालीम दिलाई है?' मैंने कहा—'संस्कृत पढ़ाई है।' सुनकर बहुत ही खुश हुए और उठकर मेरी पीठ ठोंकी। इसी सिलसिलेमें बातें करते करते कुछ सोचने लगे, मैं ताड़ गया कि इस प्रसंगको कोई सूक्ति सोच रहे हैं, जो इस वक्त याद नहीं आती। मैंने कहा आपका एक शेर है, इसीकी तलाश तो नहीं हो रही,—

'बदनमें रूह आ जाती है जब बे-गोरी रङ्गतके,
तो बे-इंग्लिश पढ़े रोटी भी मिल सकती है नेटिवको।'

सुनकर फड़क गये, और उठकर फिर मेरी पीठ थपकी। कहा—'शाबाश! मैं इसी शेरको सोच रहा था, जो ज़हनसे उतर गया था। आप कैसे समझ गये कि मैं इसीकी तलाशमें हूं? सचमुच इस वक्त आपको इलहाम हुआ है।' मैंने अर्ज़ की—इलहाम तो नहीं, पर मुझे आपका हर मौक़ेका चुना हुआ कलाम याद है; मैं समझा कि इसीकी तलाश है—यही इस मौक़ेके लिए मौज़ूं है।

धर्महीन शिक्षासे चिढ़

धर्म-हीन नवीन शिक्षासे उन्हें कुछ चिढ़-सी थी। उन्होंने नई तालीम और मग़रबी तहज़ीबपर अपने कलाममें जा-बजा बड़ी मज़ेदार चुटकियां ली हैं—

'नई तालीमको क्या वास्ता है आदमीयतसे,
जनाबे-डारविनको हज़रते-आदमसे क्या मतलब।'
'नई तहज़ीबमें भी मज़हबी तालीम शामिल है,
मगर यों ही कि गोया आबे-ज़मज़म मैमें दाख़िल है।'
'हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले-ज़ब्ती समझते हैं,
कि जिनको पढ़के लड़के बापको ख़ब्ती समझते हैं।'
'अतफ़ालमें बू आये क्या मा-बापके अतवारकी,
दूध डब्बेका पिया तालीम है सरकारकी।'
'तालीम जो दी जाती है हमें, वह क्या है फ़क़त बाज़ारी है,
जो अक़्ल सिखाई जाती है, वह क्या है फ़क़त सरकारी है।'
'ईमान बेचने पै हैं अब सब तुले हुए,
लेकिन ख़रीद हो जो अलीगढ़के भावसे।'

एक ख़तमें लिखते हैं—"××× तर्ज़-तालीमने लड़कोंको सत्यानासी कर रखा है। देखिये कब इसलाह होती है।"

एक बातका अफ़सोस है, जो कभी कम न होगा। उनका अनुरोध था कि मैं उनकी कवितापर व्याख्या और समालोचना लिखूं। मैंने उनसे निवेदन किया कि इस शर्तपर लिख सकता हूं कि आप अपनी अप्रकाशित कविताका प्रकाशनीय अंश मुझे लिखा दें। बोले—'बड़ी ख़ुशीसे, और किसीको तो नहीं, पर तुम्हें लिखा दूंगा। मगर यह तभी मुमकिन है कि जब १५-२० दिन तुम मेरे पास रहो, या फिर मैं उधर आ जाऊं। मैं सुनाता जाऊंगा, तुम्हें जो पसन्द आवे, नोट करते जाना।'—मैंने चाहा भी कि अभी लगे हाथों यह काम कर डालूं, पर मुझे कार्यवश जल्दी ही लौटना था ज़्यादा ठहर न सका। फिर जानेका वादा और इरादा करके चला आया, पर दुर्भाग्यसे फिर मौक़ा न मिला। उन्होंने कई बार याद भी दिलाई, इरादा भी करता रहा, अवसरकी प्रतीक्षामें रहा, पर ऐसे अच्छे कामके लिये अवसर किसी सौभाग्यशाली ही को मिलता है। समय आता है और चला जाता है। वह कब देखता है कि किसीका कोई काम बाक़ी है। समय किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता। इस घटनाको याद करता हूं तो

---

[1] आबे-ज़मज़म=मुसलमानोंके एक पवित्र कूपका पानी, जो काबेके पास है। मैमें=शराबमें। अतफ़ाल=बच्चे। अतवार=रंगढंग: आचार-व्यवहार।

इस अनुपम उपदेशकी यथार्थताके सामने सिर झुक जाता है, और दुःख होता है कि इसकी यथार्थताका अनुभव उसी समय क्यों न हुआ, तभी जमकर क्यों न बैठ गया।—

'श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्॥'

अकबरकी अमर रचनापर अपने विचार प्रकट करनेका विचार है। सम्भव है, यह विचार कार्यमें परिणत भी हो जाय— स्वर्गीय महाकविका अनुरोध और मेरा संकल्प पूरा हो जाय, पर जो बात रह गई, उसकी पूर्ति अब असम्भव है।

एक बार मैंने उन्हें पत्र लिखा कि 'कुल्लियाते-अकबर'का तीसरा हिस्सा जल्दी छपाइये। उसके उत्तरमें आपने लिखा—

"हिस्सा सोम (तृतीय) मुरत्तब (सम्पादित) तो हो गया, कोशिश की जायगी कि जल्द छप जाय, लेकिन जब मैं खुद मुरत्तब (सम्पादित) होकर आपके दिलमें छप गया हूं तो यह काफ़ी है। बातोंकी तो हद नहीं है—।"

फिर इसी बारेमें दूसरे ख़तके जवाबमें लिखते हैं—

"तीसरा हिस्सा ज़ेर-तरतीब है, और दुनिया ज़ेर-इन्क़लाब है। और मैं मरनेके क़रीब हूं, देखिए क्या होता है! दुनियांसे दिल सर्द है, सिर्फ़ आप ऐसे बामानी दोस्तोंकी याद आती है"—

ग़ालिबकी तरह आप भी जिन्दगीसे बेज़ार, थे। अक्सर ख़तों में अपनी बेजारी जाहिर करते रहते थे। एक ख़तमें लिखते हैं—

" ज़िन्दगीसे दिल बिलकुल उचाट है, मगर ज़िन्दगी मालूम नहीं, क्यों हनोज़ (अब तक) मुझको क़ैद किये हुए है।"—एक पत्रमें लिखते हैं—"न तबीयत सही, न दिलको मसर्रत (खुशी), मालूम नहीं, क्यों जी रहा हूं ? 'कहां रहूं कि मुझे भी मेरा पता न चले।"—एक पत्रके उत्तरमें लिखते हैं—

"आपके ख़तसे और आपकी यादसे रूह (आत्मा) को शगुफ्तगी (प्रसन्नता) होती है, और यों तो दुनियासे दिल-सर्द है, क़ूवते-हाफ़ज़ा (स्मरण-शक्ति) तबीयतपर बार (भार) है, बहर-हाल मुअम्माते-आफ़रीनश (सृष्टि-रहस्य-को पेचीदगियां और ज़हनका उनमें उलझा रहना एक दिलचस्प शग़ले-ज़िन्दगी है।"

एक दूसरे खतमें लिखते हैं—

"+++ आपके ख़तको आंखें ढूँढ़ती थीं, मुद्दतके बाद इनायतनामा आया; बहुत मसर्रत हुई, ख़ुदा करे आपके दर्शन भी मयस्सर हों, +++ आपकी क़ाबलियत और सुख़न-फ़हमीने मुझको आपका आशिक़ बना दिया है। मेरे लिए दुआ फ़रमाया कीजिए, अब बजुज़ यादे-ख़ुदा और ज़िक्रे-आख़िरतके कुछ जी नहीं चाहता, लेकिन इस रंगके सच्चे साथ नहीं मिलते। आप बहुत दूर हैं"।—

एक बार गरमियोंमें इधर—हरद्वार देहरादूनकी ओर—आनेका इरादा ज़ाहिर किया था। मैंने याद दिलाई, तो उत्त-रमें लिखते हैं—

(महाकवि अकबरके पत्रकी नागरीमें प्रति-लिपि)

इलाहाबाद, २२-१-१९१८ई०

" मेरे प्यारे पण्डित साहब ख़ुश रहिए तन्दुरुस्त रहिए,

आपके ख़तको आंखें ढूँढती थीं, मुद्दतके बाद इनायतनामा आया, बहुत मसर्रत हुई, ख़ुदा करे आपके दर्शन भी मयस्सर हों।

जब कलकत्तेसे आपने इलाहाबाद होकर सफ़र किया, मैं परताप-गढ़में था, आपका ख़त वहीं मिला, निहायत अफ़सोस हुआ, कुछ न समझ सका कि कहाँ जवाब लिखूँ।

अव्वल हिस्सा बिलकुल ख़त्म हो गया, पांचवाँ एडीशन छप रहा है, शायद इसी महीनेमें मिल जाय उस वक्त वह भेजा जायगा, दूसरे हिस्सेकी कुछ जिल्दें बाक़ी हैं उसकी एक कापी आपके दोस्तको रवाना हो रही है, तीसरा हिस्सा हिनोज़ मुरत्तब नहीं हुआ, ज़माने-के हालात और तबीयतकी नादुरुस्तीने बहुत कुछ अफ़सुर्दा रक्खा, बहरकैफ़ अब फ़िक्र कर रहा हूं ज़िन्दगी है और कोई अम्र माना न हुआ तो इन्शा-अल्ला सन् १८ में तबा होजायगा।

आपकी क़ाबलियत और सुख़नफ़हमीने मुझको आपका आशिक़ बना दिया है, मेरे लिए दुआ फ़रमाया कीजिए, अब बजुज़ यादे-ख़ुदा और ज़िक्रे आख़रतके कुछ जी नहीं चाहता, लेकिन इस रंगके सच्चे साथी नहीं मिलते, आप बहुत दूर हैं"

अकबर हुसेन

'अगर ज़िन्दगी बाक़ी है, तो आइन्दा मौसम गरमामें क़स्द (इरादा) देहरादूनका है। उस मौक़ेपर आपसे मुलाक़ात हो सकेगी। आपका दीदार मेरे लिये ग़िज़ाए-रूह (आत्मतृप्तिका साधन) है। बीमारी ओ नातवानीसे लाचार हूं, वर्ना आप-हीके इन्स्टीट्यूशनमें (ज्वालापुर-महाविद्यालयमें) धूनी रमाता।'—एक दूसरे पत्रमें लिखते हैं—

'क्या कहूँ, मुसलसिल नादुरुस्तीए-मिज़ाजसे बहुत मजबूर हूं, वर्ना अक्सर आपसे मिलता, हरदुवारहीमें धूनी रमाता।'—

अकबर और हिन्दी

अकबर साहब दिलके बड़े साफ़ और स्वभावके मिलन-सार थे। प्रयागमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका जो उत्सव श्रीयुत बाबू श्यामसुन्दरदासजीके सभापतित्वमें (सं० १९७३ में) हुआ था, उस अवसरपर बहुतसे हिन्दी-साहित्य-सेवियोंकी मुलाक़ात मैंने अकबर साहबसे कराई थी। जो मिला, वही तारीफ़ करता हुआ लौटा। प्रो० रामदासजी गौड़ और पं० श्रीधर पाठकजी भी पहली बार मेरे साथ अकबर साहबसे मिले थे। कुछ सज्जनोंने सम्मेलनके उत्सवमें पधारनेके लिये मेरे द्वारा अकबर साहबसे अनुरोध किया। अकबर साहब किसी सभा या सोसाइटीमें शरीक न होते थे। जब मैंने उनसे सम्मेलनमें पधारनेकी प्रार्थना की, तो कहने लगे कि—'बीमारी और कमज़ोरीके सबब मैं कहीं आता-जाता नहीं हूं। अक्सर दोस्त-अहबाब बुलाते रहते हैं, ज़िद करते हैं, पर मैं किसी जल्सेमें

शरीक नहीं होता। दिल चाहता है कि आपके जल्सेमें चलूं, लेकिन फिर और लोगोंको भी मौक़ा मिल जायगा कि मुझे जल्सेमें घसीट ले जाया करें, इसलिये माफ़ कीजिए।' मैंने कहा—'कहीं आप इसलिये पहलू तो नहीं बचाते कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके जल्सेमें शरीक होनेसे उर्दू के हिमायती नाराज़ हो जायँगे।'

फ़रमाने लगे—'यह बात नहीं, मैं तो हिन्दी सीखना चाहता हूं। मेरी ख़्वाहिश है कि कुछ दिन आपका साथ रहे तो हिन्दी पढ़ूं। मैं चाहता हूं कि अपने कलाममें हिन्दी अलफ़ाज़ ज़्यादातर इस्तेमाल करूं और यह तभी मुमकिन है जब कि आपसे हिन्दीदां दोस्त हिन्दी सिखा दें।"

मैंने कहा, अच्छा जाने दीजिये। यह बात है तो तशरीफ़ न ले चलिये, पर अपना कोई पैग़ाम तो दीजिये, जो वहां सुना दूं। आपने उसी वक़्त यह पैग़ाम (सन्देश) लिखकर दिया,—

'हो सकूं किस तरह हाज़िर है, मेरी सेहत ख़राब,
ख़ानए-तनमें मेरे बद-इन्तज़ामी क्यों न हो।
मेरी जानिबसे व लेकिन दिलको रखिये मुतमइन;
बुतका जो मद्दाह हो हिन्दीका हामी क्यों न हो!'

यह मेरे उस परिहास-सन्देहका उत्तर था। जब मैंने सम्मेलनमें अकबर साहबका यह सन्देश सुनाया; तो लोग ख़ूब हँसे। न आनेका बहाना और हिन्दीकी हिमायत किस शाइराना ढङ्गसे ज़ाहिर की है;—'बुतका जो मद्दाह हो हिन्दीका हामी क्यों न हो।'

हिंदी-संसारको अकबरके परिचय देनेका सौभाग्य सर्व-प्रथम मुझे ही प्राप्त है। जब मैंने अपने लेखोंमें अकबरके तथा दूसरे उर्दू-कवियोंके शेर उद्धृत करने प्रारम्भ किये; तो विशुद्ध पण्डिताऊ-हिंदीके पक्षपाती कई सज्जन बिगड़े थे। वह इस प्रथाको—'गङ्गाकी गैलमें मल्हारके गीत' बताते थे। मुझपर भाषाको भ्रष्ट करनेका दोष आरोपण करते थे; पर आगे चलकर यह प्रथा चल पड़ी। अब कि हिंदीवाले अकबरको समझने लगे; तो वह भी अपने लेखोंको उर्दू-कवियोंको सुन्दर सूक्तियोंसे सजाने लगे; और अब तो उर्दूकी लंबी लंबी कविताएं हिंदी-पत्रोंमें बराबर छपती हैं। यह एक आम बात हो गई है।

मेरे एक पत्रके उत्तरमें (जिसमें मैंने अपने हिंदी-लेखोंमें उनके पद्योंके उद्धरणका उल्लेख किया था) लिखते हैं—

××× "आपने मेरे नाचीज़ अशआरकी बड़ी क़द्र की, कि हिंदी तसनीफ़में उनको दाख़िल किया और इज़्ज़त-अफ़ज़ायी की; मैं चाहता हूं कि आइन्दा हिंदीके खूबसूरत और सुबुक (हलके) और मानी-खेज़ (भावपूर्ण) अलफ़ाज़को ज़्यादा-तर उर्दूमें दाखिल करूं। अफ़सोस है कि मैंने हिंदी नहीं पढ़ी; उम्मीद है कि कोई ज़ी-इल्म दोस्त मदद दे।"

एक बार जब मैं उनसे मिलने गया, तो 'आज़ाद' बिलग्रामीकी फ़ारसी किताब 'सर्वे-आज़ाद' दिखाकर बोले कि—'फ़ारसी कलामके साथ इसमें कुछ हिन्दी-कलाम भी है, जो समझ में नहीं आता, सही पढ़ा नहीं जाता। इसमेंसे हिन्दी कलाम

(कविता) कुछ सुनाइये तो।'—मैने सुनाया, उसका अर्थ भी समझाया। सुनकर बहुत खुश हुए और कहने लगे—

"आज हिन्दू-मुसलमान हिन्दी-उर्दू के लिये भी लड़ते हैं—दूसरी बातोंके सिवा ज़बानका सवाल भी लड़ाईका सबब बन रहा है, देखिये यह पहले मुसलमान लोग अरबी-फ़ारसी के आला-दरजेके शाइर होनेके बावजूद हिन्दीमें भी शाइरी करते थे! काश मुझे हिन्दी आती होती, तो मैं भी हिन्दी में कुछ लिखता।"—

मैंने कहा—'इतना तो आप अब भी कर सकते हैं कि हिन्दीके आमफ़हम अलफ़ाज़—(जिन्हें आजकलके उर्दू-लेखक बिला-वजह छोड़ते जा रहे हैं और उनकी जगह अरबी फ़ारसीके मुशकिल अलफ़ाज़ ढूंढ-ढूंढकर इस्तेमाल करते हैं)—अपने कलाममें कसरतसे दाखिल कीजिये, जिससे दूसरे भी तक़लीद करें, ज़बान और सलीस और आमफ़हम हो जाय।' इसपर फ़रमाया—

'मुनासिब तो यही है, पर अफ़सोस है कि मुझे हिन्दी नहीं आती, वर्ना मैं ज़रूर ऐसा करता। हिन्दी आ जाय तो आपके मशवरेपर अमल कर सकता हूं। कोई हिन्दीदाँ दोस्त इसमें मेरी इमदाद करें तो हो सकता है। आप मुझे हिन्दी सिखा दीजिये।"

कविताकी भाषा और भाव

दिल्ली और लखनऊकी ज़बानका ज़िक्र चला, तो आपने अपने यह शेर सुनाये और कहा—'अदाय-मतलबके लिये जो

लफ़्ज़ मुनासिब हो, वही ठीक है। इसमें तास्सुब या बेजा-तक़लीदको दख़ल न होना चाहिये—

'छोड़ देहली लखनऊसे भी न कुछ उम्मीद कर,
नज़्ममें भी बाज़े-आज़ादी की अब ताईद कर।
साफ़ है रोशन है और है साहिबे-सोज़ो गदाज़,
शाइरीमें बस ज़बाने-शमाकी तक़लीद कर!'

—शमाको ज़बानकी तरह शाइरीकी ज़बान भी साफ़ रोशन और दिलोंको गरमाने—पिघलानेवाली होनी चाहिए। शमाकी ज़बान 'मोमबत्तीका धागा—लौ' अर्थको (वस्तुको) चमकाने और प्रकाशित करनेवाली होती है। वह गरमी पैदा करके मोमबत्तीको पिघलाती भी है।

अपने ये लाजवाब शेर भी शाइरीके मुताल्लिक़ सुनाए।—:

'दिल छोड़कर ज़बानके पहलू पै आ पड़े,
हमलोग शाइरीसे बहुत दूर जा पड़े।'
'मानीको छोड़कर जो हों नाज़ुक-बयानियां,
वह शेर क्या है रङ्ग है लफ़्ज़ोंके ख़ूनका॥'
'मैं अपने आपमें इन शाइरोंमें फ़र्क़ करता हूं।
सखुन इनसे सँवरता है सखुनसे मैं सँवरता हूं॥'

—कविताके उद्देश और उपयोगिताकी क्या सुन्दर व्याख्या है!

—इन शेरोंमें शेरकी सच्ची तारीफ़ किस अच्छे ढंगसे बयान की है। वह कविता ही क्या जिसमें भारी शब्दाडम्बरके भारसे दब-कर अर्थ कुचल गया हो। वह शेर क्या है रंग है लफ़्ज़ोंके ख़ूनका'

—आजकलकी कविताका अधिकांश लफ्ज़ोंके खूनका रंग होता है !

कविताका उद्देश केवल मनोरञ्जन न होना चाहिए, जो कविता आदमीको सँवार दे—सुधार दे—विचारोंको उन्नत बनाकर परमार्थ-पथका पथिक बना दे, वही सच्ची कविता है। अकबरकी कविता ऐसी ही है।

'सखुन इनसे सँवरता है सखुनसे मैं सँवरता हूँ'—

अकबर साहबकी उस उक्तिमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है। वह अपनी कवितासे स्वयं तो सँवरते ही थे, दूसरोंको भी सँवारते थे। उनकी कविता उच्च भावोंको उभारनेवाली है, आत्मासाक्षात्कारका एक साधन है।

अकबरका अध्यात्मवाद

सर्वसाधारण कविता-प्रेमी अकबरकी कविताके व्यंग्य और बांकपनपर लट्टू हैं। निःसन्देह उनकी कवितामें यह गुण बहुत अधिक मात्रामें है, और लाजवाब है। किसी नये पुराने कविकी कविता इस गुणमें उसका मुक़ाबला नहीं कर सकती, पर अकबर साहबको अपनी कविताके जिस विशेष गुणपर गर्व था वह अध्यात्मवाद है। उन्होंने अपने एक ख़तमें लिखा था—

"××× मेरी तबीयत अब तसव्वफ़ और फ़िलसफ़ेकी तरफ़ ज़्यादा मायल है। दुनियाकी ज़िन्दगी निहायत बेहक़ीक़त नज़र आती है; फिर भी कभी तक़लीदी शाइरीपर क़ाफ़िये खींच ले जाते हैं। अर्बलिटररी ताल्लुक़ातसे भी दामन

बचाता हूं, ज़बर-दस्तीका सौदा रह गया है। सवादे-अदम पेशे-नज़र है—(परलोकका दृश्य दृष्टिके सामने है)—"

अकबर साहब पक्के वेदान्ती और सच्चे सूफ़ी थे। मैं उनके अध्यात्म-वादका प्रशंसक था। सूफ़ियाना कलामकी ज़्यादा दाद देता था, इससे खुश होते थे। एक बार आपने लिखा था—

'आपकी यादमें लिटरेरी ख़यालसे ज़्यादा एक रूहानी ख़याल पाता हूं। इस सबबसे आपसे मुरासलतमें-(पत्र-व्यवहारमें)-दम नहीं घबराता।'

एक बार मैंने उनके एक सूफ़ियाना-क़ितेकी लम्बा ख़त लिखकर दाद दी थी। उसके उत्तरमें लिखते हैं—

"× × × मुझको आज तक इसकी दाद नहीं मिली थी। दाद एक तरफ़, एक साहबने मुझसे फ़रमाया था कि 'मैं इस क़ितेके मानी नहीं समझा', वह साहब बहुत ज़ी-इल्म (विद्वान्) और खुद साहिबे-सुख़न (कवि) थे, मैं ख़ामोश हो रहा। खुदाने आपके लिये यह बात रक्खी थी कि इसका मतलब समझिये और दाद दीजिये। असल यह है क आप साहिबे-दिल हैं। आपने अपनी ज़बान और मज़-हबमें फ़िलसफ़ा पढ़ा है, और मज़ाक़े-तसव्वुफ़ और हक़्पर-स्ती आपमें पैदा हो गया है। खुदा जाने किसने-किसने किन-किन मवाक़े—(अवसर)-पर किन अशआरकी दाद दी, लेकिन यह तफ़सीली नज़र इस वज्द और लज्ज़तके साथ ग़ालिबन किसीने नहीं की। ज़्यादातर 'सोशल' और

'मारल' पहलूपर जो नई-पुरानी रोशनीके मुताल्लिक़ मेरे अशआरमें नुमायां है, अहबाबने नज़र की; (इस ग़ज़लके इस शेरकी) दाद अलबत्ता मौलवी शिबली साहब और हज़रत इक़बालने दी थी—

'किया अच्छा जिन्होंने दारपर मन्सूरको खींचा,
कि खुद मन्सूरको जीना था मुश्किल राज़दां होकर।'—

एक दफ़ा जब मैं अकबर साहबसे मिलने उनके मकान इशरत-मंज़िलमें गया, तो इत्तफ़ाक़से आपके बड़े साहबज़ादे जनाब इशरत-हुसैन डिपुटी-कलक्टर भी वहीं थे, वह किसी बड़े अफ़सरसे मिलने जा रहे थे। दूसरे कमरेमें पोशाक पहन रहे थे—कपड़े बदलनेकी तय्यारीमें थे। आपने उन्हें आवाज़ दी—'मियां इशरत-हुसैन इधर आओ।' वह आये तो उनसे मेरा परिचय कराया। कहा—'पण्डित साहबसे मुसाफ़ा (शेक-हैंड) करो; यह हमारे ख़ास दोस्त हैं।'—वह बड़ी नम्रतासे मिले, मुख्तसिरसी बातें कीं। जानेकी जल्दी थी, चले गये। अकबर साहब फ़रमाने लगे—

'पण्डित साहब, आप ज़मानेका रंग देखते हैं! मियां इशरत अपने ख्यालमें मस्त हैं। नई तहज़ीब, तालीम और सोहबतका असर है। बापसे बेटेका रंग नहीं मिलता। ख्यालातमें तफ़ावत है। यह अपनी नौकरीपर बाहर रहते हैं, मैं यहां तनहाईमें अकेला पड़ा रहता हूं। फिर भी ख़ुदाका हज़ार शुक्र है, मियां इशरत मेरे इस शेरको

पसन्द करते हैं, इससे समझता हूं कि साहबे-दिल हैं, आख़िर मेरे लड़के हैं—

'दुनियाके तग़य्युरका नहीं हिस, शैदाए-जमाले-बारीको,
परवानेको मतलब शमासे है, क्या काम है रंगे-महफ़िलसे।*

अपने गुणवान् विद्वान् और प्रतिष्ठित पदाधिकारी सुपुत्रमें उन्हें बस एक ही खूबी दिखाई दी, कि वह उनके एक सूफ़ियाना शेरको पसन्द करते हैं!

हज़रत इक़बालको वह बहुत मानते थे। परस्पर सौहार्द था, लेकिन जब 'इक़बाल'ने अपनी फ़ारसी मसनवीमें तसव्वफ़के खिलाफ़ ख्यालात ज़ाहिर किये, तो अकबर साहबको सख्त नागवार गुज़रा था। एक दिन इक़बालकी 'मसनवी' दिखाकर कहने लगे—देखिये तो इक़बालको क्या हो गया है! योरपमें जाकर बहक गये। ख्यालात ही बदल गये।'—इसका उन्हें मलाल था, इस बारेमें आपसमें दिलचस्प लिखा-पढ़ी भी हुई थी।

अकबरमें तास्सुब न था, पर अपने ख्यालके पक्के थे। जिससे विचार मिल जाते थे, उसे आत्मीय समझते थे। एक पत्रमें लिखते हैं—

'× + अगर्चे ज़ाहिरी इन्तज़ामे-फ़ितरतने मुझको आपको अलहदा-अलहदा हलक़ोंमें जगह दी है, लेकिन

---

* ईश्वरके अनन्य प्रेमीकी दृष्टि संसारके परिवर्तन पर नहीं पड़ती, अपने ही लक्ष्यपर रहता है। पतंगेका अपनी दीप-शिखासे मतलब है, महफिलके रंगसे—फ़र्नीचरकी सजावटसे—तसवीरों और पर्दोंसे—उसे क्या काम!

आप तो 'मेरे दिलके साथ हैं; और ऐसे बहुत कम हैं, और जो हैं, सब एक हैं।"

अकबर साहब बिलकुल सूफियाना ज़िन्दगी बसर करते थे-साधुओंकी तरह रहते थे। एक-बार गरमीके मौसममें मैं उनसे मिलने गया। सख्त गरमी थी, और वह भी इलाहाबादकी। फ़रश-पर बैठे थे। एक दस्ती-पंखा पास पड़ा था। मैं गरमीसे घबरा गया, पंखा उठाकर झलने लगा। मैंने कहा, आपने मकानमें पंखा नहीं लगवाया? फ़रमाने लगे—

'किसके लिये और किसलिये पंखा लगवाऊँ? इतने बड़े मकानमें अकेला हूँ। तबीयत घबराती है, बरदाश्त करता हूँ। ज़िन्दगीसे प्यार नहीं—'जब फ़क़त मरना ही बाक़ी है तो अच्छा क्यों रहूँ!'—अकसर अहबाब बिजलीका पंखा लगानेकी तहरीक करते हैं, मैं टाल जाता हूँ, नफ़्सको आराम पहुंचाना, सांपको दूध पिलाना है। जब कोई साहब मिलने आ जाते हैं, तो अलबत्ता ज़रूरत मालूम होती है, फिर ख्याल नहीं रहता।'

हाशमकी मौत

छोटे लड़के हाशमकी बेवक्त मौतके सदमेने उन्हें निढाल कर दिया था। और वैराग्य-भावको और दृढ़ कर दिया था।* हाशम बहुत ही होनहार और होशियार लड़का था। उसे ख़ुद

* हाशमकी जुदाईपर जो करुण कविता आपने लिखी थी; वह बड़ी ही हृदय-द्रावक है, दिली दर्दका दर्पण है; दिल थामकर देखिये :—

ही पढ़ाते थे, स्कूलमें न भेजा था। हाशमकी मौत पर जो सम-वेदनाका पत्र मैंने लिखा था, उसके जवाबमें लिखते हैं—

'अगरचे हवादसे-आलम (सांसारिक विपत्तियोंकी दुर्घटनाएँ) पेशे-नज़र रहते हैं और नसीहत हासिल किया करता हूँ, लेकिन हाशम मेरा पूरा क़ायम-मुक़ाम*तय्यार हो रहा था, औरमेरे तमाम दोस्तों और क़द्रअफ़ज़ाओंसे मुहब्बत रखता था।

"आग़ोशसे सिधारा मुझसे यह कहनेवाला,
'अब्बा! सुनाइए तो क्या आपने कहा है।'
अशआर हसरत-आगीं कहनेकी ताब किसको,
अब हर नज़र है नौहा हर सांस मरसिया है।"

× × ×

"नासहा! आख़िर मैं दिलकी पासदारी क्या करूं?
यह तो बतला करके तर्के-आहोज़ारी क्या करूँ?
वह चमन ही जल गया जिसमें लगाये थे शजर,
अब तुझे पाकर मैं ऐ बादे-बहारी! क्या करूँ।
जान ही का जिस्ममें रहना है मुझको नागवार,
दोस्तोंसे इद्दआए-दोस्तदारी क्या करूं।
यास है आँखोंके आगे हर नज़र है बर्के-दिल,
ऐसी सूरतमें इलाजे-बेक़रारी क्या करूं!
बज़्मे-इशरतमें बिठाना था जिसे वह उठ गया,
अब मैं ऐ:फ़रदा तेरी उम्मीदवारी क्या करूं।
कहते हैं अहबाब 'अकबर' काम कुछ दुनियामें कर,
हसरतो-इबरत मगर मुझपर है तारी क्या करूं?"

* क़ायम-मुक़ाम=प्रतिनिधि। कविता-सम्पत्तिका सच्चा उत्तराधिकारी।

उसकी जुदाईका नेचरल तौरपर बेहद क़लक़ हुआ है, और ज़रूरत थी कि आप ऐसे अह्ले-दिल व ज़ी-इल्म तस-कीन दें। आपका ममनून हूं कि आपने ताज़ियत— (शोक-समवेदना) का ख़त लिखा। मैं खुद आपको लिखनेवाला था, लेकिन लिख न सका था। कोशिश करता हूं कि क़ूवते-तबा इस ग़मपर ग़ालिब आए—"

राजनीतिक कविता

ख़ालिस पालटिक्सपर जो कुछ लिखते थे, उसे प्रकाशित न करते थे, हर किसीको सुनाते भी न थे, बहुत शंकित रहते थे। एक-बार मुझे एक शेर सुनाया, पर साथ ही हिदायत कर दी कि इसे अपनेतक ही महदूद रखिये। जब मैं रुख़सत होने लगा, तो उस हिदायतको फिर दोहराया। मैंने अर्ज़ की—इतमीनान फ़रमाइए, ऐसा ही होगा। मैं अभी गलीसे निकलकर कोतवालीके पास बाज़ारमें पहुंचा ही था कि पीछेसे मुन्शीने आवाज़ दी—'पण्डित-साहब, ज़रा ठहरिये। मैं रुका, मुन्शीजीने पास आकर आहिस्तासे कहा—'सैयद साहबने फ़रमाया है, उस शेरको अपने ही तक रखियेगा।' मैंने कहा—'सैयद साहबसे अर्ज़ कर दीजिये, ऐसा ही होगा। किसीको हर्गिज़ न सुनाऊँगा।'—अगले दिन जब मैं फिर मिला, तो मैंने पूछा कि आपको यह शक क्यों होता है ? उस शेरमें ऐसी तो कोई बात नहीं है, जिसे इस तरह छिपानेकी ज़रूरत हो। आख़िर आप इतना घबराते क्यों हैं ? फ़रमाने लगे—

'ज़मानेकी हालत बदली हुई है। जासूसी और चुगलखोरीका बाज़ार गर्म है। लोग समझते नहीं। बातको कहींसे कहीं पहुंचा देते हैं, तिलका ताड़ बना देते हैं ; इससे परेशान हूँ ।'

लार्ड कर्ज़नने जो कनवोकेशनवाली अपनी मशहूर स्पीचमें हिन्दुस्तानियोंको झूठा कहा था, उसपर अकबर साहबने बड़ी मीठी चुटकीली थी—"झूठे हैं हम तो आप हैं झूठोंके बादशाह।"—इस कविताको कुल्लियाते-अकबरमें न देखकर मैंने उनसे पूछा कि यह नज़्म कैसे छूट गई, कुल्लियातमें क्यों नहीं आई ?—इसपर आपने लिखा था—

"× × कर्ज़नपर रीमार्क, यह नज़्म ग़लत तौरपर मुझसे मनसूब हुई है, सिलसिले-तक़रीरमें मेरे बयानसे लखनऊमें किसीने कोई बात अख़ज़ करके मौज़ूँ कर दिया था। मुझे खबर नहीं।'

पर दरअसल यह नज़्म आपहीकी थी। दूसरा कोई इस रंगमें लिख ही नहीं सकता था। 'खुमख़ानए-जावेद' में यह आपहीके नामसे छपी भी है। इस रहस्य-गोपनका कारण था, जिसका आभास उनके इस पत्रमें मिलता है। कुल्लियाते-अकबरका तीसरा हिस्सा छपनेको था। उसके प्रकाशनमें बहुत विलम्ब होता देखकर मैंने पूछा कि देर क्यों हो रही है ? उत्तरमें आपने लिखा था—

'× × × हिस्सा सोयम तय्यार है, उसकी अशाअत सिर्फ़ इस सबबसे नहीं हुई कि इन रोज़ों बदगुमानियोंका बाज़ार

गर्म है, अशआरकी यह हालत है कि जो मानी चाहिये, पिन्हा लीजिये, फिर अगर इस्तफ़सार (पूछ-ताछ) हो तो तौज़ीहका मौक़ा भी होता है। बिला इस्तफ़सार बदगुमानियां पैदा कर दी जाती हैं; और खुद हमारे इब्नाये-जिन्स(अपने ही भाई) ग़ज़ब ढाते हैं। इस शशो-पंजमें मुब्तला हूँ; बल्कि अफ़सोस होता है कि ज़हनको फ़ितरतने (प्रकृतिने) यह क़ूवत-(कवित्व-शक्ति) क्यों दी है---× × ×'

राजनीति-विषयक आपकी बहुतसी उत्कृष्ट कविताएँ अप्रकाशित ही रह गईं। आशा भी नहीं है कि वह अब कभी प्रकाशित हो सकेंगी। अफ़सोस है, उस अद्भुत कवितासे सहृदय-समाज वञ्चित रहा! क्या-क्या अपूर्व रत्न होंगे, जो कहीं कोनेमें छिपे पड़े हैं! वह राष्ट्रकी सम्पत्ति है और बहुमूल्य सम्पत्ति है। क्या उसके उद्धारका कोई उपाय है? शायद नहीं है!

पहली मुलाक़ातकी एक बात

अकबर साहब मान-मर्यादा और पद-प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे बहुत बड़े आदमी थे। जजके ओहदेसे रिटायर हुए थे। अंग्रेजीके विद्वान् थे। अंग्रेज़ी सभ्यताके सब रंग देख चुके थे, पर रहन-सहन और आचार-व्यवहारमें पक्के स्वदेशी थे। अपनी संस्कृतिके उपासक और प्राचीनताके परम प्रेमी थे। स्वभावके सरल और मिलनसार थे। सबसे पहली मुलाक़ातकी एक बात अक्सर याद आ जाती है। पत्र-व्यवहार तो बहुत दिनोंसे चल रहा था। दोनों ओरसे मुलाक़ातकी तमन्नाका इज़हार होता आ रहा था, पर उससे पहले

मिलनेका मौक़ा न मिला था। कलकत्तेसे लौटता हुआ मैं मिलनेकी ग़रज़से ८ मार्च सन् १९१५ ई० को प्रयाग उतरा। एक जगह असबाब रखकर सीधा इशरत-मंज़िल पहुँचा। पहलेसे कोई सूचना नहीं दी थी। गया और सलाम करके कुछ फ़ासलेपर पड़ी हुई सामनेकी एक कुरसीपर अदबसे बैठ गया। अकबर साहब उस वक्त एक सज्जनसे बातें कर रहे थे। थोड़ी देर बाद नज़र मिली, तो पूछा—'कहांसे आप तशरीफ़ लाये ?' मैंने नाम बताया, तो बड़ी उत्सुकतासे उठे और मेरी ओर बढ़े, मैं खड़ा हो गया। पास आकर बड़े प्रेमसे मुसकराते हुए बोले—'माफ़ कीजिये, मालूम न था, आप हैं। पण्डित साहब ! कुछ हर्ज तो न होगा—आपको नागवार तो न गुज़रेगा—मैं बग़लगीर होकर मिल लूँ ?' मैंने झुककर कहा—'ज़हे-क़िस्मत, बग़ल-गीरी क्या क़दम-बोसी भी हासिल हो जाय तो मुराद पा जाऊँ।' फिर बड़े प्रेमसे गले मिले, और देरतक खूब खुलकर बेतकल्लुफ़ीसे बातें करते रहे। जब मैं रुख़सत होने लगा, तो कहने लगे—'इतनी जल्दी; आपका असबाब कहां है ? यह न होगा। आपको यहीं क़याम करना होगा। तशरीफ़ रखिए। अभी आदमी जाकर असबाब उठवा लायगा।' मैंने अर्ज़ किया कि मुझे आज ही रातको जाना है। दो एक जगह और मिलना है। जानेको जी तो नहीं चाहता, फिर कभी हाज़िर हूंगा। अब इजाज़त दीजिए। मुश्किलसे इजाज़त मिली। बाग़के हिन्दू मालीको बुलाकर हुक्म दिया—'बाज़ारसे दो रुपयेकी उम्दा मिठाई और कुछ फल लाओ, और पण्डितजीके डेरेपर

पहुंचा आओ।' मैंने हर-चन्द कहा, इसकी क्या ज़रूरत है, पर एक उज्र न सुना, मिठाई और फल मँगवाकर ही माने। 'प्रसाद' समझकर स्वीकार करना पड़ा।

मेरा कोई सहृदय मित्र या आत्मीय जब किसी कामसे इलाहाबाद जाता था; तो मैं उससे अकबर साहबसे मिलकर आनेका अनुरोध कर दिया करता था। एक बार मेरे आत्मीय श्रीयुत रामचन्द्रजी दत्यानवी, एक मुक़द्दमेके सिलसिलेमें इलाहाबाद गये। अकबर साहबसे मिले, और एक रुपया हाशमको (अकबर साहबके छोटे लड़केको) मिठाईके लिये दे आये। इस घटनाके बाद मेरे एक पत्रके उत्तरमें अकबर साहबने जो पत्र मुझे लिखा था, उसे मैं यहां ज्यों-का-त्यों उद्धृत करता हूं। उसके पद-पदसे कितना गहरा प्रेम और अकृत्रिम कृतज्ञताका भाव टपक रहा है, यह उसके पढ़नेसे ही मालूम होगा। पत्र क्या है, सहृदयताका मनोहारी चित्र है—मुँह बोलता फ़ोटो है—

(पत्रकी नक़ल)

इलाहाबाद

इशरत-मंज़िल

६ फ़रवरी, सन् १६१३ ई०

"शफ़ीक़े-मुकर्रम, ज़ाद-लुत्फ़हू,

बाज़ तरद्दुदाते-मकरूहातमें मुब्तला रहा, इस सबबसे

तरद्दुदाते—मकरूहातमें मुब्तला=अवाञ्छनीय चिन्ताओंमें व्यस्त।

अल्ताफ़नामेके जवाबमें देर हुई। आपकी मुहब्बत व क़द्र-अफ़ज़ाईका शुक्र-गुज़ार हूं। आपने—'हातम भी मुमसिक है'—के मतलबको ख़ूब समझा, माशा-अल्ला, चश्म-बद्दूर। आपकी सख़ुनफ़हमी और नाजुक़-ख़्यालीकी कहाँ तक दाद दूं। ख़ैर, नाजुक़-ख्याली और सख़ुनफ़हमी एक तरफ़, बड़ी नामत आपको यह हासिल है कि इल्मने दुनियाए-नापायदारकी हक़ीक़तको आपपर मुनकशिफ़ और ख़ुदासे आपको नज़दीक कर दिया है, यह बरकत संस्कृतदानी और दिलकी ख़ूबी की है।

चन्दरोज़ हुए आपके एक दोस्त तशरीफ़ लाये थे। उन्होंने हस्ब-हिदायत आपकी, कुल्लियाते-अकबरकी दोनों जिल्दें ख़रीद कीं। उनका कोई मुक़द्दमा था। चिराग़ जला चाहता था, मुझको आंखोंकी शिकायत है। मेरा छोटा लड़का हाशम सामने आया, उनको सलाम करके कुरसीपर बैठ गया। आपके दोस्तने हाथ बढ़ाकर हाशमके हाथमें कुछ दिया। मैं न समझ सका कि क्या बात हुई, फिर वह मुझसे रुख़सत होके कह गये थे कि फिर मिलूंगा। उनके जानेके बाद हाशमने मुलाज़िमको एक रुपया यह कहकर दिया कि पण्डित साहब किताबकी क़ीमत दे गये हैं। मुझको ताज्जुब हुआ, क्योंकि किताबकी क़ीमत तो आपके दोस्त मुलाज़ि-

---

अल्ताफ़नामा=कृपापत्र। माशा अल्ला, चश्म-बद्दूर=हर्ष और आश्चर्यके मौक़े पर बोलनेका मुहावरा। माशा-अल्ला=ईश्वर करे। चश्म-बद्दूर=बुरी नज़र (कुदृष्टि) दूर रहे।

मको पहले ही दे चुके थे। उस वक़्त हम लोगोंको यह मालूम हुआ कि आपके दोस्तने हाशमको रुपया इनामके तौरपर मिठाई खानेको दिया था। हाशमके सामने किताबकी क़ीमत नहीं दी गई थी, वह यह समझे कि पण्डित साहबने एक जिल्द हिस्से दोयमकी खरीद की है, और उसकी यह क़ीमत अदा की। हाशम बहुत अफ़सोसके साथ मुझसे कहने लगे कि अब्बा! बड़ी ग़लती हुई! न मैंने सलाम किया, न शुक्रिया अदा किया। मुझको भी निहायत नदामत हुई, और इसके साथ ही अगले वक्तोंकी मेल-मुहब्बत और शफ़क़तकी बातें याद आईं। आपके दोस्तने एक बड़ी पुरानी रस्मका बर्ताव किया, जिसका अब वजूद न रहा, और मुझको वहमो-गुमान भी न था। यही बातें थीं कि दिलोंको मिला देती थीं, भाई बना देती थीं, फ़र्क़-मज़ाहब-को मिटा देती थीं, एक दूसरेका जां-निसार बना देती थीं। अब तो जनाब! अग़यार क्या मानी, आपस ही में ऐसी शफ़क़तोंके इज़हारका ख़याल कम है। एक-एक बादए-ख़ुदपरस्तीमें महवो-सरशार है। कौन्सिल और कमेटी, कोतवाली और अख़बार मौजूद हैं, फिर आपसमें मुहब्बत बढ़ाने, भाईचारा करनेकी क्या

नदामत = लज्जा, पछतावा। शफ़क़त = प्रेम। फ़र्क़े मज़ाहब = धार्मिक भेदभाव। जांनिसार = प्राण निछावर करनेवाले, सहायक। अग़यार = ग़ैर, दूसरे, ऊपरी लोग। बादएख़ुदपरस्तीमें महवोसरशार = अहंकारके मद्यसे मत्त।

ज़रूरत है ! मैं दरहक़ीक़त उनके इस बरतावपर आबदीदा हो गया। यह भी ख्याल आया कि आपके दोस्त आपके कैसे सच्चे मोतक़िद और अज़ीज़ बावफ़ा और खैरतलब हैं कि मुझको आपका नियाज़-मन्द समझकर उन्होंने यह रस्म अदा की। मैंने उसी वक्त आदमीको दौड़ाया कि आपके दोस्त अभी गलीमें जा रहे होंगे, ज़रा बुला लो; मगर वह न मिले और फिर उनसे मुलाक़ात न हुई, न यह मालूम हुआ कि उस मुकदमेमें क्या हुआ। मेरा इरादा था कि उनकी दावत करता। अगरचे उजलत-गज़ीं हो गया हूं, लेकिन बशर्त-ज़रूरत उस मुक़द्दमेकी पैरवीमें खुद भी कुछ तहरीक करता। निहायत नदामत हुई कि शुक्र-गुज़ारीकी नौबत न आई; एक हरफ़ भी ज़बानसे न निकला। वह मुसाफिर थे मुझपर मेहमांदारी वाजिब थी। यह अमर तो मैंने उनसे अर्ज़ भी किया था कि आप यहां ठहरें; लेकिन उन्होंने फ़रमाया कि मैं एक मुनासिब जगह ठहर गया हूं।

यह सारी दास्तान मैंने इसलिये लिखी कि आप अपने दोस्तके गोश-गुज़ार कर दें; और खुद भी मुत्तला हों। आप उनसे फ़रमा दीजिये कि मैं निहायत शुक्र-गुज़ार हूं; वह मुझको अपना इख़लाक़ी मदयून बना गये और मुझको इल्म

आबदीदा=आंसू भर लाना। मोतक़िद=भरोसा रखनेवाले।
अज़ीज़ बावफ़ा=सच्चे प्यारे। नियाज़मन्द=प्रेमी, मित्र।
उजलतगज़ीं=एकान्तवासी।
गोश-गुज़ार कर दें=कानों तक पहुंचा दें, सुना दें।
इख़लाक़ी मदयून=सदाचारके व्यवहारका ऋणी।

भी न हुआ ! ज़ोफ़े-बसारतने आंखोंपर परदा डाल दिया। मैं बहुत उज्र. करता कि इसकी क्या ज़रूरत है।

अपनी ख़ैरियतसे मुत्तला फ़रमाइये।

आपका ख़ैरतलब और नियाज़मन्द

अकबर हुसैन।"

अकबर साहब मेल-मिलापके बड़े हामी थे, आपसके झगड़ोंसे उन्हें सख्त नफ़रत थी। एक ख़तमें लिखते हैं—

"xxxxx ज़मानेका रंग आप देख रहे हैं। झूठी इज़्ज़त और नुक़सान-रसां लज्ज़तोंका शौक़ तबीयतोंपर ग़ालिब है, नाम है मुल्की तरक़्क़ियोंका, लेकिन कोशिश उन बातोंकी हो रही है जिनसे सोसाइटी टुकड़े-टुकड़े हो जाय, ज़िन्दगानी बएवज़ शोरीं होनेके तल्ख़ीसे कटे। बहर-कैफ़ हमको और आपको खुदासे दुआ करना चाहिये कि हालतकी इसलाह हो x x।"

रिफार्म-स्कीमपर एक ख़तमें क्या अच्छा रीमार्क किया है—

"x x x आजकल वोट-ख्वाहोंने नाकमें दम कर रक्खा है। एक दोस्तसे ख्वाहमख्वाह बेलुत्फ़ीकी सूरत पैदा है। क्या 'न्यू स्कीम' (New Scheme) ख़ुदाकी रहमत है! यह महज़ फ़िक़रा है कि शुरू तरक़्क़ीमें ऐसा ही होता है।"

अकबरकी जीवनी

एक बार मैंने अकबर साहबको जीवनी लिखनेके लिये

ज़ोफ़े-बसारत=आंखोंकी कमज़ोरी।

मसाला मांगा था। दरयाफ्त किया था कि आपने ख़ुद या किसी दूसरे साहबने आपके हालात लिखे हों तो मुझे भिजवाइये या पता दीजिये। इसके जवाबमें आपने लिखा था—

"×××मुफ़स्सिल हालात व ख़यालातकी तहरीरका हनोज़ इत्तफ़ाक़ नहीं हुआ। अगरचे बहुत दिनोंसे अहबाबकी फ़रमाइश है। सेहत ख़राब है, दीगर तरद्दुदात रहते हैं, लेकिन मेरे अशआरसे उन अशआरको जो तक़लीदी तौरपर—क़ाफ़िया-पैमायीके तौरपर—लिखे गये हैं, ख़ारिज कीजिये, तो वह मेरी तबीयत और ख़यालातके आईना हैं।"—

सचमुच कविकी कविता ही कविकी सच्ची जीवनी है, उसके विचारोंका जीता-जागता, बोलता हुआ चित्र है, वह उसका यशः-शरीर है, आत्माका अमर प्रतिबिम्ब है। किसी स्त्री-कविने अपने दर्शनाभिलाषी कविको लिखा था—

"हमचु बू पिनहा शुदम् दर-रंगे-गुल मानिन्दे-गुल।
हरके दीदन मैल दारद दरसुख़न बीनद मरा॥"

—जिस तरह फूलमें उसकी गन्ध छिपी रहती है, उसी तरह मैं अपनी कवितामें छिपी हूं। जो मुझे देखना चाहे, वह कवितामें देखे, वही मेरा असली स्वरूप है। गुलको (फूलको) छोड़कर गन्ध बाहर दिखाई नहीं दे सकती।

अकबर साहब भी अपनी कवितामें छिपे हैं। उनके स्वरूपका ज्ञान उनकी कवितामें ही हो सकता है। सूक्ष्मदर्शी इन संक्षिप्त संस्मरणोंमें भी उनके स्वरूपका स्पष्ट आभास देख सकते हैं।

संभाषण—(१)

[संयुक्तप्रान्तीय षष्ठ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, मुरादाबादमें सभापतिकी हैसियतसे दिया गया]

"पादाङ्गं सन्धिवर्णाणं स्वरव्यञ्जन-भूषितम्।
यमाहुरक्षरं विप्रास्तस्मै वागात्मने नमः ॥"

स्वागत-समितिके सम्मान्य सभापति श्री साहू साहब, उपस्थित सज्जनो और देवियो !

'बहुमत' का नया रूप धारण करनेवाले उस दैवको बार-बार नमस्कार है, जिसकी प्रबल प्रेरणाके आगे आदमी अपने मनोदेवताके आदेशको भूलकर इच्छा-विरुद्ध कार्य्य करनेके लिये विवश हो जाता है। यह इसी दैवकी लीला है जिसने देशके अनेक सम्भ्रान्त नेताओंको अपने अन्तःकरणके प्रतिकूल 'असहयोग' के असिधार मार्गपर चलनेके लिये बाध्य कर दिया है; कल जिसका घोर विरोध कर रहे थे, आज उसी पर चलनेके लिये कमर कस रहे हैं; और मज़ा यह है कि उसका औचित्य अब भी स्वीकार नहीं करते। यह भी इसीकी करामात का करश्मा है जिसने कि मुझे इस समय इस रूपमें सम्मेलनके साथ इस प्रकार 'सहयोग' करनेके लिये आपके सामने लाकर खड़ा कर दिया है। मेरा आधि-व्याधि-पराहत चित्त, अस्वस्थ शरीर, उत्साह-हीन आत्मा और बुझा हुआ दिल; कोई भी इस भारी भारको उठानेके लिये तयार न था, किन्तु

क्या किया जाय; स्वागत-समितिके मन्त्रीजी 'बहुमत'का बग़ैर ज़मानत वारन्ट लिये हुए मुझ ग़रीबको गिरफ्तार करने जा ही पहुंचे। मैंने बहुत अनुनय विनय की; अपनी निरपराधता—असमर्थताके अनेक पुष्ट प्रमाण पेश किये; पर सब बेकार साबित हुए; 'बहुमत'के फ़ैसलेका अपील ही नहीं! मजबूर होकर आत्म-समर्पण करना ही पड़ा—

'पांवोंको बहुत झटका पटका ज़ंजीरके आगे कुछ न चली।'

इस दशामें जो मैं वाचालता, धृष्टता या अनधिकार-चेष्टा करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूं इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं हैं; यह इसी 'बहुमत'के दुर्दैवका दौरात्म्य है—'अनेन दैवेन बलाद् गृहीतो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' -फिर भी मुझे शिष्टाचारके तौरपर इस अनल्प अनुग्रहके लिये आप लोगोंका कृतज्ञ होना ही चाहिये और इस सम्मानके लिये जो अपनी उदारतासे यह पद प्रदान करके आप महानुभावोंने मुझे सम्मानित किया है, धन्यवाद देना ही चाहिये।

कृतज्ञता-प्रदर्शन और धन्यवाद-दानके अनन्तर मैं 'बहुमत'-की आज्ञाके आगे सिर झुकाकर इस दुर्गम मार्गमें प्रवृत्त होता हूं।

फ़र्याद करनेमें भूल-चूकके लिये—जो ज़रूर होगी—क्षमा चाहता हूं; क्योंकि 'नौ-गिरफ्तारों' में हूं। भुक्तभोगी अभियुक्तोंसे प्रार्थना है कि वह शुभ कामनासे इसमें सहायक हों—

'किस तरह फ़र्याद करते हैं बता दो क़ायदा,
ऐ असीराने-क़फ़स! मैं नौ-गिरफ्तारोंमें हूं।'

शोचनीय प्रसङ्ग

दुर्भाग्यसे सम्मेलनमें प्रतिवर्ष प्रायः किसी न किसी साहित्य-सेवीके वियोगपर शोक प्रकट करना ही पड़ता है। सम्मेलनका शायद ही कोई अधिवेशन ऐसा हो जिसपर यह दुःखमय प्रसङ्ग उपस्थित न होता हो। इस बार तो यह प्रसंग और भी शोचनीय रूपमें उपस्थित हुआ है। हिन्दी संसारके सुप्रसिद्ध वृद्ध महारथी पण्डित रुद्रदत्तजी सम्पादकाचार्यकी मृत्यु एक बड़ी ही दुःखप्रद और करुणाजनक दुर्घटना है, इनकी मृत्युसे हिन्दीको जो हानि पहुंची है उसकी पूर्ति होना कठिन है।

पण्डित रुद्रदत्तजी हिन्दीके एक बहुत पुराने, अनुभवी और विद्वान् लेखक थे, आपकी सारी आयु हिन्दीकी सेवामें ही बीती, एक लगनसे इस प्रकार हिन्दीकी सेवाका सौभाग्य बहुत कम लेखकोंको प्राप्त हुआ है, आप हिन्दीके सुलेखक ही नहीं, सुवक्ता भी थे; सम्पादन-कलाके तो वह सचमुच आचार्य थे, उनके सत्सङ्गसे कई आदमी अच्छे सम्पादक बन गये। उनकी साहित्य-सेवा, पत्र-सम्पादनसे ही प्रारम्भ हुई और पत्र-सम्पादनमें ही शरीरके साथ उसकी समाप्ति—

'लिखे जबतक जिये खबर-नामे
चल दिये हाथ में क़लम थामे।'

यह प्रान्त पण्डित रुद्रदत्तजी जैसे बहुगुण-सम्पन्न साहित्य-सेवीकी जन्मभूमि होनेपर उचित गर्व कर सकता है। साहित्य-सेवामें अपनी सारी आयु खपानेवाले इन वृद्ध साहित्यसेवीका

अन्तिम समय जिस दयनीयावस्थामें बीता, वह बड़ा ही करुणा-जनक और शोचनीय दृश्य था। यह हिन्दीके लिये दुर्भाग्य और हमारे लिये लज्जा और कलङ्ककी बात है। परमात्मा स्वर्गीय आत्माको सद्गति प्रदान करे, और हमें कृतज्ञता और गुणग्राहकता-की सुमति।

देहरादूनके सुप्रसिद्ध नेता श्रीमान् बाबू ज्योतिःस्वरूपजीकी मृत्यु, हिन्दी-साहित्यके लिए भी एक दुर्घटना है। आप हिन्दीके अच्छे विद्वान्, लेखक और सहायक थे, आपके द्वारा कई प्रकारसे हिन्दीका हित-साधन हो रहा था, हिन्दी साहित्यकी उन्नतिके लिए आप विशेष रूपसे प्रयत्नशील थे; आपकी मृत्युसे हिन्दीको हानि पहुंची है।

देहरादूनके दूसरे रईस भक्तराज श्रीबलदेवसिंहजी अपने भक्ति-मार्गकी पुस्तकें और ट्रैक्ट हज़ारोंकी संख्यामें हिन्दीमें छाप-कर वितीर्ण करते थे; उनके इस अनुष्ठानसे हिन्दी-प्रचारमें अच्छी सहायता पहुंचती थी, जो उनकी मृत्युसे बन्द हो गई। प्रत्येक सहृदय हिन्दी-हितैषी, इन सज्जनोंके वियोगपर दुःख और शोक-का अनुभव करेगा और इनकी सद्गतिके लिए ईश्वरसे प्रार्थना।

ज्वालापुर महाविद्यालयके स्नातक विद्याभास्कर पं० विश्व-नाथ शर्मा न्यायतीर्थ शास्त्रीकी अकाल मृत्युका भी अत्यन्त शोक है, इन नवयुवकसे हिन्दीके लिए बहुत कुछ आशा थी। श्रीवेङ्कटेश्वरसमाचार पत्र और प्रेसके अध्यक्ष सेठ श्रीखेमराजजीकी मृत्युभी हिन्दीके लिए एक शोचनीय दुर्घटना है, आपसे जितना

हिन्दीका उपकार हुआ है, उतना शायद ही किसी पुस्तक-व्यवसायीसे हुआ हो। आप बहुत ही परोपकार-परायण और दानशील सज्जन थे।

लोकमान्य भगवान् पण्डित बालगङ्गाधर-तिलकके लोक-लीला-संवरण करनेका शोक भारत-भरमें भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे मनाया जा रहा है, हिन्दीवाले भी उनके लिए किसीसे कम शोकाकुल नहीं हैं। महाराष्ट्रभाषा-भाषी होते हुए भी आपने राष्ट्र-भाषा (हिंदी) का पक्ष लिया। अबसे बहुत पहले उस वर्ष कांग्रेसके काशीवाले अधिवेशनके समय, नागरीप्रचारिणी सभाके एक विशेष उत्सवमें, आपने नागराक्षरोंकी उपयोगिता और हिन्दी भाषाकी राष्ट्रियता स्वीकार की थी, तबसे बराबर आप हिन्दी-भाषाकी हिमायत करते रहे, अपने लोकोत्तर ग्रन्थरत्न 'गीतारहस्य' का हिन्दी संस्करण मराठी संस्करणके साथ ही साथ प्रकाशित कराकर हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषा-भाषियोंपर जो अनुपम उपकार आपने किया है, उसके लिये हिन्दी जगत् सदा ऋणी रहेगा। 'गीता-रहस्य' जैसा सर्वाङ्ग सम्पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ हिन्दीमें दूसरा नहीं है, इसमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं, हिन्दी-भाषा, 'गीता-रहस्य' पर उचित अभिमान कर सकती है। जिस भाषामें 'गीता-रहस्य' जैसा अनर्घ रत्न हो, वह भाषा दरिद्र नहीं कहला सकती। दुःख और सन्ताप की बात है कि लोकमान्यके उठ जानेसे हिन्दीका एक बहुत बड़ा हिमायती जाता रहा।

इनके सिवा ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी मयंक, प्रसिद्ध साहित्यसेवी

विद्वद्वर पं० बालकृष्णजी भट्टके सुपुत्र पं० महादेव भट्टजी और पं० रामानन्दजीकी मृत्युका भी हिन्दी-संसारको सदा शोक रहेगा।

हिन्दीमें नवीन पुस्तकें और पत्रिकाएँ

हिन्दीमें कुछ अच्छी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन देखकर हर्ष होता है। ये पुस्तकें हिन्दीभाषाका गौरव बढ़ानेवाली हैं—

गीतामें ईश्वरवाद। गर्भरण्डारहस्य। वायस-विजय। भारतकी साम्पत्तिक अवस्था। हृदयतरङ्ग। केशवचन्द्रसेन। प्रेमपूर्णिमा। सत्याग्रहका इतिहास (द्वितीय संस्करण)। गांधीसिद्धान्त। प्रासपुञ्ज आदि।

गीतामें ईश्वरवाद—दार्शनिकप्रवर श्रीहीरेन्द्रनाथदत्त महोदयके 'गीताय ईश्वरवाद'का अनुवाद है। यह 'गीता-रहस्य'के ढंगका अत्युत्कृष्ट ग्रन्थ है, इसकी विवेचनाका प्रकार और विषय-प्रतिपादनकी शैली बहुत ही हृदयङ्गम और ऊँचे दर्जेकी है। अनुवाद सरस और मनोरम है। अनुवादक हैं हिन्दीके सुलेखक पण्डित श्रीज्वालादत्तजी शर्मा। तत्त्व-जिज्ञासुओंके लिये यह पुस्तक अमूल्य रत्न है।

गर्भरण्डा-रहस्य—एक सामाजिक खण्ड काव्य है। कविकी प्रतिभा और कल्पना-शक्तिका उत्कृष्ट उदाहरण है। यह मौलिक रसमयी रचना इस बातका प्रमाण है कि इस गये गुज़रे ज़मानेमें भी अच्छी कविता हो सकती है।

'वायस-विजय'—पञ्चतन्त्रके 'काकोलूकीय' प्रकरणका पद्या-

नुवाद है। इस अनुवादमें भी मौलिकताकी छटा है, कोई कोई प्रसङ्ग तो मूलसे भी अधिक मनोरम हो गया है। आकारमें बड़ी न होनेपर भी ये पुस्तकें कविताकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसी उत्तम रचनाके लिये इनके लेखक कविराज पण्डित नाथूराम-शंकरजी शर्मा 'शङ्कर' कविता-प्रेमियोंके धन्यवादपात्र हैं।

भारतकी साम्पत्तिक अवस्था—अर्थशास्त्रका स्वरूप समझने-के लिए बड़े कामकी चीज़ है। इस विषयपर ऐसी सरल सुंदर और अवश्य-ज्ञातव्य विषयोंसे परिपूर्ण पुस्तक हिंदीमें तो दूसरी है ही नहीं, सुप्रसिद्ध विद्वान् यदुनाथसरकारकी सम्मति है कि भारतकी अन्य भाषाओंमें भी इस विषयपर इतनी अच्छी कोई पुस्तक अभीतक नहीं प्रकाशित हुई। अर्थशास्त्रके मार्मिक विद्वान् पण्डित राधाकृष्ण झा एम० ए० ने यह ग्रंथ लिखकर हिंदीका उपकार किया है।

हृदय-तरङ्ग—व्रजभाषाके भावुक कवि स्वर्गीय कविरत्न पंडित सत्यनारायणजीकी फुटकर कविताओंका संग्रह है। कवि-रत्नजीने इसी नामसे अपनी कविताओंका संग्रह बहुत समय पहले प्रस्तुत किया था, जो प्रकाशित न होने पाया था कि किसी हज़-रतने कविरत्नजीकी ज़िन्दगीमें ही उसे उड़ा लिया। वर्तमान संग्रह कविरत्नजीके कुछ मित्रोंके परिश्रमका फल है। श्रीयुत पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदीने इसका सम्पादन, और नागरीप्रचारिणी-सभा आगराने इसे प्रकाशित करके बड़े पुण्यका काम किया है। सत्यनारायणजी जिस संग्रहको स्वयं सम्पादन करके प्रकाशित

करना चाहते थे, वह वास्तवमें एक अद्भुत चीज़ होती, उसे उड़ाकर जिन्होंने छिपा रक्खा, उन कवि-सर्वस्वापहारक साहित्य-दस्युओंकी जितनी निन्दा की जाय कम है। अस्तु, उसके अभावमें यह वर्तमान संग्रह भी गनीमत है। पत्थरोंके हवाले पड़कर जो 'हृदयतरंग' विलीन हो गई थी उसे फिर किसी प्रकार उठानेवाले—विलुप्तप्राय साहित्यरत्नका उद्धार करनेवाले—'हृदयतरङ्ग' के संग्रहकर्ता, सम्पादक और प्रकाशक धन्यवादार्ह हैं। 'हृदयतरंग' हिन्दी-साहित्यकी शोभा बढ़ानेवाली है।

केशवचन्द्रसेन—यह ब्राह्मसमाजकी नवविधान-शाखाके आचार्य, प्रसिद्ध सुधारक श्रीकेशवचन्द्रसेनका जीवनचरित है। जैसे आदरणीय पुरुषका यह चरित है वैसे ही अच्छे ढंगपर यह लिखा भी गया है। पुस्तक रोचक और शिक्षाप्रद है। एक 'भारतीय हृदय' ने यह चरित सजीव भाषामें लिखकर अपनी सहृदयताका अच्छा परिचय दिया है।

प्रेमपूर्णिमा—प्रेमचन्दजीकी १५ कहानियोंका संग्रह है। प्रेमचन्दजी मौलिक कहानियां लिखनेमें कैसे सिद्धहस्त हैं यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, आपकी कहानियां उर्दू जगत्में बड़े आदरसे पढ़ी जाती हैं, उर्दूमें आप इस कलाके प्रवर्तक और आचार्य माने जाते हैं। हर्षकी बात है कि कुछ दिनोंसे आप हिन्दीमें भी लिखने लगे हैं, और अच्छा लिखने लगे हैं; यह इस बातका प्रमाण है कि यदि चाहें तो उर्दूके सुलेखक थोड़ी सी चेष्टासे हिन्दीके भी अच्छे लेखक बन सकते हैं। प्रेमचन्दजीकी

यह शुभ प्रवृत्ति उर्दू के अन्य लेखकोंके लिये अनुकरणीय है। प्रेमचन्दजीका यह हिन्दी-प्रेम सर्वथा प्रशंसनीय है। गन्दे और तिलस्माती उपन्यासोंकी जगह ऐसी पुस्तकोंका प्रचार अभिनन्दनीय है।

सत्याग्रहके इतिहासका दूसरा संस्करण—पहले संस्करणकी अपेक्षा बहुत बढ़िया और परिवर्धित रूपमें निकला है। पुस्तक सचित्र है। जो देशभक्त सत्याग्रह-पथके पथिक बनना चाहते हैं, उन्हें इस पुस्तकसे सत्याग्रहके स्वरूप और इस असिधार मार्गकी दुर्गमताका अच्छी तरह परिचय मिल सकता है।

गान्धी-सिद्धान्त—का परिचय पुस्तकका नाम ही दे रहा है। महात्मा गान्धीजी किन सिद्धान्तोंका प्रचार करना चाहते हैं, उनके पालनमें कितने आत्म-बल, स्वार्थ-त्यागकी, कैसी दृढ़ता और कष्ट-सहिष्णुताकी आवश्यकता है, यह इस पुस्तकके पाठसे अच्छी तरह विदित हो जाता है। जो लोग गान्धीजीके मार्गपर चलनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें पहले इसे पढ़ लेना चाहिए। पुस्तक प्रश्नोत्तरके रूपमें रोचक रीतिसे लिखी गई है। भारतमित्रके सम्पादक श्रीयुत पं० लक्ष्मणनारायण गर्दने गान्धीजीकी मूल पुस्तकसे यह सुन्दर हिन्दी अनुवाद किया है।

प्रासपुञ्ज—हिन्दीमें यह अपने ढंगकी बिलकुल नई और अनूठी पुस्तक है। इसमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध हिन्दी छन्दोंके लक्षण और उदाहरण, गुणदोष-निदर्शनपूर्वक दिखलानेके अतिरिक्त 'प्रास' तुकान्तका—विशद वर्णन है, फ़ारसी और उर्दू कविताके रदीफ़

और क़ाफ़ियेकी भी इसमें विस्तृत विवेचना है। तुकान्तमें काम आनेवाले साधु शब्दोंकी सूची बनाकर लिङ्ग-निर्देशके साथ उनका अर्थ भी लिख दिया है। इस तरह यह पिङ्गल भी है और कोश भी है। पुस्तक बड़े परिश्रम और योग्यतासे लिखी गई है। इसके रचयिता पण्डित नारायणप्रसाद 'बेताब' उर्दू के उत्तम कवि हैं, हिन्दी-कवितापर भी उनका अच्छा अधिकार है; उनकी भाषा टकसाली है। कवितानियमोंके जिज्ञासु जन इस पुस्तकसे यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं। ऐसी उपादेय पुस्तक लिखनेके लिये 'बेताब' महाशय विशेषरूपसे धन्यवाद और प्रशंसाके पात्र हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ और पुस्तकें भी—सुना है—हालमें अच्छी निकली हैं, पर वह मेरे देखनेमें नहीं आईं।

हिन्दीमें अच्छे पत्र और पत्रिकाओंकी वृद्धि देखकर हर्ष होता है। नवीन दैनिकोंमें प्रयागका 'भविष्य' कलकत्तेका 'स्वतन्त्र' और काशीका 'आज' विशेषतया उल्लेखयोग्य हैं। ये पत्र अच्छे संगठनमें सुयोग्य और अनुभवी सम्पादकों द्वारा चलाये गये हैं, इसलिये यह स्थिर कार्य करेंगे, इसकी आशा है। नये साप्ताहिकोंमें गोरखपुरका 'स्वदेश' और जबलपुरका 'कर्मयोगी' अपने नामानुरूप कार्यमें तत्पर हैं। बिहारमें 'देश' 'पाटलिपुत्र' का हाथ बँटा रहा है। आगरेका 'सुधारक' और कांगड़ीकी 'श्रद्धा' भी अपने ढंगके अच्छे पत्र हैं। मासिकपत्र और पत्रिकाओंकी संख्या आश्चर्यजनक रीतिसे बढ़ रही है, यह हिन्दीके अभ्युदयका शुभलक्षण है। मासिक पत्रिकाओंकी वृद्धिका श्रेय 'सरस्वतीको' मिलना

चाहिए। हिन्दी-पत्रिकाओंके लिये उसने एक अनुकरणीय उच्च आदर्श उपस्थित करके प्रशंसनीय प्रोत्साहन दिया है। जो मासिक पत्र या पत्रिका हिन्दीमें निकलती है, वह सरस्वतीके आकार प्रकारका ही अनुकरण करती है, इस प्रकार 'सरस्वती' हिन्दी-पत्रिकाओंके लिये आदर्श बन गई है, फिर भी वह बात अभी पूरे तौरसे किसीको हासिल नहीं हुई, अस्तु।

नवीन मासिकोंमें कानपुरकी 'प्रभा' और 'संसार' जबलपुरकी 'श्रीशारदा' और 'छात्र-सहोदर,' काशीका 'स्वार्थ' खूब धूमधाम और सरगर्मीसे राष्ट्र और राष्ट्र-भाषाकी सेवामें आगे बढ़े हैं। झालरापाटनसे 'सौरभ' का संचार अभी हालमें हुआ है, आशा है यह भी अपने नामको सार्थक करेगा।

काशीकी नागरीप्रचारिणी पत्रिकाने मासिकसे त्रैमासिक होकर उलटी उन्नति की है। व्यङ्ग्य नहीं, सच बात है, हिन्दीमें शोध और खोज-सम्बन्धी पत्रका सर्वथा अभाव था, इसकी पूर्त्ति अब इस त्रैमासिक पत्रिकासे हो जायगी। पण्डित श्रीचन्द्रधरजी शर्मा गुलेरी बी० ए०, इतिहासमूर्त्ति पण्डित श्रीगौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा, मुन्शी देवीप्रसादजी मवर्रख राजपूताना, जैसे दिग्गज विद्वानोंके सम्पादकत्व और नागरीप्रचारिणी सभाके सर्वस्व बा० श्रीश्यामसुन्दरदासजीके तत्त्वावधानमें प्रकाशित होनेवाली यह पत्रिका प्राचीन शोध और खोजके रत्नोंसे हिंदीके भण्डारको भर देगी, यह जानकर किस हिन्दी-हितैषीका हृदय-कमल आशाके आलोकसे प्रफुल्लित न होगा।

स्कूल कालेजोंमें हिन्दी

इस प्रकार चारों ओरसे हिन्दीकी उन्नतिके लिये जो प्रयत्न हो रहा है वह बहुत कुछ आशा बँधानेवाला है। यदि इसी तरह यह प्रयत्न जारी रहा तो एक दिन हिन्दी राष्ट्रभाषाके उस उच्च सिंहासनपर विराजमान हो जायगी जिसकी वह अधिकारिणी है। पर अभी दिल्ली दूर है, अभी बहुत कुछ करना बाक़ी है, इतने हीसे सन्तुष्ट होकर बैठ रहना ठीक न होगा। छोटी छोटी प्रान्तीय भाषाओंने जो पद प्राप्त कर लिया है, राष्ट्रभाषा अभी उससे भी वञ्चित है, मराठी, गुजराती, तैलंगी और बंगला भाषाओंको बी०ए० और एम०ए० की परीक्षाओंमें स्थान-प्राप्तिका सौभाग्य प्राप्त हो गया, पर हिन्दीको यह दिन देखना नसीब नहीं हुआ, वह अभी तक इसके लिए 'अयोग्य' समझी जा रही है। दक्षिण प्रान्तकी राजधानी हैदराबादमें हिन्दीकी बहिन उर्दूके लिये उसमानिया-यूनिवर्सिटी क़ायम हो गई और गरीब हिन्दीको काशीधामके हिन्दू-विश्वविद्यालयमें भी आश्रय न मिला! जो मिला है उस पर यही कहना पड़ता है —

'नई तहज़ीबमें भी मज़हबी तालीम शामिल है;
मगर यों ही कि गोया आबे-गंगा मयमें दाख़िल है।'

यह हमारे लिये कितने कलंक और लज्जाकी बात है। हिन्दू-विश्वविद्यालय जैसे सफ़ेद हाथीके पालन-पोषणमें गरीब पबलिकका लाखों रुपया नष्ट करनेसे देश और जातिको क्या लाभ पहुंचा, यह ज़रा गर्दन झुकाकर सोचनेकी बात है! ऐसे विद्यालयोंको

लक्ष्य करके हज़रत अकबरने सच कहा है—"वही है सूत मामूली मगर चर्खा तिलायी है।" ग़रीब कौमको ऐसे 'तिलायी चर्खों की' जरूरत नहीं है, इसके लिये देशो काठके करघे—गुरुकुल, महाविद्यालय, ऋषिकुल जैसी संस्थायें ही कहीं मुफ़ीद हैं जो यथाशक्ति राष्ट्र-भाषाका प्रचार कर रही हैं। हिन्दू विश्वविद्यालयसे हिंदीका बहिष्कार इतना न अखरता यदि यह जातिकी संस्था न होकर सरकारी संस्था होती। जिन महापुरुषने हिन्दीसाहित्य-सम्मेलनकी नींव डाली, जिनके प्रयत्नसे अदालतोंमें नागराक्षरोंकी पहुंच और पूछ हुई, कितने आश्चर्य और दुःखकी बात है कि उन्हींके पुरुषार्थसे उन्हींके नेतृत्वमें स्थापित होनेवाले विश्वविद्यालयमें हिन्दी अपने अधिकारसे वंचित रह गई। इस प्रसङ्गपर किसी फ़ारसी कविकी यह उक्ति पूरी चरितार्थ हो रही है—

"तेहीदस्ताने-क़िस्मतरा चे सूद अज़ रहबरे-कामिल ;
कि ख़िज्र अज़ आबे-हैवाँ तिश्ना मी आरद् सिकंदररा" ॥*

सज्जनो ! यह उपेक्षाका विषय नहीं है, सिर्फ़ शिकायत करके चुप हो रहनेसे या कोरे प्रस्ताव पास कर देने हीसे इस अनर्थका प्रतिकार न होगा, इसके लिये प्रबल आन्दोलनकी आवश्यकता है, और वह उस वक्त तक बराबर जारी रहना चाहिये, जबतक हिन्दू-

* भाग्यहीनको सुयोग्य पथप्रदर्शक (नेता) भी कुछ लाभ नहीं पहुंचा सकता। हज़रत ख़िज्र जैसे आदर्श मार्गदर्शक, सिकन्दरको अमृतके चश्मेसे प्यासा लौटा लाये !

विश्वविद्यालयमें आपकी राष्ट्रभाषा हिन्दीको वह अधिकार न मिलजाय जिसकी वह हक़दार है।[1]

मैं हिन्दीसाहित्यकी वृद्धिके हर्षजनक विषयका वर्णन कर रहा था, उसके बाद कुछ और कहना था कि बीचमें हिन्दू विश्व-विद्यालयका ज़िक्रे-ख़ैर आ गया, सिलसिला टूट गया, क्षमा कीजिये।

हिन्दीका वर्त्तमान साहित्य

हिन्दी-साहित्यकी इस तेज़ीसे तरक्की होते देखकर जितनी खुशी होती है क़रीब क़रीब उतना ही इसका अफ़सोस भी है कि हमारी भाषा भ्रष्ट हो रही है, साहित्यका सौष्ठव नष्ट हो रहा है। आज-कल 'साहित्य'-शब्दका अर्थ बहुत व्यापक हो गया है, इसमें सब विषयोंका समावेश हो जाता है, वैद्यक, गणित, भूगोल आदि सब साहित्यमें शामिल हो बैठे हैं, इस तरह अब 'शामिलबाजे' से बहुत कुछ मिलता जुलता इसका अर्थ हो गया है। पहले साहित्यसे मुराद थी—काव्यकलासे सम्बन्ध रखनेवाला एक विशेष शास्त्र, जिसमें अलंकार, रस, ध्वनि आदिका निरूपण हो, गुण दोषका विवेचन हो—जैसे 'साहित्य-दर्पण'। भाषापर साहित्यका अङ्कुश रहता था, यहांतक कि चाहे कोई शब्द व्याकरणकी रीतिसे सर्वथा शुद्ध हो यदि वह साहित्यकी टकसालमें होकर नहीं निकला है—किसी प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री-कविने उसका उस प्रकार प्रयोग

---

[1] सन्तोषकी बात है इस बीचमें हिन्दीको हिन्दू विश्वविद्यायमें कुछ अधिकार मिला है, पर वह हक़ जिसकी वह 'हक़दार' है—जो उसे मिलना चाहिए, अभी नहीं मिला।

नहीं किया है तो कवि-समाजमें वह खरे सिक्केके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाता था। साहित्यशास्त्र, जबतक अपने इस रूपमें रहा, उसकी एक विशेष पृथक् सत्ता बनी रही, तबतक शब्द-प्रयोग पर उसका शासन रहा, जिससे भाषाका स्वरूप विशुद्ध बना रहा, कमसे-कम गद्यपद्यात्मक काव्यमें प्रयुक्त होनेवाली भाषा अपने कैंडेसे बाहर न होने पाई। पर जबसे उसका यह अधिकार जाता रहा, अपनी पृथक् सत्ताको गँवाकर वह शामिल-बाजेमें शरीक हो गया, यानी समय-प्रवाहरूप बोलशेविज्मने साहित्य-के राज-तन्त्रको प्रजा-तन्त्रमें परिणत करके एकाकार कर दिया, तबसे भाषा-राज्यमें एक ग़दरसा मच गया! जो कुछ चाहे किसी रूपमें किसी विषयपर लिखा जाय सब साहित्य है। प्रत्येक लेखकको पूरा स्वातन्त्र्य है चाहे जिस रीतिसे मन-माने ढंगपर लिखे, कोई किसी क़ायदे क़ानूनको माननेके लिए पाबंद नहीं है, कोई क़ायदा-क़ानून है ही नहीं, तो पाबंदी किस की! इस ग़दरका कारण साहित्य-शास्त्रकी अवहेलना है। यह आदर्श-हीनता-का परिणाम है।

हिन्दी कविता पहले व्रजभाषामें होती थी। व्रजसे बाहरके रहनेवाले कवि भी जब हिन्दीमें कविता करना चाहते थे तो उन्हें व्रजभाषामें अभिज्ञता प्राप्त करनी होती थी, बिना व्रजभाषा सीखे हिन्दी कविताका काम ही न चलता था, व्रजभाषामें हिन्दी कविताके लिये आदर्श ग्रन्थ मौजूद थे। साधु शब्दोंकी टकसाल व्रजभाषा ही मानी जाती थी। शिक्षित-समाजमें व्रजभाषाका

कितना महत्त्व माना जाता था यह उस वक्तकी इस उक्तिसे मालूम होता है—

'जो न जाने (ब्रज) भाषा ताहि शाखा-मृग जानिये'

ब्रजभाषाका यह अधिकार इस नये दौरमें छिन गया, उसकी जगह खड़ी-बोली खड़ी हुई, ऐसा होना नैसर्गिक नियमानुसार अनिवार्य था। गद्य और पद्य दोनों जगह खड़ी-बोलीकी तूती बोलने लगी, ब्रजभाषाका एकदम बायकाट हो गया। खड़ी-बोलीके शुरू दौरमें कुछ दिनोंतक कवितामें ब्रजभाषाकी पूछ रही, खड़ी-बोलीके महारथी आचार्योंने वहांसे भी उसे खदेड़ भगाया। 'बोल-चाल और कविताकी भाषा बिलकुल एक होनी चाहिये'—इस आन्दोलनने ज़ोर पकड़ा और इसीके अनुसार काम होने लगा। लिखने और बोलनेकी भाषामें—साधारण लिखनेकी और कविताकी भाषामें—सदासे सब जगह भेद रहा है, पर आजकल हिन्दीमें इसकी ज़रूरत नहीं समझी जाती। नौबत यहांतक पहुंच गई है कि हिन्दी कविताके लिए भाषाका कोई आदर्श नहीं रहा, हिन्दीका जो कवि जिस प्रांतमें रहता है वहींकी प्रांतीय भाषामें हो नहीं अपनी ग्रामीण-घरेलू भाषामें कविता गढ़ता है। भाषाके लिये कोई आदर्श न रहनेसे भाषा कभी शुद्ध नहीं रह सकती, यही कारण है कि आज कलकी खड़ी बोली खिचड़ी-बोली बन गई है।

उर्दू कविताके लिये देहली और लखनऊकी ज़बान टकसाल या आदर्श है। किसी प्रान्तका रहनेवाला उर्दू कवि जब कविता करेगा तब भाषाके लिये देहली या लखनऊकी ज़बानको आदर्श

मानकर ही रचना करेगा, इस आदर्शवादने उर्दू भाषाकी बहुत कुछ रक्षा की है। दक्षिण हैदराबाद, पटना और लाहौरके उर्दू-कवियोंकी कविता पढ़िए, भाषा सबकी समान पाइएगा, कवित्वमें उत्कर्षापकर्ष होगा, पर भाषागत इतना वैषम्य न मिलेगा। लखनऊ और देहलीकी भाषामें कुछ शब्द हैं जिनकी तज़कीर और तानीस पर मतभेद है, कुछ मुहावरोंमें भी भेद है। पर उनकी संख्या परिमित है। उर्दूमें प्रांतीयताका राज्य नहीं है, किसी शब्दकी साधुतापर जब वहां शंका की जाती है तब लेखकको अपने मतकी पुष्टिमें किसी प्रामाणिक लेखकका प्रमाण देना पड़ता है। अगर वह लखनऊकी ज़बानका हामी है तो लखनऊकी सनद, अगर देहली स्कूलका अनुगामी है तो वहांके किसी लेखककी मिसाल पेश करता है, नहीं तो अपनी ग़लती मानकर चुप हो जाता है। पर आजकल हिन्दीमें खड़ी-बोलीके लेखकोंका बाबा-आदम निराला है। शब्दोंका प्रयोग मनमाने ढंगपर किया जाता है, टोकनेपर इतना ही कह देना काफ़ी समझा जाता है कि-'हमारे यहां ऐसा ही बोलते हैं।' हिन्दी-भाषाके लिये भी कोई आदर्श होना चाहिए।

[इसके अगले अंशके लिये संभाषण (२) का "हिन्दी या हिन्दोस्तानी" उपशीर्षक देखिए। "बड़े-बड़े भाषा-विज्ञानवेत्ता'—से लेकर "ग़ालिब आगया'—तक इस भाषणका अंश वहां उद्धृत है।]

जैसा कि मैंने निवेदन किया उर्दू भाषाका एक आदर्श है, उर्दू-लेखक चाहे वह किसी प्रान्तके हों, उसे लक्ष्यमें रखते हैं।

इसी तरह हिन्दीका भी कोई आदर्श होना चाहिये। हिन्दी आदर्श-हीन नहीं है, उसका भी आदर्श है, पर वह ज़बरदस्ती आदर्शसे हटाई जा रही है। जहांतक सीधे-सादे बोल-चालके हिन्दी शब्दोंका सम्बन्ध है, हिन्दीका आदर्श वही है जो उर्दूका, क्योंकि दोनोंका उत्पत्ति-स्थान एक ही है। व्रजभाषाके कवि और खड़ी बोलीके लेखक, दिल्ली और उसके आस पासके प्रान्त—आगरा, मेरठ अलीगढ़ आदिमें ही हुए हैं, यहींकी भाषा शुद्ध भाषा है। 'हिन्दी भाषा अभी बन रही है' कहकर मनमानी करनी हो तो और बात है। हिन्दीके मुहावरे बहुत पहले बन चुके हैं, शब्दोंका लिङ्ग-निर्णय भी बहुत कुछ होचुका है, जो नये शब्द हिन्दीमें आ रहे हैं, उनका निर्णय आसानीसे हो सकता है, पर ग़ज़ब तो यह है कि जिन शब्दोंके प्रयोगके उदाहरण टकसाली भाषामें मौजूद हैं, उनका भी मनमानी रीतिसे प्रयोग किया है!—

एक प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक लिखते हैं—'हाईकोर्ट ऊंचे दरजेकी इजलास है'—हालांकि 'इजलास' शब्द नियत पुल्लिङ्ग है। दूसरे लेखक लिखते हैं—'उसका इतना 'मजाल, नहीं था,' 'उसने 'दगा' किया, वहां 'दंगा' हुई, 'शिकार हाथ लगी'। तीसरे लब्धप्रतिष्ठ लेखक लिखेंगे—'उसका 'नथ' चोरी गया'—उसे क़ैपर क़ै' आने लगे'।—मज़ा यह कि यही लेखक जब उर्दू लिखेंगे तो इन शब्दोंका प्रयोग शुद्ध करेंगे, घरमें भले ही 'दंगा' हुई हो, बोलें, पर उर्दूमें लिखते वक्त 'दंगे' की तज़कीर तानीसकी तहक़ीक़ ज़रूर कर लेंगे, क्योंकि वहां यह कहकर छुटकारा नहीं हो सकता

कि अभी उर्दू बन रही है, या हमारे यहां ऐसा ही बोलते हैं। उर्दू वाले दो स्थानोंको छोड़कर और किसी जगहकी सनद नहीं मानते। ठेठ पूरबमें और बिहारमें, खुदा, खिसारत, खुदवाया, को हिन्दीवाले 'खोदा' खेसारत, खोदवाया, लिखते हैं। 'हलचल' मच गया' 'हाथी आ गई' आदि लिङ्ग-व्यत्यय भी वहां बहुत होता है। कुछ ऐसे ही शब्दोंपर किसी आदर्शवादी हिन्दी हितैषीने कुछ कह दिया था, इसपर चिढ़कर एक बहुत बड़े विद्वान् बिहारी सम्पादकने यहांतक लिख डाला कि—

"युक्तप्रात वालोंने हिन्दी भाषाको जितनी हानि पहुंचाई है, वह वर्णनातीत है, युक्तप्रांतवाले हिन्दीका सत्यानाश किये डालते हैं'—शब्द कुछ और हो सकते हैं, भाव यही था। उर्दूके किसी बड़ेसे बड़े लेखक या कविकी यह मजाल नहीं है जो किसी गिरफ्त यह फ़तवा दे डाले कि दिल्ली-वालोंने उर्दूका सत्यानाश कर डाला, इनकी न मानो। एक बार उर्दूके महाकवि हज़रत इक़बालकी किसी कवितापर 'उर्दूए-मोअल्ला' में कुछ एतराज़ किये गये थे। इक़बाल साहबके किसी विद्वान् भक्तने उनका उत्तर 'मख़ज़न' में दिया, हर एक एतराज़का रद्द उर्दूके टकसाली शाइरोंके कलामकी सनदसे किया गया, जिसके लिये कोई सनद न मिल सकी, या जो भ्रमसे वास्तवमें भूल थी, वह मान ली गई, एतराज़ोंसे तंग आकर टकसाली भाषाके विरुद्ध जहादी झंडा उठानेकी घोषणा नहीं की गई।

हिन्दीके वर्तमान कवि

हिन्दीके कुछ वर्तमान कवियोंकी महिमा और भी विचित्र है। खड़ी बोलीमें कविता न हो, यह कोई नहीं कहता, पर उसके लिये भी किन्हीं नियमोंकी पाबन्दी ज़रूरी है। कविता चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक, 'कविता' होनी चाहिए, कोरी तुक-बन्दीका नाम कविता नहीं है। पद्य-रचनाको कविताका पर्याय समझ लिया गया है, जो उठता है वही टूटी फूटी तुकबन्दी करके कवि होनेका दम भरने लगता है। न छन्दःशास्त्रका ज्ञान है, न भाषापर अधिकार है, न व्याकरणका बोध है, न रस और रीतिसे कुछ परिचय है, फिर भी जिस विषयपर कहिए सद्यःकविता सुनानेके लिये फ़ौरनसे पहले तयार हैं। यह हास्यजनक और करुणोत्पादक दृश्य आर्यसमाज और सनातनधर्म सभाके उत्सवोंपर प्रायः सर्वत्र देखनेमें आता है; वहां हर एक भजनीक सद्यःकवि है। प्राचीन साहित्यकारोंने ख़ास-ख़ास रसोंके वर्णनके लिये खास छंदोंका निर्देश कर दिया है, संस्कृतमें तो इसका विस्तृत विवेचन है, हिन्दीमें भी इसके उदाहरणोंकी कमी नहीं है, पर आजकल छन्दः-शास्त्रकी पूरी छीछालेदर हो रही है। किसीको 'सुथराशाही' छन्द पसंद है तो वह उसी कांटेमें सब रसोंको बैठा तोल रहा है, किसीको शार्दूल-विक्रीडितकी चाल भा गई है, तो वह उसीसे सब विषयोंका शिकार खेलता फिरता है। हिन्दीके पूरे पांच छंदोंपर तो अधिकार नहीं, और संस्कृतके अनुष्टुप् और आर्या-छंदोंके अकबरी गज़से हिन्दी कविताकी गर्दन नापी जा रही है! कोई फ़ारसी बहरोंकी

लहरोंमें पड़ा बह रहा है, कहीं बंगलासे 'पयाल' और मराठीसे 'अभङ्ग' मांगा जा रहा है! मानो हिन्दी-छंदोंका दिवाला निकल गया है! वेदकी ऋचाओंका अनुवाद दादरे और ठुमरी-टप्पोंमें हो रहा है, अजब तमाशा है!

" उन्हें शौक़े-इबादत भी है और गानेकी आदत भी,
निकलती हैं ऋचाएं उनके मुँहसे ठुमरियां होकर।"

तुक न मिली, क़ाफ़िया तंग होगया तो इस झंझटमें पड़नेकी भी क्या ज़रूरत है, बेतुकी उड़ाने लगे! जब संस्कृतमें बेतुकी कविता होती है—अँग्रेजीमें ब्लैंक-वर्स है तो फिर हिन्दीमें वह क्यों न हो। अच्छा साहब यह भी सही, बेतुकी ही सही, पर कुछ कहिए तो, निरे शब्दाडम्बर या कोरी तुकबन्दीका नाम तो कविता नहीं है, कविताका प्राण जो 'रस' है, उसकी कोई बूंद भी आपके इस प्यालेमें है या नहीं। आप जो बंकार रहे हैं सो क्या पुरस्कार-प्राप्तिकी प्रेरणासे शब्दोंके गोले उगल रहे हैं, या नासमझोंकी बेमानी वाह-वाहके उभारनेसे यह कवित्व-प्रसवकी वेदना सह रहे हैं, या सचमुच अंदरवाला कुछ कहनेको बेताब कर रहा है! पिछली बात हो तो:शौक़से कहिए, नहीं तो कृपाकर चुप रहिए, कवितामें नक़्क़ालीसे काम नहीं चलता,जो कविता चोट खाये हुए दिलसे नहीं निकलती वह स्यापेकी नायनका रोना है—

'लुत्फ़े-कलाम क्या जो न हो दिलमें ज़ख़्मे इश्क़,
बिस्मिल नहीं है तू तो तड़पना भी छोड़ दे'।

आजकल हिन्दीमें जिस ढंगकी कविता हो रही है (दो-चार

अच्छे कवियोंकी कविता छोड़कर) उसका अधिकांश निकृष्ट कविताका सर्वोत्तम उदाहरण है। फिर भी वह आदर-पूर्वक प्रचार और प्रसार पा रही है, समाजमें इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या होगी ! कविताके लिये इससे बुरा समय शायद ही कभी आया हो। इसका प्रतिकार होना चाहिए। भावहीन और भद्दी तुकबन्दियोंपर पुरस्कार या प्रोत्साहन दे-देकर जो लोग इस अनर्थमें योग दे रहे हैं वे इसके दुष्परिणामपर ध्यान दें तो अच्छा हो। कवितापर पुरस्कार देना बहुत अच्छी बात है, पर पंक्तियां गिनकर पुरस्कारके पैसे देना, पत्रोंके कालम भरनेके लिये मैटर हासिल करनेकी ग़रज़से बढ़ावे दे देकर जो वास्तवमें कवि नहीं हैं उन्हें कवि बननेके लिये ख्वाह-मख्वाह मजबूर करना, अच्छा नहीं है। कवि बनानेसे नहीं बनते, कुदरती तौरपर बने बनाए पैदा होते हैं; जिनमें कविताका क़ुदरती माद्दा हो उनके सिवा दूसरोंको इस कूचेमें भूलकर भी क़दम न रखना चाहिए।

कविताके नामसे जो बहुत सा कूड़ा-करकट हिन्दीमें इकट्ठा होता जा रहा है; इसकी बाढ़को रोकनेके लिए प्रयत्न होना चाहिये। जिस प्रकार गो-रक्षाके लिये अभी कलकत्तेमें एक अनुकरणीय अनुष्ठान हुआ है—एक बहुत बड़ा फण्ड खुला है, इसी तरह हिन्दी-साहित्य-रक्षाके लिये भी कुछ होना चाहिये। कविता-वाणी भी 'गौ' है। साहित्यकी रक्षा सब जगह समालोचनासे होती है, पर हिन्दीमें समालोचनाका आदर नहीं है, इसलिये इस दूसरे उपायसे काम लिया जाय। जो लोग रोज़ीके लिये साहित्य-हत्यापर उतारू हों,

उन्हें वज़ीफ़ा या वृत्ति देकर इस कामसे रोका जाय, जो नाम या प्रसिद्धिके लिये इस अनर्थपर कमर बाँधें, उन्हें बड़ी बड़ी उपाधियाँ और क़ीमती मेडल देकर चुप किया जाय। यदि फण्ड काफ़ी हो, इससे रुपया बचे तो वह प्राचीन साहित्यके उद्धारमें लगाया जाय, और सच्चे कवियोंकी सहायतामें खर्च किया जाय, उससे अच्छे साहित्यके सुन्दर, शुद्ध और सुलभ संस्करण प्रकाशित किये जायँ।

हिन्दी और मुसलमान

हिन्दीके सम्बन्धमें हमारे मुसलमान भाइयोंका भी कुछ नहीं बहुत कुछ कर्तव्य है। हिन्दीको उन्नतिमें मुसलमान भाइयोंका बहुत हाथ रहा है। रसखान, रहीम, रसलीन आदि महाकवियों-पर हिन्दी-साहित्य सदा अभिमान करता रहेगा, इनकी हिन्दी-रचना किसी भी हिन्दू कविकी कवितासे कम नहीं है। हिन्दीका वह प्रसिद्ध दोहा जो बहुत दिनों तक बिहारीकी रचना समझा जाता रहा और अब तक बहुतसे लोग भूलसे ऐसा ही समझते हैं, पण्डित रतननाथ 'सरशार'ने अपनी किताबोंमें उद्धृत करके जिसकी बेहद दाद दी है, जिसके सहारे उन्होंने हिन्दी-कविताको जी-खोलकर सराहा है, आप सुनकर प्रसन्न होंगे, वह दोहा बिहारीका नहीं, सय्यद गुलामनबी 'रसलीन' बिलग्रामीके 'अङ्ग-दर्पण' का है—

"अमी हलाहल मद-भरे स्वेत स्याम रतनार,
जियत मरत झुक-झुक पर जेहि चितवत इक बार।"

रसखान आदि कृष्णभक्त मुसलमान कवियोंकी भक्ति-भावभरी

कविता पर मुग्ध होकर भक्त-मालके उत्तरार्धमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-जीने लिखा है—

'इन मुसलमान हरि-जनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये'

भाषा हृदयके भावोंके खोलनेकी कुंजी है, भावोंकी एकात्मता जितनी भाषा द्वारा होती है उतनी और उपायोंसे नहीं। भाषासे ही हम एक दूसरेके दिलको जान सकते हैं। संस्कृतभाषाके अध्ययनने ही शाहज़ादा दाराशिकोहको उपनिषदोंका अनन्य भक्त बना दिया था। व्रजभाषाकी माधुरीपर मोहित होकर सय्यद इब्राहीम 'रसखान' उस भाषाके उत्तम कवि ही नहीं कृष्णभक्तोंमें शिरोमणि भी बन गये, इस सवैयेको सुनकर कौन ख्याल करेगा कि यह किसी मुसलमान कविके हृदयका उद्गार है :—

"मानस हौं तो वही रसखान बसौं व्रज गोकुल गांवके ग्वारन,
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरिको जो धर्‍यौ कर छत्र पुरन्दर बारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि-कूल कदम्बकी डारन"

खानखाना 'रहीम' की इस अद्भुत उत्प्रेक्षाको सुनकर कौन कह सकता है कि यह कल्पना किसी परम पौराणिक हिन्दू भक्तकी नहीं है :—

"धूर धरत निज सीसपर कहु रहीम किहि काज।
जिहि रज मुनि-पतनी तरी सो ढूंढत गजराज।"

जो भाषा हिन्दू मुसलमानोंको कभी अभिन्न-हृदय बनाती थी, जो एकताका प्रधान साधन है, वही हमारे दुर्भाग्यसे आज

हिन्दू मुसलमानोंके विरोधका एक कारण बन रही है। महाकवि 'अकबर' ने कितने पतेकी कही है—

"वह लुत्फ़ अब हिन्दुवो मुसलमांमें कहां,
अग़यार इनपर गुज़रते हैं ख़न्दां-ज़नां
झगड़ा कभी गायका, ज़बाँकी कभी बहस,
है सख्त मुज़िर यह नुसख़ए-गावज़बां।"

हिन्दी और उर्दू पहले एक थीं, दोनों जातियोंने मिलकर हिन्दी-उर्दू-साहित्यका निर्माण किया, मुसलमानोंमें अनेक हिन्दी कवि हुए तो हिन्दुओंमें बहुतसे उर्दूके लेखक और कवियोंने उर्दूकी साहित्य-वृद्धि की। हिन्दू अब भी उर्दूकी बहुमूल्य सेवा कर रहे हैं, पर मुसलमान हिन्दीकी ओरसे उदासीन ही नहीं, इसका व्यर्थ विरोध भी कर रहे हैं। हिन्दुओंके लिये उर्दूके विरोधका और मुसलमानोंके लिये हिन्दीको मुख़ालफ़तका कोई कारण या सबब नहीं है, सिर्फ़ समझका फेर है। एक पुरानी कहानी है—

एक गुरुके दो चेले थे। दोनोंने गुरुके दोनों चरणोंकी सेवा आपसमें बांट ली थी। एकने दहिने पांवकी सेवाका भार लिया, दूसरेने बायें पांवकी। एक दिन बायां पांव दहिनेके ऊपर आ गया, इससे नाराज़ होकर दहिने पांवका सेवक डंडा उठाकर बांयें पांवकी सेवा करने लगा, और बांयें पांवका सेवक दहिनेकी पूजा इसी तरह करने लगा!—कुछ ऐसा ही आचरण आजकल उर्दूके हिमायती और हिन्दीके भक्त कर रहे हैं, यह देशका दुर्भाग्य है। जिस तरह शिक्षित हिन्दू उर्दूको अपनाये हुए हैं, मुसलमानोंको चाहिये

कि वह भी हिन्दीकी ओर हाथ बढ़ावें। हिन्दी हौवा नहीं है, मुसलमान भाइयोंने भूलसे उसे हौवा समझ लिया है। लिपि-भेद आदिके कारण जो भेद हिन्दी और उर्दूमें हो गया है, उसे अब अधिक बढ़ाना उचित नहीं है।

जिस तरह लखनऊ वालोंने दिल्लीकी ज़बानसे अपनी ज़बानकी शान बढ़ानेके लिये अरबी फारसीके बड़े बड़े शब्द भरकर अपनी उर्दूका पल्ला भारी कर लिय था, यही बात हिन्दीसे उर्दूको जुदा करनेमें काममें लाई गई। उर्दू और हिन्दीकी भाषामें जो भेद पड़गया है वह अब किसीके मिटाए मिट नहीं सकता, हां प्रयत्न करनेसे कम ज़रूर हो सकता है।

हिन्दी-लेखक प्रचलित और आमफ़हम फारसी शब्दोंका जो उर्दूमें आ मिले हैं और उर्दू-सूक्तियोंका व्यवहार करना बुरा नहीं समझते, पर उर्दूए-मोअल्लाके पक्षपाती ठेठ हिन्दी शब्दोंको चुन-चुनकर उर्दूसे बाहर कर रहे हैं। प्रचलित हिन्दी शब्दोंकी जगह ढूंढ ढूंढकर नये नये अरबी और तुरकी शब्दोंकी भरती की जारही है, उर्दूका कायाकल्प किया जारहा है, यह अच्छे लक्षण नहीं हैं। भाषाके मामलेमें धर्मान्धता या कट्टरपनका भाव शोभा नहीं देता। औरङ्गजेबकी धर्मान्धता प्रसिद्ध है, धर्मके मामलेमें वह बड़े कट्टर और अनुदार थे, पर भाषाके सम्बन्धमें वह भी उदार थे, उनके दरबारमें हिन्दी कवि रहते थे। इनके पुत्र शाहज़ादा 'आज़म' तो हिन्दी कविताके इतने मार्मिकक रसिक थे कि 'विहारी-सतसई'के दोहोंका प्रकरणानुसार संग्रह, कहा जाता है

उन्हींकी प्रेरणा और आज्ञासे हुआ था, जो "आजमशाही-क्रम" कहलाता है।

औरंगजेब खुद भी हिन्दीके प्रेमी थे, संस्कृतमें भी उन्हें कुछ दखल था। इसके सबूतमें उनकी एक तहरीर पेश करता हूं—

औरंगज़ेबके पत्रोंका संग्रह जो 'रुक़्क़आते-आलमगीरी' के नामसे फारसीमें छपा है, उसमें एक रुक्का (नं० ६) बादशाहज़ादा मुहम्मद आज़मशाह बहादुरके नाम है। इन शाहज़ादेने कहींसे खास आमोंकी डाली बादशाहके पास भेजी है; और उन आमोंका नाम रखनेके लिये बादशाह सलामतसे इस्तदुआ की है, उसके उत्तरमें बादशाह लिखते हैं—

"फ़र्ज़न्द आली-जाह, डाली अम्बा मुर्सले-आं फ़रज़न्द बज़ायक़े पिदर-पीर खुशगवार आमद, बराय-नाम अम्बए-गुमनाम इस्तदुआ नमूदा अन्द, चूं आं फ़रज़न्द जूदते-तबा दारन्द, खादार तकलीफ़े-पिदर-पीर चरा मीशवन्द, बहर-हाल 'सुधा-रस' व 'रसना-विलास' नामीदा शुद"।

इस रुक़्क़ेके लफ़्ज डाली और आमोंके नाम 'सुधा-रस' और 'रसना-विलास' पर ज़रा ध्यान तो दीजिये, 'डाली, लफ़्ज़ फारसीका नहीं है, फिर भी औरंगज़ेब जैसे ज़बरदस्त मुन्शीने उसकी जगह अरबी या फारसीका लफ़्ज गढ़कर या चुनकर नहीं रक्खा. जो बोलचालमें था, वही रहने दिया। आमोंके नाम तो उन्होंने इस कमालके रक्खे हैं कि क्या कोई रक्खेगा। 'सुधा-रस' और 'रसना-विलास' क्या मीठे नाम हैं! सुनते ही मुंहमें पानी भर

आता है ! ये नाम बादशाहके भाषा-विज्ञान, औचित्य-वेदिता और सहृदयताके सच्चे साक्षी हैं। आम हिन्दोस्तानकी मेवा है, फारसी या तुर्की नाम उसके लिये मुनासिब नहीं, यही समझकर बादशाहने ये रसीले नाम तजवीज़ किये ।

जो लोग देशी चीज़ोंके लिये विलायती नाम ढूंढनेमें सारी लियाक़त खर्च कर डालते हैं, या वह उर्दू लेखक जो नई नई परि-भाषा अपनी भाषामें लानेके लिये 'क़ाहरा' और कुस्तुनतुनियाके अख़बारोंका फ़ायल टटोलते रहते हैं, वह इससे शिक्षा ग्रहण करें तो भाषा पर बड़ी दया करें ।

इस मेल-मिलापके ज़मानेमें यह ज़बानी-इख़तलाफ़ दूर हो जाना चाहिये । दोनों जातियोंके सुशिक्षित सभ्यों और नेताओंको इस ओर ध्यान देना चाहिये, इसीमें देश और जातिका कल्याण है—

" हिन्दीमें जो सब शरीक होनेके नहीं,
इस देशके काम ठीक होनेके नहीं ।
मुमकिन नहीं कि शेख़ शेख़-सादी बनें,
पण्डितजी वाल्मीक होनेके नहीं ॥'

—:०:—

संभाषण—(२)

[अखिल भारतीय अष्टादश हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, मुज़फ्फरपुरमें सभापतिकी हैसियतसे दिया गया]

"यद्-भारती-भारत-पान-लीनः, सुधाभुजां धाम न कामयेऽहम्।
स मुक्ति-कान्ता-परिलोभनानि, ज्ञानानि मे कृष्णमुनिस्तनोतु॥"

स्वागत-समितिके सम्मान्य सभापति महोदय, समागत सज्जनो और प्रतिनिधि भाइयो !

इस महनीय मान और समादरणीय सत्कारके लिये जो मुझ सरीखे अधन्य अगण्य सामान्य व्यक्तिका अपनी असाधारण उदारतासे आपने यह पद प्रदान करके किया है, कृतज्ञतापूर्वक सिर झुकाकर अन्तःकरणसे धन्यवाद कहता हूं, पर इसका औचित्य स्वीकार करनेमें अब भी असमर्थ हूं। इस प्रतिष्ठित पदपर अभिषिक्त करने योग्य बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान, एकसे एक बढ़कर धुरन्धर साहित्यसेवी सज्जन वर्तमान थे; जिनसे सम्मेलनकी शोभा और इस पदकी प्रतिष्ठा बढ़ती, मुझमें तो एक भी गुण इस पद-प्राप्तिके योग्य न था। आश्चर्य है, क्या समझकर आपने ऐसा अनुचित निर्वाचन किया है !

परम श्रद्धास्पद कविराज श्री 'शङ्कर' जी महाराज, श्रद्धेय श्रीयुत पण्डित अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी, सुप्रसिद्ध श्रीभानु कवि जी, श्री रत्नाकर जी, हिन्दीके राष्ट्रिय कवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त, कविवर दीनजी, श्रीमान सुकवि सनेही जी, गोस्वामी

पंडित श्रीपद्मसिंहजी शर्मा (१९२८ ई०).

श्रीकिशोरीलालजी, विद्यावयो-वृद्ध 'भूष'—कवि श्री सीतारामजी, विद्वद्रत्न श्री जायसवाल जी, इतिहासके मार्मिक विशेषज्ञ श्री हीरा-लाल जी, लब्धप्रतिष्ठ लेखक पं० श्रीश्यामविहारी मिश्र जी, प्रतापी श्रीविद्यार्थीजी, सुयोग्य विद्वान सम्पादक श्री पराड़कर जी, ज्ञान-मण्डलके प्रतिष्ठापक सुसमर्थ साहित्यसेवी हिन्दी-संसारके सामयिक कर्ण श्री गुप्त जी, हिन्दीके विवेचक विद्वान पं० रामचन्द्र जी शुक्ल, रामचरितमानसके मराल श्रीगौड़ जी; रहस्यमयी लकीरोंको हृदयों-पर अङ्कित करनेवाले श्रीभारतीय आत्मा, अभ्युदयशाली श्रीकृष्ण-कान्त मालवीयजी, उपन्यास-विधाता श्रीप्रेमचन्द जी, उपादेय अनुवाद ग्रन्थोंसे हिन्दीके भण्डारको भरनेवाले पण्डित श्रीरूपनारा-यणजी पाण्डेय, तथा सरस्वती, माधुरी, विशालभारत, और सुधाके सम्पादकगण, श्री पण्डित लक्ष्मीधर जी वाजपेयी, मुसलमान हिन्दी-सेवियोंमें मीरी सुकवि मीर जी, प्राचीन महारथी पं० लज्जारामजी महता; साहित्य-वाटिकामें काव्य-कल्पद्रुमको रोपनेवाले श्री पोद्दारजी, व्याकरणकी बाड़ लगानेवाले श्री गुरुजी, शिष्टशिरोमणि श्रीगर्दे जी, श्रीयुत सम्पूर्णानन्दजी, श्रीश्रीप्रकाश जी और श्रीयुत मूलचंद जी अग्रवाल इत्यादि। यहां क्रम विवक्षित नहीं है, जो नाम याद आता गया, लिखता गया हूं, किन्हींको कहीं क्रम-भंग प्रतीत हो, या कोई गण्य मान्य व्यक्ति इस साहित्य-सुमरनीका मनका बननेसे रह गये हों तो क्षमा करें—

'करऊं प्रनाम जोरि जुग पानी;
करहु कृपा निज सेवक जानी।'

हां, तो साहित्याकाशके इन तेजस्वी नक्षत्रोंपर—साहित्य-सागरके इन प्रकाश-स्तम्भोंपर आपकी निर्वाचन-दृष्टि क्यों न पड़ी! आपने एक क्षुद्र खद्योतको—काव्य-प्रदीपके तुच्छ पतंगको क्यों पसन्द किया! मालूम नहीं इसमें आपने क्या लाभ सोचा है। मैं तो जितना ही सोचता हूं उतना ही आश्चर्य होता है। भगवान् आपका भला करें, पर मुझ असमर्थ—अशक्त व्यक्तिपर यह भारी भार लादकर साहित्य-सम्मेलनका आपने भला नहीं किया। अस्तु—

मैंने विवश होकर आपकी आज्ञाकी वेदिपर अपने भय, शङ्का, शालीनता और संकोचकी बलि चढ़ाकर 'आत्म-समर्पण' तो कर दिया है—इस अग्नि-परीक्षामें पड़ तो गया हूं—पर डर रहा हूं कि क्या होगा! निर्वाह आपहीके हाथ है। मैं तो इस साहित्य-शकटका 'बींडिया' बनाया गया हूं; धुरन्धरता आप ही के कन्धों-पर है, औघट घाटीसे खींचकर इसे पार लगाइये, मैं भी यथाशक्ति सहारा लगाऊंगा।

शोक-स्मृति

सम्मेलनके अधिवेशनपर प्रतिवर्ष किसी न किसी साहित्य-सेवी बन्धुके वियोगपर आँसू बहाने ही पड़ते हैं—आँखोंके अर्घमें तिलोदक भरकर वियुक्त बान्धवोंका तर्पण करना भी दुर्दैवने सम्मेलनके कार्यक्रमका एक अंग बना दिया है—

'बहना कुछ अपनी चश्मका दस्तूर होगया,
दी थी खुदाने आँख सो नासूर होगया।'

उत्सव हर्षके लिये होता है पर दैवी दुर्घटनाओंसे हमारा यह उत्सव भी शोकसमाजमें परिणत हो गया—मुहर्रममें पड़कर मुहर्रमी बन गया है। देखते देखते साहित्याकाशके कई चमकते तारे अस्त हो गये। सुहृद्वर पं० राधाकृष्णझाको—जिनके नामके आगे 'स्वर्गीय' शब्द जोड़ते हुए हृदय-पटल फटा जाता है, आँखें ढूँढ रही हैं, उनके बिना यह सम्मेलन सूना-सा मालूम होता है, किससे पूछें कि कहाँ गये, कहाँ खोजें कि वह पा जायँ, उनकी स्निग्ध-मूर्ति आंखोंमें फिर रही है, उनके सद्गुण, सौम्य स्वभाव, प्रचण्ड पाण्डित्य रह-रहकर याद आरहे हैं, वियोग-वेदनाका बाण हृदयको बेध रहा है। दुर्दैवको इतनेपर ही सन्तोष न हुआ कि एक और चर्का लगा दिया, घावपर नमक छिड़क दिया—पं० ईश्वरीप्रसादजी शर्माको भी हमसे छीन लिया! आज वह यहाँ होते तो आप देखते कि उत्सवमें उत्सवता कैसे आती है! शर्मा-जी हास्यरसकी मूर्ति और ज़िन्दा-दिलीके पुतले थे, साहित्य-सेवा उनके जीवनका एक लक्ष्य था, इस थोड़ी उम्रमें भी वह साहित्यकी इतनी सेवा कर गये जो सदा स्मरणीय रहेगी। झा जी और शर्मा जी, बिहार-वसुन्धरा हीके रत्न नहीं, भारत-जननीके सच्चे लाल थे। अभाग्य है कि वह हमसे सदाके लिये जुदा होगये, उनके रिक्त स्थानकी पूर्त्ति कैसे होगी? किससे होगी!

यहां आकर मुझे एक और मित्रकी याद भी तड़पा रही है। दुर्घटना पुरानी पड़ गई थी, दिलके ज़ख्म कुछ सूख चले थे कि फिर हरे हो गये, उनके लिए भी दो आँसू बहा लूं तो आगे बढ़ूं।

कई वर्ष पूर्व सुहृद्वर पाण्डेय जगन्नाथप्रसादजीसे पहली बार यहीं मुज़फ़्फ़रपुरमें मुलाक़ात हुई थी। पाण्डेयजी भारी विद्वान्, सच्चे सुहृद् मिलनसार और उदार सज्जन थे। उनकी बहुत सी बातें इस समय याद आ रही हैं। अफ़सोस कि वह नहीं हैं, पर उनकी याद हमेशा रहेगी। पाण्डेयजीका वियोग पुराना होनेपर भी आज मुझे नया सा भास रहा है, उनकी यादसे जी भर आया है—

'आँखोंमें कौन आ के इलाही! निकल गया,
किस की तलाशमें मेरे अश्के-रवां चले'!

यह शोक-सूची आगे बढ़ रही है और कलेजेको छेद रही है। खड्गविलास प्रेसके सर्वस्व अनन्य हिन्दी-हितैषी मित्रवर बा० गोकर्णसिंहजीका स्वर्गवास भी कुछ कम दुःखप्रद दुर्घटना नहीं है, गोकर्णसिंहजीने जिस लगनसे चुपचाप हिन्दीकी सेवा की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

श्रीयुत पं० रघुवर प्रसादजी द्विवेदी भी हिन्दीके एक प्रधान स्तम्भ थे, हिन्दीकी सेवामें ही उनके बाल सफेद हुए थे, इन वृद्ध महारथीके उठ जानेसे हिन्दीको बहुत हानि पहुंची है।

पं० पद्मधर अवस्थी एक बड़े ही होनहार कवि थे, अफ़सोस खिलने भी न पाये थे कि मुरझा गये!

प्रोफेसर मणिराम गुप्त भी अचानक चल बसे! आप फ़ारसीके अच्छे विद्वान् और हिन्दीके सुकवि थे और अभी नौजवान ही थे।

परमात्मा इन स्वर्गीय साहित्य-बान्धवोंकी आत्माओंको सद्गति दे, और हमें वियोग सहनेकी शक्ति।

कवितामें परिवर्तन

हिन्दी-भाषाके पूर्व इतिहासपर—संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके परस्पर-सम्बन्धपर—पहले कई विद्वान् सभापति बहुत कुछ कह गये हैं। मैं हिन्दीके सामयिक पद्य-साहित्यपर पहले कुछ कहकर पीछे दूसरे आवश्यक विषयोंपर निवेदन करूंगा।

हिन्दीके पद्य-भागमें इस समय सर्वाङ्गीण परिवर्तन हो रहा है। प्रत्येक भाषाका पद्य भाग महत्वपूर्ण और स्थायी समझा जाता है, उसके परिवर्तनका प्रभाव साहित्यके दूसरे अंगोंपर भी पड़ता है, इसलिये उसकी रक्षा और सुधारपर भारतीय भाषाओंमें ख़ासकर संस्कृत और हिन्दी उर्दू में जितने ग्रंथ लिखे गये हैं उतने गद्यके सम्बन्धमें नहीं। यह परिवर्तन और क्रान्तिका युग है। सब विषयोंमें नित्य नये परिवर्तन हो रहे हैं, कवितामें भी क्रान्ति हो रही है और बड़े वेगसे हो रही है; हिन्दी कविताका तो एक-दम काया-कल्प हो रहा है, दूसरी भाषाओंकी कविताओंमें भो परिवर्तन हुआ है पर हिन्दीमें परिवर्तनका ढंग कुछ निराला ही है। मैं परिवर्तनका विरोधी नहीं हूं, पर परिवर्तन सोच-समझकर करना चाहिये; मनमाने प्रकारसे नहीं; मेरे इस निवेदनका यही तात्पर्य है।

स्वर्गीय मौलाना 'हाली' उर्दू-कविताके आदर्श क्रान्तिकारी कवि हुए हैं, उर्दू में सामयिक कविताका सूत्रपात उन्होंने ही किया है। नये ढंगकी नेचुरल कविताके वही आदिम आचार्य हैं, अपने उपनाम 'हाली' के अनुकूल ही उन्होंने कविताको सामयिकताके

सांचेमें ढाला है। प्रारम्भमें पुराने रंगके गुलो-बुलबुलके शैदाई शाइरोंने उनका बड़ा घोर विरोध किया, लखनऊका 'अवध-पंच' वर्षोंतक उनके पीछे पड़ा रहा, पर हाली अपने व्रतसे विचलित नहीं हुए। 'दीवाने-हाली'का 'मुक़द्दमा' (भूमिका) पढ़ने लायक़ पुस्तक है, सामयिक कविता कैसी होनी चाहिये; पुरानी कवितामें क्या ग्राह्य है, क्या त्याज्य है, इसका उसमें बहुत विशद और विस्तृत विवेचन है।

मौलाना हालीने अपने मुक़द्दमेमें लिखा है—

"आजकल देखा जाता है कि शेरके लिबासमें अक्सर नये ख़यालात जो हमारे अगले शोरा (कवियों)ने कभी नहीं बांधे थे, ज़ाहिर किये जाते हैं। मगर चूंकि वह उस ख़ास ज़बानमें जो शोराकी कसरत इस्तेमालसे कानोंमें रच गई है, अदा नहीं किये जाते, बल्कि नये ख़यालात जिन अलफ़ाज़में बराहे-रास्त ज़ाहिर होना चाहते हैं उन्हीं अलफ़ाज़में ज़ाहिर कर दिये जाते हैं, इसलिये वह मक़बूल ख़ासो-आम (सर्वप्रिय) नहीं होते।'

फिर आगे लिखते हैं—

"यह मुमकिन है कि किसी क़ौमके ख़यालातमें दफ़ातन् एक नुमायां तरक्क़ी और वसअत (विचारोंमें सहसा परिवर्तन और विकाश) पैदा हो जाय मगर ज़बानमें (भाषामें) दफ़ातन् वसअत पैदा नहीं हो सकती, बल्कि नामालूम तौरपर बयानके उसलूब (कहनेके ढंग) आहिस्ता-आहिस्ता इज़ाफ़ा

किये जाते हैं और उनको रफ़्ता रफ़्ता पबलिकके कानोंसे मानूस-(परिचित) किया जाता है और क़दीम उसलूब (रीति, प्रकार) जो कानोंमें रच गये हैं उनको बदस्तूर क़ायम और बरक़रार रक्खा जाता है, यहांतक कि अगर इल्मकी तरक्क़ीसे बहुतसे क़दीम शाइराना ख़यालात महज़ ग़लत और बेबुनियाद साबित हो जायँ तो भी जिन अलफ़ाज़के ज़रियेसे वह ख़यालात ज़ाहिर किये जाते थे, वह अलफ़ाज़ तर्क नहीं किये जाते।"

इसके आगे कई उदाहरण इस बातके देकर लिखा है—

"शाइरका यह काम नहीं कि इन ख़यालातसे बिलकुल दस्तबरदार हो जाय, बल्कि उसका कमाल यह है कि हक़ायक़ व वाक़आत (वास्तविकता, वस्तुस्थिति) और सच्चे नैचुरल ख़यालातको उन्हीं ग़लत और बेअसल बातोंके पैरायेमें बयान करे और उस तिलस्मको जो क़ुदमा (प्राचीन) बांध गये हैं हरगिज़ न टूटने दे। वर्ना वह बहुत जल्द देखेगा कि उसने अपने मन्तर (मन्त्र)मेंसे वही अंछर (अक्षर) भुला दिये हैं जो दिलोंको तसख़ीर करते थे।"

इस बातको आगे दीवानके दीवाचेमें फिर यों समझाया है—

"नाज़रीनको मालूम रहे कि जब किसी मुल्क या क़ौम या शख़्सके ख़यालात बदलते हैं तो ख़यालातके साथ तर्ज़ बयान नहीं बदलती, गाड़ीकी रफ्तारमें फ़र्क़ आ जाता है, मगर पहिया और धुरा बदस्तूर बाक़ी रहता है······यह मुमकिन है मुताख़रीन (अर्वाचीन) क़दीम शोरा (प्राचीन कवियों)

के बाज़ ख़यालातकी पैरवीसे दस्तबरदार हो जायँ मगर उनके तरीक़ए-बयानसे दस्तबरदार नहीं हो सकते। जिस तरह किसी ग़ैर मुल्कमें नये वारिद होनेवाले सय्याह (नवीन विदेशी पथिक)को इस बातकी ज़रूरत है कि मुल्कमें रूशनास (परिचित) होने और अहले-मुल्क (देशवासियों) के दिलमें जगह करनेके लिये उसी मुल्ककी ज़बानमें गुफ्तगू करनी सीखे और अपनी वज़ा, सूरत और लिबास (चाल-ढाल और वेष-भूषा) की अजनबीयत (विचित्रता-विदेशीपन) को ज़बानके इत्तहादसे बिलकुल ज़ायल (तिरोहित-विनष्ट) कर दे, इसी तरह नये ख़यालातके शाइरको भी सख्त जरूरत है कि तर्ज़ बयानमें क़ुदमाकी (प्राचीनोंकी) तर्ज़-बयानसे बहुत दूर न जा पड़े, और जहांतक मुमकिन हो अपने ख़यालातको उन्हीं पैरायोंमें (परिष्कृत, अलङ्कृत प्रकारसे) अदा करे जिनसे लोगोंके कान मानूस हों और क़दमाका दिलसे शुक्रगुज़ार हो जो उसके लिये ऐसे मँझे हुये अलफ़ाज़ व मुहावरात व तशबीहात (उपमा) व इस्तआरात (रूपक) वग़ैराका ज़ख़ीरा छोड़ गये"

कविताकी भाषाके सम्बन्धमें मौलाना हालीने लिखा है—

"शाइरीका मदार (आधार) जिस क़दर अलफ़ाज़ (शब्द)पर है उस क़दर मानी—(भाव, अर्थ) पर नहीं, मानी कैसे ही बुलन्द (उच्च) और लतीफ़ (सूक्ष्म, सुन्दर) हों अगर उम्दा अलफ़ाज़में बयान नहीं किये जायँगे, हरगिज़

दिलोंमें घर नहीं कर सकते, और एक मुब्तज़ल (तुच्छ) मज़मून पाकीज़ा (परिष्कृत) अल्फ़ाज़ में अदा होनेसे क़ाबिल-तहसीन हो सकता है"—

पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूलीने भी रसगङ्गाधरमें काव्यका लक्षण यही किया है:—

'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

—रमणीय अर्थका प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।

हिन्दी-कविताको नये साँचेमें ढालनेकी इच्छा रखनेवाले हिन्दी-कवि हालीकी शैलीका अनुशीलन करें—उनके इस निर्दिष्ट मार्गपर चलें, तो अच्छा हो। उर्दू-कवियोंने हालीके रंगको अपना लिया है, बल्कि उसे और चमका दिया है। उर्दू-पत्रोंमें देश-भक्ति और अध्यात्मवादकी जो नज़्में निकलती हैं वह पढ़नेवाले भावुकको अपनी ओर खींचती हैं, दिलपर असर करती हैं, बार-बार पढ़नेको जी चाहता है। हिन्दीकी नवीन रचनाओंमें यह बात अभी नहीं आई, आये भी कहांसे! लानेकी कोशिश ही नहीं की जाती! उर्दूवाले कवितामें भावोंकी नवीनता भरते हैं, पर भाषा और रीति वही प्राचीन परिष्कृत है, उनकी गाड़ीकी गति बदल गई है—रफ्तारमें फ़र्क़ आगया है—पर धुरा और पहिये बदस्तूर वहीं हैं।

हमारे हिन्दीके नवीन कवियोंकी मति गति बिलकुल निराली है, वह कविताकी गाड़ीके धुरे और पहिये भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़ेमें पीछेकी ओर मरियल टट्टू जोतकर गन्तव्य पथपर

पहुँचना चाहते हैं। प्राचीनोंका कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उन्हें कोसनेमें ही अपना गौरव समझा जाता है, प्राचीन शैलीका अनुसरण तो एक ओर जान-बूझकर अनुचित रीतिसे उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीतिमें एकदम अराजकताकी घोषणा की जा रही है। यह उन्नतिका नहीं मनोमुखताका लक्षण है। इससे कविताका सुधार नहीं, संहार हो रहा है। सुधार उसी ढंगसे होना चाहिए जिसका निर्देश महाकवि हालीने किया है, और जिसके अनुसार उर्दूके नवीन कवियोंने अपनी कविताको सामयिकताके मनोहर साँचेमें ढालकर सफलता प्राप्त की है।

हिन्दीकी नवीन कवितामें भाषा, भाव, शैली सभी कुछ नया है—अपरिचित है। वह कुछ कह रहे हैं, यह तो सुन पड़ता है पर क्या कह रहे हैं यह समझमें नहीं आता:—

'अगर अपना कहा वह आपही समझे तो क्या समझे !
मज़ा कहनेका जब है, एक कहे और दूसरा समझे।'

(वह स्वयं भी अपना कहा समझते हैं कि नहीं, इसमें भी सन्देह है !)

वह कहते हैं—"बुलबुल बोलती है, मस्तीमें गाती है; कोई समझे न समझे, इससे उसे मतलब नहीं, वह अपने भावोंकी व्याख्या नहीं करती फिरती।"—ठीक है, पर बुलबुल अपने गीतोंको छपाती भी तो नहीं, उसके सचित्र और विचित्र संस्करण नहीं निकालती, न किसीसे प्रशंसा या दाद ही चाहती है, न-समझनेवालोंको कोसती भी नहीं—अपने प्रतिपक्षी शुक, सारिका और

कोकिल आदि पक्षियोंपर व्यङ्ग्य-बाण भी नहीं छोड़ती, उनका उपहास भी नहीं करती। फिर कवि तो 'हैवाने-नातिक़'—व्यक्तवाक्—प्राणी है, वह तो जो कुछ कहता है दूसरोंको समझानेके लिये—अपने भाव दूसरों तक पहुंचानेके लिये कहता है, वह 'स्वान्तःसुखाय' के उद्देशसे भी जो रचना करता है उससे भी और—दूसरे लोग—लाभ उठानेके अधिकारी हैं। भाषाका प्रयोजन भी तो शायद यही है—दूसरों तक अपने भाव पहुंचानेका साधन ही भाषाकी सर्वसम्मत परिभाषा है। जो बात किसीकी समझमें ही न आयेगी उसका प्रभाव ही क्या पड़ेगा! अज्ञेयता तो कविताका एक प्रधान-दोष है, प्राचीन आचार्योंने पहेलीकी गणना इसीलिये कवितामें नहीं की—

'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।'

कविताका गुण, प्रसाद और चमत्कार या प्रभावशालिता है, जिस काव्यमें जितना चमत्कार होगा वह उतनाही उत्कृष्ट और आदरणीय होगा, उर्दू-कविताकी परिभाषामें इन्हीं गुणोंका नाम 'फ़साहत' और 'बलाग़त' है, महाकवि अकबरने कहा है—

'समझमें साफ़ आजाये 'फ़साहत' इसको कहते हैं,
असर हो सुनने वालोंपर 'बलाग़त' इसको कहते हैं!'

रहस्यवाद हो या छायावाद, वह समझमें तो आना ही चाहिये, आख़िर उपनिषदोंका परम-रहस्य भी तो समझमें आता ही है! यह सच है कि भावकी गम्भीरता कभी कभी अर्थप्रतीतिमें बाधक होती है, श्रोताकी जड़तासे भी ऐसा होना सम्भव है, पर ऐसा किसी प्रसंगमें होता है, नहीं तो यही कहा जाताहै—

'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते।'

—यह वक्ता ही की जड़ता है कि श्रोता न समझ सके।

कविताके भी कुछ नियम हैं, नियम होने भी चाहियें। निःसन्देह कविको भी विधाता कहा गया है—पर विधाता भी नियति-परतन्त्र है—अपने नियमोंका पाबन्द है, सृष्टि-परम्पराके नियमोंका उल्लङ्घन वह भी नहीं करता—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।'

यह श्रुति इसमें प्रमाण है। कवि-विधाताओंको भी सृष्टि-विधाताका अनुगामी होना चाहिये, विश्वामित्रके समान अनावश्यक और निराली सृष्टि रचकर काव्य-पुरुषको त्रिशङ्कुकी तरह दयनीय दशामें न पहुंचाना चाहिये, साहित्य-क्षेत्रमें कुत्सित कर्मनाशाकी नई नदी न बहानी चाहिए।

कविमें आत्मप्रशंसा प्रायः होती ही है, पर यह गुण या दुर्गुण आजकलके कुछ नवीन कवियोंमें अत्यधिक मात्रामें बढ़ता जा रहा है, वह अपने सामने किसीको कुछ समझते ही नहीं, यह कुछ अच्छी बात नहीं है। महाकवि कालिदासने और गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने विनयकी पराकाष्ठा दिखलाई है, प्राचीन कवियोंके सामने अपनेको मन्द और मूढ़ कहा है, पर संस्कृतमें और हिन्दीमें इनसे अधिक किस आत्मश्लाघी कविका आदर है!

अपने नये कवियोंसे एक नम्र निवेदन है, वह क्षमा करें, बात कुछ कड़वी है, पर दिलका दर्द कराहनेके लिये मजबूर कर रहा है!—

'रखियो ग़ालिब मुझे इस तल्ख़-नवायीमें मुआफ़ ।
आज कुछ दर्द मेरे दिलमें सिवा होता है ।'

कविता-वल्लीको प्रतिभाके वारिसे सींचकर 'पल्लव' निकालिये, ख़ुशीसे उसकी छायामें बैठकर 'वीणा' बजाइये; पर काव्य-काननके कल्पवृक्षोंकी जड़पर—चन्दन, चम्पक और सहकार आदिके मूल-पर—कुमति-कुठार न चलाइये! यह अत्याचार असह्य है। आपको इनकी गन्ध नहीं भाती, शिकायत नहीं, अपनी पसन्द, अपनी रुचि—'कीजै कहा करतासे न चारो'—पर इनकी महकके मतवाले मधुप भी हैं, उन वृक्षोंपर न सही, इनपर ही दया कीजिये—'पल्लव' के नोकीले और ज़हरीले कांटे इनके दिलमें न चुभाइये, 'वीणा'में सोहनीके स्वर छेड़िए, 'मारू-राग' न बजाइये—

'अभ्यर्थये वितथ-वाङ्मय-पांशुवर्षै-
र्मा माविलीकुरुत कीर्त्ति-नदीः परेषाम्'

\+ + +

'बद न बोले ज़ेरे-गर्दूं गर कोई मेरी सुने,
है य गुम्बदकी सदा जैसी कहे वैसी सुने ।'

मैं नवीनताका विरोधी नहीं, समर्थक हूं। कोई सज्जन मेरे इस निवेदनको 'रहस्यवाद' पर आक्षेप न न समझें, मैं रहस्य-वादका परम प्रेमी हूं, उसकी खोजमें रहता हूं, कहीं मिल जाता है तो भावावेशकी सी दशामें पहुंच जाता हूं—सिर धुनता हूं और मज़े ले-लेकर पढ़ता हूं, जी खोलकर दाद देता हूं दूसरोंको सुनाता हूं।

पर हिन्दीकी नवीन रचनाओंमें ऐसा रहस्यवाद कम—पैसेमें पाईसे भी बहुत कम—सो भी कभी किसीकी रचनामें मिलता है, और वह भी उस दर्जेका नहीं जैसा उर्दू में तसव्वफ़का रंग है। मैं हिन्दीमें हृदयस्पर्शी उच्च कोटिके रहस्यवादका इच्छुक हूं, पहेलियोंसे बेशक पहलू बचाता हूं और कागजके पत्तेको पारिजातका पुष्प नहीं कहता। अपने नौ-जवान कवियोंसे अकबरके शब्दोंमें प्रार्थना करता हूं:—

'मगर एक इल्तमास इन नौ-जवानोंसे मैं करता हूं,
खुदाके वास्ते अपने बज़ुर्गोंका अदब सीखें।'

कवि-सम्मेलन

आज-कल कवि-सम्मेलनोंकी धूम है। किसी प्रसंगमें कोई भी उत्सव हो, उसके साथ कविसम्मेलनकी एक प्रथासी पड़ गई है, कविताके प्रचारकी दृष्टिसे यह प्रथा प्रशंसनीय है, हिन्दी कविताकी ओर शिक्षित समाजका ध्यान आकृष्ट हो रहा है, कविसम्मेलनोंसे इसका परिचय मिलता है। इन कविसम्मेलनोंमें नवाभ्यासी नवयुवक ही प्रायः सम्मिलित होते हैं और अपनी रचनाएँ पढ़ते हैं, उनके हृदयमें उत्साह है, इसमें सन्देह नहीं, पर वह कविताका नियमपूर्वक—'काव्यज्ञ-शिक्षया' अभ्यास नहीं करते, पढ़नेसे पहले उसके गुण-दोषपर गम्भीरतासे विचार नहीं करते, बुरी भली जैसी बन पड़ी, सुनाने लगते हैं, इससे कविता परिष्कृत नहीं होती। बहुतसे कवि तो अपनी इस आशु-कारितापर गर्व करते हैं—कविता

पढ़नेसे पहले यह कहनेकी कुछ चालसी पड़ गई है कि—'मुझे अभी अभी इधर आते हुए मार्गमें मालूम हुआ कि आज कवि-सम्मेलन है, बस चलते चलते ही यह पंक्तियाँ लिख ली हैं। आशा है आप ध्यानसे सुनेंगे और त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।' शालीनताके कारण श्रोता चुप-चाप सुन लेते हैं और प्रचलित प्रथाके अनुसार प्रोत्साहित करनेके लिए दिल खोलकर दाद भी दे डालते हैं, इससे यह आशुकवित्वका रोग और बढ़ रहा है, इस प्रवृत्तिको रोकना चाहिये। कविता कुछ हँसी मज़ाक़ नहीं है कि योंही चलते-फिरते बन जाय, सिद्ध और सतत-अभ्यासी कवियोंको भी घन्टों समाधि लगानी पड़ती है, तब कहीं अच्छी कविता बनती है, महाकवि 'अमीर मीनाई' आप बीती कहते हैं:—

'खुश्क सेरों तने-शाइर का लहू होता है,
तब नज़र आती है इक मिसरए-तर की सूरत।'

हमारे आशु-कवियोंके माथेपर पसीना भी नहीं आता और पलक मारते कविता-वाटिका लहलहाने लगती है!

उर्दू के कवि वर्षों अभ्यास करते हैं, उस्तादसे इसलाह लेते हैं, जब अभ्यास दृढ़ हो जाता है, उस्ताद आज्ञा देता है तब कहीं मशाइरोंमें जाकर पढ़ते हैं। 'काता और ले दौड़ी' की लोकोक्तिको चरितार्थ नहीं करते, इसीसे उनकी कविता सुन्दर सुघड़ और सुहावनी होती है।

नवाभ्यासी कवियोंको सद्यःकविताके चक्करमें पड़कर पथ-भ्रष्ट न होना चाहिये, पहले कवितासम्बन्धी ग्रन्थोंका अभ्यास करें,

प्राचीन उत्तम काव्योंका निरन्तर अनुशीलन करें, किसी सत्कविसे परामर्श—इसलाह लेते रहें अपनी रचनाको बार-बार समालोचक-दृष्टिसे देखते रहें, उसमें आवश्यकतानुसार काट-छाँट और परिवर्तन करते रहें। इस प्रकार सतत अभ्याससे जब कवितामें चमत्कार-चारुता और बन्ध-सौष्ठव आजाय तब इस अखाड़ेमें उतरें।

कविसम्मेलन कविताकी एक प्रदर्शनी है, प्रदर्शनीमें शिल्प-कलाके सर्वोत्कृष्ट नमूनेही रक्खे जाते हैं, निकृष्ट और भद्दे मालको कोई आँख उठाकर देखता भी नहीं। महात्मा गांधी सादगीके अवतार हैं, पर खादीप्रचारके लिये वह भी बारीक और सुन्दर सूत कातनेके पक्षपाती हैं, उनकी खादी-प्रदर्शनियोंमें वही सूत प्रशंसा पाता है जो उत्तम हो, वहाँ उलझा सुलझा, कहीं मोटा कहीं पतला, कहीं गठीला, तार-तार टूटा, कमज़ोर सूत पसन्द नहीं किया जाता। फिर कविसम्मेलनोंमें ही यह 'काता और ले दौड़ी' का रिवाज क्यों अच्छा समझा जा सकता है! कुछ हर्ज नहीं, यदि आजकी रचना आजही कविसम्मेलनमें न सुनाई जा सके, या किसी पत्रमें प्रकाशित न हो सके, इससे स्वराज्य-प्राप्तिमें कुछ भी बाधा न पहुंचेगी, न मुक्तिका द्वार ही रुद्ध हो जायगा। गवर्नमेन्ट भी इसके लिये कोई आर्डिनेन्स जारी न करेगी, न वह कविता ही बासी होकर बुस जायगी। निश्चय रखिये—शब्द नित्य है!

मुर्गी भी नियत समयतक अण्डा सेती है तब कहीं सही-सालिम बच्चा निकलता है, नहीं तो अण्डा गन्दा और निर्जीव हो

जाता है। तब क्या हमारे आशु-कवित्वाभिलाषियोंमें इतना—मुर्गी जितना—सब्र भी न होना चाहिए! प्राचीन और अर्वाचीन अनेक महाकवियोंके विषयमें सुना और देखा गया है कि वह प्रकाशित करनेसे पहले अपनी रचनाको बार-बार बराबर सुधारते और सँवारते रहे हैं, प्राचीन काव्योंकी प्रतियोंमें जो अनेक प्रकारके पाठान्तर मिलते हैं, यह भी इसीके सूचक हैं कि उन कवियोंने अपने काव्योंमें कई बार और कई प्रकारसे संशोधन और परिवर्तन किये थे।

योरपमें शेक्सपियर आदि महाकवियोंके हाथके लिखे हुए ऐसे काग़ज़ मिले हैं जिनमें कविताके पाठमें काट-छाँट और संशोधन परिवर्तन किये हुए हैं। उर्दूके सुप्रसिद्ध महाकवि सर 'इक़बाल'की एक कविताके बारेमें उनके अन्तरंग मित्र सर अब्दुल-क़ादिर लिखते हैं कि—

"मख़ज़नमें प्रकाशित करनेके लिये मैंने उनसे (इक़बालसे) एक नज़्म माँगी, उन्होंने कहा अभी कोई नज़्म तयार नहीं, मैंने कहा "हिमालय" वाली नज़्म दे दीजिये, उन्होंने उस नज़्मके देनेमें पसो-पेश (आगा-पीछा) की, क्योंकि उन्हें यही ख़याल था कि इसमें कुछ ख़ामियां (त्रुटियां) हैं, मगर मैं देख चुका था, इसलिये ज़बरदस्ती वह नज़्म उनसे ले ली।"

यद्यपि वह (हिमालय-शीर्षक) कविता बहुत पसन्द की गई, पर विद्वान् कवि उसे संशोधनीय समझकर छिपाये हुए थे, छपाना नहीं चाहते थे।

'काव्यमीमांसा'के आचार्यका मत है—

'वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्,
कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम् ।'

—कवि न होना अच्छा, पर कुकवि कहलाना अच्छा नहीं, कुकविता जीते-जीकी मौत है—अपकीर्तिका कारण है ।

प्रतिभा और व्युत्पत्तिसे सम्पन्न कवि ही कवि कहलानेका अधिकारी है, जैसा कि राजशेखरने लिखा है—

'प्रतिभा-व्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते ।'

इनमें 'व्युत्पत्ति' अभ्यास-साध्य है, पर 'प्रतिभा' ईश्वर-प्रदत्त शक्ति है, यह अभ्याससे बढ़ तो सकती है पर उत्पन्न नहीं की जा सकती । इस कारण कविता करनेसे पहले प्रतिभाशक्तिकी पड़ताल कर लेना अत्यावश्यक है, जिसमें यह स्वाभाविकी शक्ति न हो, उसे इस झंझटमें कभी भूलकर भी न पड़ना चाहिए, ठोक-पीटकर 'वैद्यराज' चाहे बन भी जाय, पर 'कवि-राज' कदापि नहीं बन सकता !

महाकवि क्षेमेन्द्रने काव्य-कण्ठाभरणमें लिखा है—

"यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः ।
तर्केण दग्धोऽनल-धूमिना वाप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः ॥
न तस्य वक्तृत्व-समुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः ।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः ॥"

—जो स्वभावसे ही पत्थरके समान है—सहृदयताशून्य है—कष्टप्रद व्याकरणके घोखनेमें ही जिसने सारी आयु बिता दी है

या कर्कश तर्कके अग्नि-धूमकी चर्चाने—(पर्वतो वह्निमान् धूम-वत्त्वात्) जिसकी सरसता जला दी है, और सुकवियोंके काव्योंसे जिसके कान पवित्र नहीं हुए हैं, उसे अच्छे प्रकारसे शिक्षा देनेपर भी कविता नहीं आ सकती। क्योंकि सिखानेसे भी गर्दभ गा नहीं सकता, दिखानेपर भी नेत्र-हीन सूर्यको देख नहीं सकता। उर्दू महाकवि हालीने भी यही राय दी है—

"जबतक शाइरकी फ़िक्रमें इतनी भी उपज न हो जितनी एक बयेमें घोंसला बनानेकी और मकड़ीमें जाला पूरनेकी होती है, उसको हर्गिज़ मुनासिब नहीं कि इस ख़याल-ख़ाममें अपना वक्त ज़ाया करे, बल्कि ख़ुदाका शुक्र करना चाहिए कि उसके दिमाग़में यह ख़लल नहीं है।"

हमारे कुछ नवीन हिन्दी-कवियोंके दिमाग़में यह ख़लल बहुत बढ़ रहा है, इसका कुछ इलाज होना चाहिए। कविता एक कुदरती —जन्मान्तरीण रोग है, इसे संक्रामक—छूतका रोग नहीं बनाना चाहिए। ऐसे ही प्रसङ्गपर किसी दिल-जले-विदग्धने कहा है—

"काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति,
ये त्वामुदीर्ण-पवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिब निवात-गृहं प्रविश्य,
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति॥"

निःसन्देह क्षेत्रिय-रोगके असाध्य रोगी—सिद्ध-कवि—इस उक्तिका अपवाद हैं, अतः क्षन्तव्य हैं। और इस अप्रिय सत्यके लिये 'उम्मीदवार रोगी' क्षमा करें!

अबसे कई वर्ष पूर्व युक्तप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके षष्ठ अधिवेशनपर अपने संभाषणमें मैंने वर्तमान हिन्दी-कविताके सम्बन्धमें जो निवेदन किया था तबसे दशा सुधरी नहीं और बिगड़ी ही है।

[इससे अगले अंशके लिये संभाषण (१) का "हिन्दीके वर्तमान कवि" उपशीर्षक पृष्ठ ३२३से पृष्ठ ३२६ तक देखिए]

ब्रजभाषाका विरोध

खड़ी बोलीके प्रचण्ड पक्षपाती या ब्रजभाषाके प्रबल विरोधी कुछ सज्जनोंकी यह धारणा है कि वीर-भावोंके प्रकाशनके लिये ब्रज भाषा उपयुक्त नहीं है, यह 'ज़नानी ज़बान' है, शृंगार रसकी लीला-के लिये ही यह गढ़ी गई है, इसमें केवल विरह-वेदनाका रोना ही रोया जा सकता है, प्रेम-पचड़ोंका राग ही अलापा जा सकता है, देशभक्ति और वीर रसके 'कड़खे' इसमें नहीं समा सकते। यहींतक नहीं, ब्रजभाषाके विरोधमें कुछ वीरपुङ्गव इससे भी आगे बढ़े हैं। उनका कहना है कि देशकी वर्तमान अधोगतिके—क्लीवता-संचार-के—कारणोंमें ब्रजभाषा भी एक कारण हुई है, इसकी कविताके प्रचारने हिन्दुओंको नपुंसक बना दिया। इस धारणाके दो कारण बतलाये जाते हैं, एक तो ब्रजभाषाकी स्वाभाविक मधुरता, दूसरा शृंगार रसके काव्योंकी अधिकता। निस्सन्देह ब्रजभाषा मधुर और वा कोमलकान्त-पदावली-वाली भाषा है, पर संसारमें और भी कई भाषा हैं जो मधुरतामें ब्रजभाषाके समकक्ष समझी जाती हैं, फ़ारसी भाषा एक ऐसी ही भाषा है, माधुर्यके आधिक्यसे इसका

नाम ही 'क़न्दे-पारसी' पड़ गया है। शृंगाररसकी कविता—इश्क़िया ग़ज़लोंके लिये फ़ारसी बेतरह बदनाम है, पर उसीमें महाकवि फ़िरदौसीका 'शाहनामा' भी है, जो वीररसका एक उमड़ता हुआ दरिया (नद) है, मधुरभाषाके इस महाकाव्य—शाहनामेपर महमूद ग़ज़नवी जैसा क्रूर वीर इतना मोहित था कि वीरभाव जागरित रखनेके लिये इसे सदा साथ रखता था, युद्धभूमिमें भी सिरहाने रखकर सोता था। यूरोपियन भाषाओंमें फ्रेंचभाषा सबसे अधिक मधुर कही जाती है, उसमें भी वीररसके काव्योंकी कमी नहीं। जगद्विजयी वीर नैपोलियनकी मातृभाषा यही मधुरभाषा थी, फ्रेंच-माधुरीका उपासक फ्रांस किसी भी कर्णकटु कठोर भाषा भाषी देशसे वीरतामें कम नहीं है।

कविमें कवित्वशक्ति चाहिये; वह किसी भी भाषामें समानरूपसे सफलतापूर्वक शृङ्गार और वीर रसका वर्णन कर सकता है, भाषा उसके भावोंको संकुचित नहीं कर सकती। जो लार्ड बायरन 'सुहाग रात' में अश्लीलताकी सीमाको उलङ्घन करनेवाले संयोग-शृंगारका नग्न चीत्र खींचकर पाठक पाठिकाओंके लाजके जहाजको शृंगार-रसकी खाड़ीमें डुबो सकता है, वही बायरन उसी भाषामें उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली वीररसकी कविता द्वारा यूनानको तुर्कोंके पराधीनता-पाशसे मुक्ति भी दिला सकता है!

आर्य-भाषाओंकी जननी संस्कृतभाषाका साहित्य शृंगाररससे भरा पड़ा है, शृङ्गार रसके इतने काव्य शायद ही संसारकी किसी ई पुरानी भाषामें हों, मधुरिमा भी इसकी अतुलनीय है, पर

रामायण और महाभारतके जोड़के वीररसके काव्य किस कड़वी और और कठोर भाषामें हैं ? जिस भाषामें आदि कविने करुणरसकी महानदी बहाई है, वीररसका उत्तुङ्ग-तरङ्गशाली शोणभद्र भी उसीमें हिलोरें ले रहा है ! ज्ञान-गंगाके उद्गम भगवान् कृष्णद्वैपायनका पञ्चम वेद (महाभारत) शान्त रसका प्रशान्त महासागर भी है और वीर रसका प्रलय-पयोधि भी !!

भारतकी आधुनिक भाषाओंमें वंगभाषा कोमलतामें कुछ कम नहीं है। इसके शृंगार रसके उपन्यासोंकी बाढ़ने भाषान्तरके रूपमें खड़ी बोलीको भी शराबोर कर रखा है, फिर भी उसमें वीररसके महाकाव्य 'मेघनाद-वध' की रचना हो सकती है। जो बात इन भाषाओंमें सम्भव है वह व्रजभाषामें ही क्यों असम्भव समझी जाती है ? इसलिये व्रजभाषा-विरोधियोंका उक्त तर्क कोरा हेत्वाभास है, अन्वय-व्यतिरेक द्वारा किसी प्रकार भी इसकी सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती । व्रजभाषामें अधिकतर काव्य शृंगाररसके ही हैं, यह ठीक है, पर इसमें भाषा बेचारीका क्या अपराध है ! यदि है तो उस समयकी लोक-रुचिका है, जब जैसी लोक-रुचि होती है वैसे ही काव्य बनने लगते हैं, जिस जिन्सकी माँग और खपत होती है वही बाज़ारमें आती है, तथापि व्रजभाषामें वीररसका सर्वथा अभाव नहीं है, अनेक प्राचीन कवियोंने व्रजभाषामें वीररसकी कविता की है इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। यथा—कुलपति मिश्रका द्रोणपर्व, रघुनाथ बन्दीजनका ४ जिल्दोंमें पूरा महाभारत, लाल-कविका छत्रप्रकाश, श्रीधर और चन्द्रशेखर वाजपेयीका हमीर-

हठ, पद्माकरको हिम्मतबहादुर-बिरदावली, श्रीधरका जंगनामा, भूषणका हजारा (जो दुर्भाग्यसे अब अप्राप्य है) और भूषण-ग्रन्थावली, तथा स्वर्गीय नकछेदी तिवारी द्वारा संगृहीत वीरोल्लास, इत्यादि वीररसके अनेक ग्रन्थ-रत्न आज भी प्राप्य हैं, महाकवि गंग और सेनापति आदिके बचे खुचे बहुसंख्यक फुटकर पद्य ब्रज-भाषाके विलुप्त वीरसाहित्यका पता अलग दे रहे हैं, पर इनके पढ़ने वाले कितने हैं ? शायद इन इने गिने उपलब्ध ग्रन्थोंकी संख्याके बराबर भी नहीं ! फिर आप ही इन्साफ़से कहिये यह किसका अपराध है ? भाषाका कि लोकरुचिका ? जिनकी कविताका मुख्य विषय वीररसका वर्णन था, उन्हें जाने दीजिए; महात्मा सूरदास-हीको लीजिये, वह शृंगार रसके मुख्य भक्त कवि थे, शृंगार, करुण, और वात्सल्य-रसमें ही उनकी कविता डूबी हुई है, फिर भी वीररसका जहाँ कहीं प्रसंग आगया है, चित्रसा खींच दिया है, भीष्म-प्रतिज्ञाका यह पद देखिये, कितना ज़ोरदार है—

"आजु जौ हरिहिँ न शस्त्र गहाऊँ,
तौ लाजौं गंगा जननीको सन्तनु-सुत न कहाऊँ।
सर धनु तोड़ि महारथ खंडौं कपिधुज सहित गिराऊँ,
पाण्डव सैन समेत सारथि सोणित सरित बहाऊँ।
जीवौं तो जस लेहुँ जगतमें जीत निसान फिराऊँ,
मरौं तो मण्डल भेदि भानुको सुरपुर जाय बसाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहि हरिकी छत्रिय गति हि न पाऊँ,
'सूरदास' रण विजय-सखाको जियत न पीठ दिखाऊँ ॥"

आधुनिक कवियोंमें श्रीभारतेन्दु, पं० प्रतापनारायणजी मिश्र, पं० नाथूराम शंकर शर्मा 'शङ्कर' और स्वर्गीय सत्यनारायणजी कवि-रत्न इत्यादिने विशुद्ध ब्रजभाषामें देशभक्तिपर बड़ी ओजस्विनी कविता की है। ब्रजमाधुरीके परम पारखी श्रीवियोगी हरि जीने 'वीर-सतसई' रचकर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि ब्रजभाषामें आज भी वीर-रसकी उत्तम कविता हो सकती है। कविके हृदयमें उत्साह भरा हो तो ब्रजभाषा भी अपना पराक्रम दिखा सकती है और उत्साह-हीन हृदयोंको खड़ी बोली भी उठाकर खड़ा नहीं कर सकती; ऐसोंको तो डिंगलका डंका भी नहीं जगा सकता !

सामयिक परिस्थिति और देशकी दशाका प्रभाव कवितापर भी अनिवार्य रूपसे पड़ता है, नायिका-भेदमें लीन विरह-वेदनासे मूर्छित शृंगारी कवि भी परिस्थितिसे विवश होकर वीणाकी मधुर झन्कारमें ऐसा मारू-राग अलापने लगते हैं, जो क्रान्तिका कारण बन जाता है, इतिहास इसका साक्षी है, समय पड़नेपर कुसुम-सुकुमारी कोकिल-कण्ठी कुल-ललनाओंने अपनी मधुर पर ओजपूर्ण भर्त्सनासे कायर पुरुषोंको पुरुष-सिंह बना दिया है, रणभीरुओंको समराङ्गणमें हँसते हँसते प्राणाहुति देनेपर उद्यत कर दिया है; जो काम प्रचण्ड रणवाद्य नहीं करा सका वह एक हृदयवेधी मधुरोपालम्भ और मीठी चुटकीने करा दिया है, मानव-हृदयके इसी रहस्यको लक्ष्यमें रखकर प्राचीन आचार्योंने काव्य-प्रयोजनोंमें 'कान्ता-सम्मितयोपदेशयुजे' को स्थान दिया है लेकिन नस्ल हृदयों पर राजाज्ञा

और गुरूपदेशका कठोर अंकुश असर नहीं करता वह भी कान्ताके कोमल कान्त परामर्शकी अवहेलना नहीं कर सकते। जो कविता या संगीत श्रोताकी हृत्तन्त्रीके तारको नहीं छू सकता—जिसमें हृदयङ्गमता नहीं है—वह चाहे जिस भाषामें हो, कविकी भावना कितनी ही उदात्त क्यों न हो, उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा, अरण्य-रोदन होकर रह जायगा। किसी भाषासे केवल इसलिये घृणा करना—उसे किसी कामकी न समझना कि उसमें ऐसी कविताकी अधिकता है जो मानव-चरितको उदात्त बनानेमें बाधक है, या चरितभ्रंशका कारण हुई है, ठीक नहीं है। राग-विद्याकी उपादेयतामें औंधी खोपरीके कुछ पुराने खूसटोंको छोड़कर किसी सहृदय विवेकीका मतभेद नहीं है, इसी राग-विद्या या संगीत-कलाको लीजिये, इसने न जाने कितने शौकीन नवयुवकोंको अपनी मादकतासे अनयके गर्तमें गिराकर नष्ट नहीं किया, विलासी अमीरोंकी नीच वासनाओंको उत्तेजना दे-देकर यह उनके सर्वनाशका कारण नहीं बनी, पर इससे क्या इन कलाओंकी उपादेयतामें किसी सहृदय विवेकीका मतभेद हो सकता है! संगीत-कलाका दुरुपयोग ही निन्द्य और त्याज्य है तथा उसका सदुपयोग अभिनन्दनीय और वाञ्छनीय है। जहां संगीत-कलाके दुरुपयोगसे अनेकोंका अनिष्ट हुआ है, वहां इसीके सदुपयोगसे परमानंद-पयोधिके मीन—अनिर्वचनीय आनंदमें लीन होनेवाले आदर्श महात्माओंकी संख्या भी कम नहीं है।

व्रजभाषाके वैष्णव कवियोंने उस समयके नृशंस शासकोंके

असह्य अत्याचारसे पीड़ित 'किंकर्तव्य-विमूढ़' हिन्दु-जातिके भग्न हृदयको अपने मधुर कीर्तनसे भयहारी असुरारि भगवानके चरणोंमें लगाकर जो उपकार किया है वह सहस्र मुखसे प्रशंसनीय है। उस समयकी परिस्थितिका ध्यान करनेपर ही इसका औचित्य समझमें आ सकता है, जबकि खुले शब्दोंमें अपने धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन करना—उत्तेजनाका एक शब्द भी मुंहसे निकालना—मौतको निमंत्रण देना था, नृशंसताके उस साम्राज्यमें—जहां यह कहनेवालेकी ज़बान काट दी जाती थी कि 'हिन्दुके लिये हिन्दु-धर्म और मुसलमानके लिये इस्लाम, दोनों सच्चे हैं',—रणभेरी बजानेका अवसर ही कहां था! निराशाके उस अपार सागरसे पार पानेका उपाय भगवद्भक्तिका प्रचार ही था, इसीने जातिकी डगमगाती नैयाको बचाया था, व्रजभाषामें भक्ति-भावना-भरी प्रेम-पूरित मधुर कविताके प्राधान्यका यह भी प्रधान कारण है।

नायिकाभेद और कुरुचि-संचारक साहित्यको जाने दीजिये, जो उपादेय है उसेही ग्रहण कीजिये, अपने प्राचीन साहित्यका संहार नहीं, सुधार कीजिये। हिन्दी भाषाका सिर आज भी अपने प्राचीन साहित्यके कारण ही ऊंचा है, तुलसी, सूर, केशव, विहारी, मतिराम, घनानन्द और देव आदि प्राचीन कवियोंको निकाल दीजिए और उसी शैलीकी आधुनिक कवियोंकी—भारतेन्दु आदिकी—कविताको पृथक् कर दीजिए, फिर देखिये हिन्दीके साहित्यमें कोरे उपन्यासोंके और भावहीन भद्दी तुकबन्दीके अतिरिक्त और क्या रह जाता है! बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओंका

वर्तमान साहित्य अन्य सब विषयोंमें राष्ट्रभाषा हिन्दीके साहित्यसे कहीं बढ़ा चढ़ा है। हिन्दीका गौरव प्राचीन साहित्य-पर निर्भर है, तुलसी और सूर आदि प्राचीन कवि-विधाताओंकी समानता करनेवाले कवि भारतकी अन्य किस भाषामें हैं! अपने आदरणीय प्राचीन साहित्यकी अवहेलना द्वारा हिन्दी भाषाकी इस विशेषताका विनाश न कीजिए। कोई भी प्राचीनताका पक्षपाती यह नहीं कहता कि नये ढंगके साहित्यका निर्माण न किया जाय, निवेदन इतना ही है कि उस विस्मृत साहित्यकी रक्षा की जाय, उसे विलुप्त होनेसे बचाया जाय। कविता खड़ी बोलीमें ही कीजिए, पर व्रजमाधुरीका स्वाद न भुलाइए, उसमें भी बहुत कुछ लेने लायक हैं, सदियों तक व्रजभाषा कविताकी भाषा रही है, आज भी अनेक सत्कवि उसीमें कविता करते हैं। व्रजभाषा मुरदा भाषा नहीं है, जैसा कि कुछ मनचले महाशय कह बैठते हैं, उसके बोलनेवाले अब भी लाखोंको संख्यामें हैं। व्रजभाषासे वर्तमान खड़ी बोलीका और उर्दूका घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बातको मौलाना आज़ाद आदि अनेक भाषा-विज्ञानी विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। उर्दूके पुराने कवि मीर, सौदा और इन्शाकी कविता पढ़िये, सबमें व्रजभाषाके ठेठ मुहावरे मिलेंगे, इन मुसलमान महाकवियोंको व्रजभाषाके शब्दोंसे इतना ही प्रेम था जितना आज-कलके कुछ हिन्दी-कवियोंको उनसे द्वेष है! यह अच्छे लक्षण नहीं हैं, सङ्कीर्णता या अनुदारता साहित्यकी और भाषाकी विघातक है।

अनिष्ट साहित्य

हिन्दीमें पद्यकी अपेक्षा गद्यकी दशा सन्तोषप्रद है, उसमें उपयोगी और आवश्यक साहित्यका निर्माण हो रहा है जो हिन्दी-के अभ्युदयका सूचक है। पर साथ ही कुछ साहित्य ऐसा भी बढ़ रहा है जो किसी प्रकार अभिनन्दनीय नहीं है, उससे सुधार और सुरुचि-संचारके स्थानमें कुरुचि और अनाचारका प्रचार हो रहा है। ऐसे साहित्यके निर्माताओंकी नीयतपर मैं हमला नहीं करता, वह समाजमें फैले हुए अनाचार और दुराचारके मूलो-च्छेदके उद्देशसे ही ऐसा कर रहे हैं, यह माना जा सकता है, पर अनाचारके रोकनेका यह उपाय अच्छा नहीं है। बायसकोपमें आत्महत्या, भीषण-डकैती आदि कुकर्मोंके जो रोमांचकारी दृश्य दिखाये जाते हैं, अनुभवी मनोवैज्ञानिकोंकी सम्मतिमें उनका परिणाम नासमझ नवयुवकों पर अच्छा नहीं, बुरा ही पड़ता है, जिन कुकर्मोंके दृश्य बायसकोप और सिनेमामें वह देखते हैं उनसे बचनेकी शिक्षा नहीं प्रत्युत उनमें (कुकर्मोंमें) फँसनेकी उत्तेजना मिलती है, समय समय पर समाचारपत्रोंमें ऐसी दुर्घटनाओंके समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। गन्दा साहित्य गन्दगीसे बचाता नहीं, उसमें और फँसाता है, दुराचारका नग्न चित्र—(भले ही वह दुराचारसे बचानेके लिये चित्रित किया गया हो) देखनेवालेके मनोविकारका ही कारण होता है। किसी रोगके नुसखेमें रोगके निदानका वर्णन ऐसे मनोमोहक और आकर्षक

ढंगसे नहीं लिखा जाना चाहिए जिसे पढ़कर भले चंगे आदमी भी उस रोगका अनुभव करनेको रोगी होनेके लिये उत्सुक हो उठें।

समाजके दुर्भाग्यसे कुछ भड़कीले और चमकीले 'पत्र' स्त्रीसमाजमें भी सदाचार-विघातक और स्वेच्छाचारोत्पादक अनिष्ट साहित्यका प्रचार नाना उपायोंसे कर रहे हैं। योरपके स्त्रीसमाज-की निरंकुशता और स्वच्छन्दता—(जिसके हाथों आज योरप भी तंग है) भारतीय कुल-ललनाओंमें भी लानेका भगीरथ-प्रयत्न किया जा रहा है और बुरी तरहसे किया जा रहा है। यह भार-तीय सदाचार और सभ्यतापर प्राणघाती आक्रमण है। भले आदमियोंको ऐसे पत्रोंका बायकाट उसी तरह करना चाहिए जैसे विदेशी वस्त्रका और मादक वस्तुओंका। यदि इसका प्रतिकार न किया गया तो एक दिन यह समाजको ले डूबेगा। शिक्षित समाजकी निन्दनीय उपेक्षासे साहित्यमें गन्दगीका यह रोग दिन-दिन बढ़ रहा है, देशके नेताओंका कर्तव्य है कि इससे समाजकी रक्षा करें, आश्चर्य है इस अनर्थको देखते हुए भी वह क्यों चुप हैं! इसके विरुद्ध घोषणा क्यों नहीं करते?

इस विषयमें प्रभावशाली पत्रोंकी उदासीनता भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। इस ओर तुरन्त ध्यान देनेकी आव-श्यकता है।

हिन्दी या उर्दू

बड़े बड़े भाषाविज्ञानवेत्ता विद्वानोंकी सम्मति है कि उर्दू और हिन्दीमें कोई ऐसा भेद नहीं है, उर्दूकी उत्पत्ति व्रजभाषासे हुई है,

हिन्दीने अभी उसीसे जन्म लिया है, दोनों जौड़िया बहनें हैं, शुरू शुरूमें हिन्दी उर्दू एक थीं, लिपिका भेद था। प्राचीन उर्दू कवियोंकी कविता पढ़िये, मीर-तक़ी, सौदा और सय्यद इन्शाने ठेठ हिन्दी मुहावरोंका इस अधिकतासे प्रयोग किया है कि आजकलके ठेठ हिन्दी लेखक भी वैसा नहीं करते। आज-कल इसपर विवाद होता है कि हिन्दी और उर्दू बिलकुल दो जुदा भाषा हैं, उर्दूके बहुतसे हिमायती तो हिन्दीका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, कहते हैं कि हिन्दी नामकी कोई भाषा न पहले थी न अब है, उर्दूके विरोधके लिये कुल कलहप्रिय हिन्दुओंने हिन्दीका नया बखेड़ा खड़ा कर दिया है। पर पहले लोग ऐसा न समझते थे, उनके मतमें ठेठ हिन्दी ही असली उर्दू थी। उर्दू कविताके बाबा आदम मीर-तक़ी एक जगह फ़र्माते हैं—

'क्या जानूं लोग कहते हैं किसको 'सुरूरे-क़ल्ब,
आया नहीं है लफ़्ज़ यह हिन्दी ज़बां के बीच।'

दुनियाकी मुसीबतोंसे मीर साहब हमेशा तंग रहे, उनके दिलका कमल कभी न खिला, यही बात उन्होंने शाइराना ढंगसे इस शेरमें ज़ाहिर की है—यानी 'सुरूरे क़ल्ब'-दिलकी खुशी मेरे लिए एक अजनबी—विदेशी शब्द है, मेरी 'हिन्दी' ज़बानका नहीं, मैं इसके अर्थ (वाच्य) से अपरिचित हूं—अर्थात् मेरी कभी सुखसे भेंट नहीं हुई।

सय्यद इन्शाने 'रानी केतकीकी कहानी' ठेठ हिन्दीमें यह प्रतिज्ञा करके लिखी है—

'जिसमें हिन्दी-छुट किसी और बोलीकी पुट न मिले'।

सय्यद इन्शाके बयानमें मौलाना आज़ादने आबेहयातमें इसी कहानीके बारेमें लिखा है—

'एक दास्तान नसर उर्दूमें ऐसी लिखी है कि एक लफ़्ज़ भी अरबी फ़ारसीका नहीं आने दिया, बावजूद इसके उर्दूके रुतबेसे कलाम नहीं गिरा'—

यह बात ध्यान देने लायक है, इन्शाकी प्रतिज्ञाके अनुसार जिस कहानीमें हिन्दी छुट और किसी बोलीकी पुट नहीं मिलने पाई, आज़ाद कहते हैं कि—'एक लफ़्ज़ भी उसमें अरबी फ़ारसीका नहीं आने दिया'—उस कहानीकी भाषा आज़ादकी रायमें अच्छी ख़ासी फ़सीह उर्दू है – उर्दूके रुतबेसे कलाम नहीं गिरा'—इसका इसके सिवा और क्या मतलब है कि ठेठ हिन्दी ही असली उर्दू है।

सय्यद इन्शाकी इस कहानीकी भूमिकासे एक बात और भी मालूम हुई कि उस वक़्त 'भाषा' या भाखासे हमारी इस वर्तमान खड़ी बोली या हिन्दी भाषाका ग्रहण नहीं होता था, 'भाखा' से व्रजभाषा मुराद थी और 'हिन्दी' से खड़ी बोली या उर्दू। इन्शा लिखते हैं—

'हिन्दीपन भी न निकले और भाखापन भी न छुट जाय'—

हिन्दी और उर्दूमें भेदकी बुनियाद उस वक़्तसे पड़ी जबसे उर्दूमें अरबी फ़ारसी शब्दोंका और हिन्दीमें संस्कृतके शब्दोंका आधिक्य बढ़ा, जिसमें फ़ारसी अरबीके शब्द अधिक हों, वह उर्दू

और जिसमें संस्कृतके शब्दोंकी भर-मार हो वह हिन्दी। इस तरह हिन्दी हिन्दुओंकी और उर्दू मुसलमानोंकी ज़बान समझी जाने लगी। हिन्दी-लेखक, फ़ारसी अरबीसे हिन्दीमें आये हुए शब्दोंका बायकाट करने लगे और उर्दू-लेखक ठेठ हिन्दी या संस्कृत शब्दोंका। यह तास्सुब यहाँतक बढ़ा कि साधारण बोलचालकी भाषापर भी इसका असर पड़ने लगा। इस सम्बन्धकी एक घटना मुझे अक्सर याद आ जाती है—

एक बार गाँवमें कूएँ पर दो मुसलमान लड़कियाँ पानी भर रहीं थीं, एककी उम्र कोई बारह साल होगी, दूसरीकी दस साल, छोटी लड़कीने बड़ी लड़कीसे बातों-बातोंमें कहा—'रात मैंने ऐसा सपना देखा था'। इसपर बड़ी लड़कीने झिड़ककर कहा—'अरी ख़्वाब देखा था, कह, सपना हिन्दू देखा करते हैं'!!—इस घटनाके बहुत दिन बाद हज़रत अकबरका एक पुरमानी शेर देखनेमें आया—

'ऐ बिरहमन! हमारा तेरा है एक आलम,
हम ख़्वाब देखते हैं तू देखता है सपना!'

उर्दूकी जन्मभूमि दिल्ली मानी जाती है, दिल्ली व्रजभूमिके समीप है, इसलिये व्रजभाषा और खड़ी बोलीका जितना असर दिल्लीकी उर्दूपर पड़ सका है उतना लखनऊकी शाखावाली उर्दूपर नहीं। लखनऊवालोंने जान बूझकर—प्रयत्नपूर्वक अपनी भाषामें दिल्लीकी भाषासे भेद किया है। मौलाना हाली अपने दीवानके मुकद्दमेमें लिखते हैं—

'××× जब दिल्ली बिगड़ चुकी और लखनऊसे ज़माना मुवाफ़िक़ हुआ और दिल्लीके अक्सर शरीफ़ खानदान और एक आधके सिवा तमाम नामवर शोरा लखनऊहीमें जा रहे और दौलत व सरवतके साथ उलूम क़दीमा ने भी एक खास हदतक तरक्क़ी की, उस वक्त, नेचरल तौरपर अहले-लखनऊको ज़रूर यह खयाल पैदा हुआ होगा कि जिस तरह दौलत और मन्तिक़ व फ़िलसफ़ा वग़ैरामें हमको फ़ौक़ियत हासिल है, इसीतरह ज़बान और लबो-लहजेमें भी हम दिल्लीसे फ़ायक़ हैं, लेकिन ज़बानमें फ़ौक़ियत साबित करनेके लिये ज़रूर था कि अपनी और दिल्लीकी ज़बानमें कोई अमर माबउल् इम्तियाज़ पैदा करते, चूंकि मन्तिक़ व फ़िलसफ़ा व तिब व इल्मे-कलाम वग़ैराकी मुमारसत ज़्यादा थी, खुद बखुद तबीयतें इस बातकी मुक़तज़ी हुई कि बोल-चालमें हिन्दी अलफ़ाज़ रफ्ता-रफ्ता तर्क और उनकी जगह अरबी अलफ़ाज़ कसरतसे दाखिल होने लगे, यहाँतक कि सीधी सादो उर्दू उमरा और अहले-इल्मकी सोसायटीमें मतरूक ही नहीं होगई बल्कि जैसा सक़ातसे (मौतबिर लोगोंसे) सुना गया है मायूब और बाज़ारियोंकी गुफ्तगू समझी जाने लगी, और यही रंग रफ्ता-रफ्ता नज़्म और नस्रपर भी ग़ालिब आगया" ।—

यह तो पुरानी बात हुई, जब लखनऊवालोंने दिल्लीकी उर्दूसे अपनी उर्दूकी शान बढ़ाई थी, आजकलके मुसलिम उर्दू लेखकोंने

तो इस कलामें और भी कमाल कर दिखाया है। इनके मुसलिम पत्रोंने तो विदेशी भावों और शब्दोंके प्रचारका ठेका ही ले रक्खा है। उन्हें पढ़ते हैं तो मालूम होता है कि भारतके नहीं, अरब फ़ारिस या टर्कीके पत्र पढ़ रहे हैं, उर्दू भाषाको क्लिष्ट और भ्रष्ट करनेमें मुसलिम पत्र (और उनकी देखा-देखी कुछ हिन्दू उर्दू पत्र भी) एक दूसरेसे बढ़े जा रहे हैं। उर्दूमें जो शब्द प्रचलित हो चुके थे उनकी जगह भी ढूंढ-ढूँढकर विदेशी अरबी टर्कीके शब्द भरती किये जा रहे हैं—'एडीटर' और 'एडीटरी'के स्थानमें 'मुदीर' और 'इदारत' लिखा जाता है, बायकाट या बहिष्कारकी जगह 'मक़ातअ' को मिली है, असहयोगसे 'तर्के-मवालात' हो ही चुका है! किसी भी मुसलिम पत्रको देखिये दर्जनों शब्द नये और अप्रचलित मिलेंगे जिन्हें सर्वसाधारण तो क्या पढ़े लिखे मुसलमान पाठक भी कठिनतासे समझते हैं और नहीं भी समझते। एक मुसलमान समालोचकके कथनानुसार—

'वह एक नई उर्दूका इन्तज़ाम कर रहे हैं जिसको उनकी औलाद भी महफ़ूज़ नहीं रख सकती'—

इस तरह यह मुसलिम पत्र हिन्दी ही से नहीं, उर्दूसे भी उर्दूको अलग करनेमें दिनों-दिन बड़ी मुस्तैदीसे लगे हैं। वह ख़ालिस मुसलिम संस्कृतिके प्रचारक हैं, भारतीयतासे उनका इतना ही वास्ता है कि भारतमें प्रकाशित होते हैं और बस। हिन्दी पत्रोंमें उर्दू और फ़ारसी साहित्यपर बराबर लेख निकलते हैं, उर्दू कविताएँ उद्धृत होती हैं। हिन्दीमें प्राचीन और नवीन उर्दू काव्योंका

सार-संग्रह प्रकाशित होता है, पर उर्दू मासिक पत्रोंमें हिन्दी या संस्कृत साहित्यकी चर्चा तक नहीं की जाती, इतनेपर भी सारा दोष हिन्दुओं और हिन्दी पत्रोंके ही सिर मढ़ा जाता है ! 'ज़माने'के जुबली नंबरकी आलोचना करते हुये, गोरखपुरके मुसलिमपत्र 'मशरिक़'ने टिप्पनी चढ़ाई है—

"हम उन सखुनसंज व सखुनशनास हिन्दु असहाबके शुक्रगुज़ार हैं जो बावजूद मालवी-परस्ती और हिन्दूसभाके इक्त़दारके उर्दू अदबके शैदा और हिन्दू मुसलिम इत्तहादके सच्चे आशिक़ नज़र आते हैं।"

'मशरिक़'के सम्पादकको इसपर सन्तोष नहीं है कि एक हिंदू-ने उर्दू साहित्यकी इतनी सेवा की है, जितनी किसी मुसलमान लेखकने भी नहीं की, वह चाहता है कि सब हिन्दू इसी तरह उर्दू ही के प्रचारमें लग जायँ, वह मुसलमान भाइयोंसे यह अनुरोध नहीं करता कि वह भी हिन्दीकी ऐसी ही सेवा करें जैसे हिन्दू उर्दूकी करते हैं, यदि हिन्दू अपनी संस्कृतिकी रक्षा और अपने साहित्यका प्रचार करते हैं तो 'मालवी-परस्ती'में मुब्तला हैं ! एकताके विरोधी हैं ! कैसा विचित्र और निष्पक्ष न्याय है ! अतुलनीय तर्क है !!

हिन्दोस्तानी

हिन्दी और उर्दूके विवाद-वृक्षमें एक नई शाखा फूटी है, एक नवीन आन्दोलन उठा है, हिन्दू-मुसलमानोंको हिन्दी और उर्दूके लिये लड़ता देखकर दिल्लीकी एकता-परिषदमें लीडरोंने फ़तवा दिया है—भाषाका नया नामकरण-संस्कार किया है—कि न

हिन्दी कहो, न उर्दू, दोनोंका एक नाम हो, 'हिन्दोस्तानी'। अच्छी बात है, पर इससे क्या यह विवाद शांत हो जायगा ? पंचोंका कहा सिर-माथेपर पर परनाला तो वहीं बहेगा ! भोले भाले हिन्दू भाई भले ही मान जायँ पर क्या मुसलमान भाई इसे स्वीकार करेंगे ? जब वह सदियोंसे प्रचलित उस हिन्दी नामका विरोध करते हैं जिसे मीर-तक़ी, इन्शा और आज़ाद जैसे मुसलिम विद्वानोंने उचित समझकर प्रयुक्त किया है, फिर वह उर्दूकी जगह 'हिन्दोस्तानी'को कैसे दे देंगे ! आख़िर 'हिन्दी नाम भी तो हिन्दुओंका रक्खा हुआ नहीं है, भारतकी राष्ट्रभाषाका यह नाम तो मुसलमानोंने ही रक्खा था, बहुतसे हिन्दू-विद्वान् इस नामके विरोधी थे, वह इसकी जगह देवनागरी, भाषा या 'आर्य-भाषा' कहना पसन्द करते थे, आर्यसमाजने तो हिन्दी नामका बहुत दिनोंतक विरोध किया था, पर अब उसने भी समझौतेके ख़यालसे इसे स्वीकार कर लिया है। 'हिन्दोस्तानी' नाम तो हमारे शासकोंके दिमाग़की उपज है, इसकी अनुपादेयतामें यही एक कारण पर्याप्त है। यदि यह नया नाम दो जातियोंकी एकताका साधन होता तो वह इसे पसंद करके अपनी ओरसे क्यों पेश करते ! आश्चर्य है यह मोटी बात एकता-परिषदवाले महानुभावोंको क्यों न सूझी ! सच है—

> 'योरप वाले जो चाहें दिलमें भर दें,
> जिसके सर पै जो चाहें तोहमत धर दें।
> बचते रहो इनकी तेज़ियोंसे 'अकबर'
> म क्या हो ख़ुदाके तीन टुकड़े कर दें।'

गवर्नमेन्टने अपनी भेद-नीतिका परिचय इसी प्रकार अनेक बार दिया है, मनुष्य-गणनामें नये नये कल्पित नामोंसे अनेक नई जातियां खड़ी कर दी हैं। 'हिन्दोस्तानी' नामसे हिन्दी उर्दूका भेद दूर न होगा, बल्कि एक तीसरी भाषा और उत्पन्न हो जायगी। जिसे 'सरकारी बोली' कहना उचित होगा। 'स्टैन्डर्ड टाइम'की तरह गवर्नमेन्ट 'स्टैन्डर्ड-भाषा' भी प्रचलित करना चाहती है, यह इसीका सूत्रपात है, यदि यह चाल चल गई तो हिन्दी उर्दू-साहित्यका सर्व-संहार हो जायगा। उर्दू हिन्दी दोनों 'बहक्क सरकार ज़ब्त' हो जायँगी। यह नया नाम किसी प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं है, इस प्रस्तावका प्रतिवाद होना चाहिये। 'हिन्दी' जैसे व्यापक और प्रचलित नामको छोड़कर—जिसके प्रयोगसे समस्त साहित्य भरा पड़ा है, जो अनेक संस्थाओंके नामोंमें इस प्रकार सम्मिलित हो चुका है कि पृथक् नहीं किया जा सकता; एक नया और सन्दिग्ध नाम ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। 'हिन्दी' कहनेसे केवल हिन्दी-भाषाहीका बोध होता है, 'हिन्दोस्तानी' में यह बात नहीं है, इसके साथ जब तक 'भाषा' 'ज़बान' या 'बोली' शब्द न जोड़ा जायगा, काम न चलेगा, अन्धेको न्यौतकर दो जने बुलाने पड़ेंगे!

बिहारमें उर्दूका विवाद

बिहारमें जो हिन्दी-उर्दूका आन्दोलन उठा है इसमें भी गुप्त-रूपसे गवर्नमेंटकी भेद-नीति काम कर रही है। मुसलमान भाई ज़रा शान्तचित्त होकर इसपर विचार करें तो उन्हें मालूम हो जायगा

कि इससे लाभके बदले हानि ही होगी, यदि बिहारमें यह आन्दोलन सफल हो गया तो पंजाब और सिन्धमें हिन्दी और नागरी लिपिके लिये आन्दोलन प्रारम्भ होगा, जहां इस समय उर्दू का साम्राज्य है। बिहारमें तो मुसलमानोंको उर्दू पढ़नेकी स्वतंत्रता पहले ही से है, अदालतोंकी भाषा भी उर्दू ही है, सिर्फ़ लिपि नागरी है, इससे अच्छा समझौता और क्या होगा! पंजाब और सिन्धमें तो इतना सुभीता भी नहीं कि हिन्दू अपने बच्चोंको सरकारी स्कूलोंमें हिन्दी पढ़ा सकें, वहां तो 'श्रीमान्' और 'निवेदन' शब्दोंके प्रयोगपर भी आपत्ति की जाती है! यदि बिहारमें अल्पसंख्यक मुसलमानोंको यह अधिकार मिलना न्यायसंगत समझा जाता है तो फिर सिन्ध और पंजाबमें हिंदुओंको यही अधिकार क्यों न दिया जाय? पंजाबमें हिन्दुओंके सब पत्र उर्दूमें ही निकलते हैं, क्या बिहारके मुसलमान भाई उसी अनुपातसे बिहारमें हिंदी-पत्र निकालनेको तैयार हैं?

साहित्य-सम्मेलनकी स्वागत-समितिके मंत्री महोदयने मुझे सूचना दी थी कि सभापतिके भाषणमें हिंदी-उर्दूके नये विवादपर भी (जो बिहारमें इस समय चल रहा है) कुछ अवश्य कहा जाय, इस आवश्यक विषयपर प्रकाश डालनेका मेरा विचार स्वयं भी था, इसके लिये उन्होंने 'देश'में इस विषय पर प्रकाशित लेखमाला पढ़नेकी सम्मति भी दी, तदनुसार मैंने अपने विद्वान् मित्र प्रोफ़ेसर बदरीनाथ वर्मा (एम० ए०, काव्यतीर्थ) 'देश'-सम्पादकको 'देश'के वह अङ्क भेजनेके लिये लिखा, उन्होंने ढूंढ-भालकर वह अङ्क भी

भेजे और बिहार-प्रांतीय साहित्य सम्मेलनके सभापतिके पदसे दिए हुए अपने सुन्दर भाषणकी कापी भेजनेकी भी कृपा की, मैंने उस लेखमाला और भाषणको पढ़ा तो मुझे वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और पठनीय प्रतीत हुआ। हिंदीभाषा और देवनागरी लिपिपर इतना विशद विवेचन हिंदीमें किसी एक जगह देखनेमें नहीं आया, विद्वान् लेखकने भाषा और लिपिके प्रश्नकी चतुरस्र मीमांसा बड़ी योग्यतासे की है। इस विषयपर इससे कम कहनेसे काम नहीं चल सकता था, इस कारण मैंने अपने भाषणमें इसपर विस्तारसे कहनेका विचार छोड़ दिया, व्यर्थ पिष्ट-पेषण होता, कोई बात इस संबंधमें कहनेको बाक़ी नहीं रही थी, मुझे इतना अवकाश और समय भी न था। मैंने वर्माजीसे अनुरोध किया कि यह लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित करके सम्मेलनके अधिवेशनपर वितीर्ण की जाय तो भाषा और लिपिकी कठिन समस्याको सुलझानेमें सुगमता होगी। हर्षकी बात है कि वर्माजीने मेरी बात मान ली—वह लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित कर दी। सम्भव है उसके किसी अंशपर किसीको मतभेद हो, पर विवेचना बड़ी सहृदयता और व्यापक दृष्टिसे की गई है, समझौतेकी कोई बात सुझानेसे रह नहीं गई है, राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपिके बारेमें किसीको कुछ कहनेकी गुंजाइश नहीं छोड़ी है। मेरा अनुरोध है कि प्रत्येक हिन्दी-हितैषी और देशभक्त उसे ध्यानसे पढ़े और राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्र-लिपिके इस विवादको (जो दुर्भाग्यसे इस समय विशेष रूपसे बिहारमें चल रहा है) समुचित रूपसे शान्त करनेमें सहायक हो।

हमारे मुसलमान भाइयोंको यह भ्रम हो गया है कि हिंदू उर्दूका विरोध करनेके लिये ही हिंदीका प्रचार कर रहे हैं, उन्हें जानना चाहिए कि आज भी लाखों हिंदू उर्दू पढ़ते लिखते हैं, हिंदुओंने उर्दूकी सेवा मुसलमानोंसे कम नहीं की, उर्दूका सर्वश्रेष्ठ मासिकपत्र 'ज़माना' एक हिंदू विद्वानकी सम्पादकता हीमें एक ज़मानेसे निकल रहा है। हिंदुओंमें आज भी मुन्शी सूर्यनारायण साहब 'महर', पं० ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' और 'बिस्मिल' जैसे उर्दूके महाकवि और कवि मौजूद हैं, दूर जानेकी क्या ज़रूरत है आपके इस मुज़फ्फ़रपुरमें ही श्रीयुत प्रोफ़ेसर अवधविहारी सिंहजी अरबी फ़ारसीके पारदर्शी विद्वान् वर्तमान हैं, जिनके जोड़के विद्वान् मुसलमानोंमें भी दो चार ही निकलेंगे! क्या मुसलमान भाई बतला सकते हैं कि उनमें संस्कृत और हिंदीके कितने पण्डित हैं? कितने कवि और लेखक हैं, वह हिंदीकी कितनी सेवा कर रहे हैं! भारतके करोड़ों मुसलमानोंमें श्रीयुत 'मीर' मूनिस, मुन्शी अजमेरीजी और ज़हूरब ख़्शके सिवा हिंदीसेवाके लिये और कितने सज्जनोंके नाम लिये जासकते हैं! मैं मुसलमान भाइयोंपर ही इसका इन्साफ़ छोड़ता हूं और उनसे पूछता हूं—

'तुम्हें तक़सीर मेरी है कि मुसलिमकी ख़ता लगती,
मुसलमानो! ज़रा इन्साफ़से कहना ख़ुदा लगती।'

अपने मुसलमान भाइयोंका ध्यान महाकवि अकबरकी इस सारगर्भित और तथ्य-पूर्ण उक्तिकी ओर दिलाता हूं और प्रार्थना करता हूं कि वह इस सचाईको समझें—

'हिन्दू व मुसलिम एक हैं दोनों,
यानी यह दोनों एशियाई हैं,
हम-वतन हम-ज़बां, व हम-क़िस्मत,
क्यों न कह दूं कि भाई भाई हैं।'

शिक्षाका माध्यम

कोई देश भी मातृभाषाको शिक्षाका माध्यम बनाये बिना सुशिक्षित नहीं हो सकता, भारतको छोड़कर संसारका कोई ऐसा अभागा देश नहीं है, जहां विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती हो। भारतके सरकारी विद्यालयोंमें सब विषयोंकी उच्च शिक्षा अंग्रेज़ी ही में दी जाती है, जिससे विद्यार्थियोंका आधेसे अधिक समय भाषाकी तोता-रटन्तमें नष्ट हो जाता है। उच्च शिक्षाकी समाप्ति तक वह अपने स्वास्थ्यसे हाथ धो बैठते हैं। फिर भी उन विषयोंमें उतने निष्णात नहीं होते। यहां जिन विद्यालयोंमें शिक्षाका माध्यम मातृभाषा है, उनमें कांगड़ीका गुरुकुल विश्वविद्यालय मुख्य है, यहां सब विषयोंकी शिक्षा मातृभाषा हिन्दी ही में दी जाती है, इसीसे उच्च शिक्षाका जो कोर्स दूसरे विद्यालयोंमें ६ वर्षमें पूरा होता है, वह इस गुरुकुलमें ४ वर्षमें ही समाप्त हो जाता है। दूसरे विश्व-विद्यालयोंमें जो कई पुस्तकें बी० ए० के कोर्समें नियत हैं वह यहां एफ० ए०में पढ़ाई जाती हैं और विद्यार्थी बड़ी सफलतासे उनमें उत्तीर्ण होते हैं, बाहरके विद्वान् परीक्षकोंने अनेक बार इसपर सन्तोष प्रकट किया है और इस बातको स्वीकार किया है कि मातृभाषाके माध्यम ही का यह महत्त्व है।

निःसन्देह गुरुकुलके स्नातकोंकी अंग्रेज़ी भाषामें उतनी ऊंची योग्यता नहीं होती जितनी सरकारी विद्यालयोंके ग्रेजुएटों की, पर अंग्रेजीभाषामें असाधारण योग्यता-लाभ तो शिक्षाका उद्देश्य नहीं है !

गवर्नमेंट तो अंग्रेज़ीभाषाकी शिक्षा किसी और ही उद्देश्यसे देती है, उस उद्देशकी व्याख्या महाकवि अकबरने की है—

"नौकरको सिखाते हैं मियाँ अपनी ज़बान,
मतलब यह है कि समझे उनके फ़र्मान।
मक़सूद नहीं मियां की सी अक़्लो-तमीज़,
इस नुकते को क्या वह समझें जो हैं नादान"।

दुर्भाग्य है कि राष्ट्रिय शिक्षाका इतना देश-व्यापी घोर आन्दोलन होनेपर भी यह 'नादानी' अभी दूर नहीं हुई। अङ्गरेज़ी-भाषाकी शिक्षाके पक्षपातियोंने 'मियां' (स्वामी, सरकार)के मतलब-को अबतक समझा नहीं, शिक्षाप्राप्तिका लक्ष्य अभी तक पास होकर अंग्रेजीका ग्रेजुएट बनना ही समझा जा रहा है, अर्थात्—

'असमाल' नहीं 'ग्रेट' होना अच्छा,
दिल होना बुरा है पेट होना अच्छा।
पण्डित हो कि मौलवी हो दोनों बेकार,
इन्सान को ग्रेजुएट होना अच्छा।'

अंग्रेजीभाषाके 'ग्रेजुएट' बननेका यह महामोह शिक्षाके लिये सचमुच साढ़-सतीका 'शनैश्चर' है। जबतक इससे पिण्ड न छूटेगा भारत शिक्षित न होगा, और यह तभी होगा जब सब विषयोंकी

शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जायगी। समस्त देशके लिये शिक्षाका माध्यम बननेकी पात्रता यदि किसी भाषामें है तो राष्ट्रभाषा हिंदी हीमें है। शिक्षा-विज्ञानके समस्त विद्वान् इसपर सहमत हैं। खेद है कि इस महत्त्वपूर्ण विषयके लिये जिस भगीरथ-प्रयत्नकी आवश्यकता है वह नहीं हो रहा, कोरे प्रस्ताव पास होकर ही रह जाते हैं। हिन्दीसाहित्य-सम्मेलनका और शिक्षाप्रेमी देशभक्तोंका परम कर्तव्य है कि अपनी सब समवेत शक्ति हिन्दीको शिक्षाका माध्यम बनानेमें लगावें।

हिन्दीके साथ ही हमें अपनी अमरभाषा देववाणी संस्कृतको भी न भुलाना चाहिए, उसकी शिक्षाके बिना हिन्दूजातिकी गति नहीं, समस्त आर्यभाषाओंकी जननी संस्कृत ही है, हमारे पूर्वजोंका इतिहास, हमारी संस्कृतिका आदर्श संस्कृतमें ही है, हिन्दीका शब्द-भण्डार भरनेके लिये भी संस्कृत-शिक्षाकी अत्यन्त आवश्यकता है। यही नहीं, अंग्रेजीभाषाको जो स्थान भारतमें इस समय प्राप्त है, वह संस्कृतको मिलना चाहिये, भारतके शिक्षित समुदायकी एक भाषा संस्कृत ही हो सकती है। दक्षिणके एक विद्वान् मुसलमानने इस बातको मुक्तकण्ठसे अभी उस दिन भरी सभामें स्वीकार किया है।

हिन्दी साहित्यकी प्रगति

यह देखकर सन्तोष और हर्ष होता है कि हिन्दीका साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। हिन्दीके मासिक पत्र और

पत्रिकाएँ, सरस्वती, माधुरी, सुधा, विशाल-भारत, त्यागभूमि, समन्वय, विद्यार्थी, महारथी और सरोज इत्यादि साहित्यकी आदरणीय सेवा कर रहे हैं। हिन्दीके दैनिक पत्रोंकी दशा भी बहुत सन्तोषप्रद है; हमारे आज, स्वतन्त्र और विश्वमित्र, किसी भी प्रान्तीय भाषाके दैनिकोंसे मुक़ाबला कर सकते हैं। हिन्दू-संसार, वर्तमान और अर्जुनका दम भी दैनिकोंमें ग़नीमत है। साप्ताहिक पत्रोंमें प्रताप, अभ्युदय, श्रीकृष्णसन्देश, देश, स्वदेश, लोकसंग्रह, शिक्षा, हिन्दी वंगवासी, श्रीवेंकटेश्वर-समाचार, कर्मवीर, आर्यमित्र, महावीर और सैनिक सभी अपनी अपनी जगह सफलतासे सँभाले हुए हैं—राष्ट्रकी और राष्ट्रभाषाकी उन्नतिमें तत्पर हैं। हास्यरसकी पूर्तिमें 'मतवाला' मुख्य है, इसकी नोक झोंक 'अवध पंच' की याद दिलाती है। मतवाला बेहोशीमें भी होशियारीका काम कर रहा है। 'हिन्दू-पंच' भी इस मैदानमें उसके पीछे पीछे है। शिशु-साहित्यके निर्माणका वालसखा, बालक, खिलौना और शिशु, अभिनन्दनीय उद्योग कर रहे हैं। साहित्य-प्रचारक संस्थाओंमें काशीका ज्ञानमण्डल, प्रयागका इन्डियन प्रेस, लखनऊकी गंगापुस्तकमाला, कलकत्तेकी हिन्दी-पुस्तक एजेंसी, बंबईका हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय, बांकीपुरका खड्गविलास प्रेस और लहरियासरायका पुस्तक-भंडार, हिन्दीका भंडार भर रहे हैं, अजमेरसें सस्ता-साहित्य-मण्डलने साहित्यको सस्ता और सुलभ करनेका बीड़ा उठाया है।

काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभा तो हिन्दी आन्दोलनकी

जननी ही है; नागरीके प्रचारका सर्वाधिक श्रेय उसे ही प्राप्त है, अनेक प्राचीन ग्रंथोंके प्रकाशनके अतिरिक्त हिन्दी पुस्तकोंकी खोजका काम भी उसीने सबसे पहले प्रारम्भ किया है। उसकी त्रैमासिक पत्रिका भी हिन्दीमें अपने ढंगकी एक ही है। नागरीप्रचारिणीके सर्वस्व उद्योगवीर श्रीश्यामसुन्दरदासजीकी हिन्दीसेवाके सम्बन्धमें जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

यह देखकर हर्ष होता है कि कुछ उच्च कोटिके विद्वान् भी हिन्दीको अपनाने लगे हैं—यानी पी०एच०डी० उपाधिधारी विद्वान् भी अब हिन्दीमें कुछ लिखने लगे हैं। श्रीयुत डाक्टर मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी० ने 'भाषाविज्ञान' पर पुस्तक लिखकर हिन्दीको गौरवान्वित किया है।

व्रजभाषाके इस विरोध-कालमें भी इस बीचमें व्रजभाषाके दो उत्तम काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हो ही गये—इससे पता चलता है—'अभी कुछ लोग बाक़ी हैं जहाँमें'। कविवर और सुहृद्वर श्रीयुत रत्नाकरजीके 'गंगावतरण' ने अपने अवतरणसे कविताक्षेत्रको गंगाके समान पवित्र किया है, 'गंगावतरण' एक उत्तम कोटिका पठनीय काव्य है। श्रीवियोगीहरिजीकी 'वीरसतसई' तो श्रीमंगलाप्रसाद-पारितोषिक पाकर मैदान मार ही चुकी है, उसकी चर्चा तो इस प्रसंगमें पुनरुक्त है। श्रीयुत पं० कृष्णविहारी मिश्रजी भी इस प्रसंगमें स्मरणीय हैं, वह अपने 'समालोचक'में व्रजभाषाके प्राचीन साहित्यकी चर्चा बराबर करते रहते हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर हिन्दीसाहित्यकी दशा सन्तोष-

जनक है। फिर भी किसी बातकी कमी है जो जीमें खटक रही है, हिन्दीमें सितारे-हिन्द, भारतेन्दु, सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त, बा० बालमुकुन्द गुप्त और श्रीगुलेरीजी जैसे विद्वान् और हृदयहारी आदर्श लेखक न जाने अब क्यों पैदा नहीं होते! इस दृष्टिसे तो हमारा साहित्य-शकट वहीं है, जहाँ यह लोग छोड़ गये थे!

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन—

ने बहुत काम किया है। पर अभी दिल्ली दूर है। जो कुछ अबतक हुआ है वह भूमिकामात्र है। परीक्षा और प्रचारके काममें सम्मेलनको अच्छी सफलता प्राप्त हुई है, इससे हिन्दी-संसारमें एक जागृतिसी पैदा हो गई है। सम्मेलनके नाम और कामका प्रचार पर्याप्त हो चुका, अब जो कर्तव्य है उसकी ओर अग्रसर होना चाहिए। सम्मेलनके सामने इस समय मुख्य काम ये हैं— हिन्दी-विद्यापीठ, संग्रहालय, इतिहासका निर्माण और प्राचीन साहित्यका प्रकाशन। श्रीअवध उपाध्यायजीके सहयोगसे विद्यापीठकी शिक्षाका काम चल रहा है, कृषिके लिये भूमि भी बहुत अच्छी मिल गई है, आशा है, शीघ्रही कृषिका कार्य चल निकलेगा।

संग्रहालय और इतिहासके लिये अभी कुछ नहीं हुआ, खाली प्रस्ताव ही होकर रह गये हैं। यह दोनों ही काम जितने आवश्यक हैं उतनेही व्यय-और परिश्रम-साध्य हैं, इसके लिये विद्वानोंकी और उदार दानियोंकी समवेतशक्ति अपेक्षित है, केवल सम्मेलन-कार्यालय और मन्त्री मण्डलहीको इसके लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, मन्त्री-मण्डलके हाथमें खाली दफ़्तरके

सिवा और क्या है ? कोई भी मन्त्री-मण्डल हो जबतक उसे बाहरसे यथेष्ट सहायता न मिलेगी कुछ न होगा। इसमें स्वार्थ-त्यागी और सुसमर्थ सहायकोंकी सहायता अपेक्षित है जो सम्मेलनको अभी प्राप्त नहीं हो सकी, सम्मेलनके हितैषियोंका कर्तव्य है कि परस्परके सब मतभेद भुलाकर संग्रहालयकी पूर्ति और इतिहास-निर्माणके महत्त्वपूर्ण कार्यमें अपनी सारी शक्तियों समेत लग जायँ। दक्षिण भारतमें हिन्दी-प्रचारके कामसे सम्मेलनको छुट्टी मिल गई है, यह उचित हुआ या अनुचित, इसपर विचार करनेसे अब कुछ लाभ प्रतीत नहीं होता। जो कुछ हुआ, हो गया, उसकी चिन्ता छोड़कर सम्मेलनको अब अपनी शक्ति प्राचीन साहित्यके उद्धार और प्रचारमें लगा देनी चाहिए। सबसे पहले 'सूरसागर' का सम्पादन और प्रकाशन आवश्यक है, यह ग्रन्थ-रत्न आजकल अप्राप्य हो रहा है, 'सूरसागर'का एक भी प्रामाणिक और विशुद्ध संस्करण आजतक प्रकाशित नहीं हो सका, यह साहित्य-सेवियोंके लिये कलंक और दुर्भाग्यकी बात है। प्राचीन साहित्यके और भी अनेक सद्ग्रन्थ छिपे पड़े हैं, जो अबतक एकबार भी कहीं प्रकाशित नहीं हुए; कुछ ऐसे हैं जो कभी प्रकाशित हुए थे, पर अब नहीं मिलते, उनके विशुद्ध, सुलभ और सटिप्पन संस्करणोंका प्रबन्ध सम्मेलनको करना चाहिये। प्राचीन-साहित्यके पढ़नेकी रुचि दिन दिन बढ़ रही है—पर पुस्तकें नहीं मिलतीं, उनके पढ़ाने वाले भी कम हैं, इसके लिये व्रजभाषाका एक अच्छा कोश बनना चाहिये जिसकी सहायतासे साहित्य-प्रेमी प्राचीन साहित्यको पढ़ सकें और समझ सकें।

प्राचीन-साहित्यका उद्धार तथा नवीन उपयोगी साहित्यका निर्माण और उसका प्रचार हो साहित्य-सम्मेलनका मुख्य काम है, जिसकी ओर सम्मेलनने अभी तक समुचित ध्यान नहीं दिया, सम्मेलनकी सब शक्ति अबतक केवल प्रचार कार्य हीमें लगती रही है, अब उसे अपने मुख्य उद्देश्यकी ओर अग्रसर होना चाहिये, इस अवसर पर यदि कर्तव्य-कार्यकी कोई योजना तयार करके उसे कार्य रूपमें परिणत करनेका उपाय सोच लिया जाय तो अच्छा हो, नये नये प्रस्ताव प्रस्तुत करनेका काम कुछ दिनोंके लिये स्थगित रहे तो कोई हानि नहीं, कुछ काम होना चाहिये; इसीमें सम्मेलनकी सफलता है।

आप सब सज्जनोंसे यही प्रार्थना करके मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं, और जो कुछ असम्बद्ध कह गया हूं, उसके लिये क्षमा चाहता हूं।
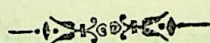
हिन्दीके प्राचीन साहित्यका उद्धार

हर्षकी बात है कि सुशिक्षित समाजका ध्यान हिन्दीकी ओर आकृष्ट हो रहा है और हिन्दीका प्रचार भी संतोषजनक रीतिसे बढ़ रहा है। अनेक पत्र और पत्रिकायें निकल रही हैं, प्रति-वर्ष सैकड़ों नई पुस्तकें भी प्रकाशित हो रही हैं। पुरानी पुस्तकोंकी खोज भी होने लगी है। नये ढंगके कोश और व्याकरणोंका भी निर्माण हो रहा है, तुलनात्मक समालोचना भी चल रही है, अनुवाद भी हो रहे हैं, टीकाएं भी बन रही हैं, साहित्यसम्बन्धी संस्थाओंके अधिवेशन और महोत्सव हो रहे हैं, भिन्न भाषा-भाषी प्रांतोंमें हिंदी फैल रही है और राष्ट्रभाषाका पद प्राप्त करती जा रही है। यह सब हिंदीके अभ्युदयकी सूचना देनेवाले शुभ लक्षण हैं, आनंद-दायक समाचार हैं। नागराक्षर और हिन्दी-भाषाके प्रचार और प्रसारमें नागरी-प्रचारिणी सभाओं और हिंदी-साहित्य-सम्मेलनोंने जो अनुकरणीय उद्योग किया है; उसके लिये ये प्रतिष्ठित और प्रशंसित संस्थाएं धन्यवादार्ह हैं, गौरवकी वस्तु हैं, सम्मान की पात्र हैं। हिंदी-हितैषी मात्र इसके लिये इनके ऋणी और कृतज्ञ हैं। पर यह सब कुछ होनेपर भी साहित्यकी पुरानी दिल्ली अभी दूर ही है। उक्त सम्मान्य संस्थाओंने साहित्य-नगरीके निर्माणमें अभीतक सफरमैना-का ही काम कर पाया है—विघ्न-बाधाओंके झाड़-झंकाड़ काट-छांटकर कूड़ा-करकट दूर करके, रोड़े हटाकर राजपथका रास्ता

साफ कर दिया है, दाग-बेल डाल दी है। असली काम बाक़ी है, अब उसमें लग्गा लगाना चाहिये।

साहित्यके नवीन-मन्दिरोंका निर्माण तो हो ही रहा है, होता ही रहेगा, होना चाहिये भी, पर साहित्यके प्राचीन प्रासाद जो जहां तहां ध्वस्त-विध्वस्त दशामें दबे पड़े हैं, उनका उद्धार इससे भी बड़े महत्त्वका काम है। इन खंडहरोंमें वड़े वड़े अमूल्य रत्न और कीमती खज़ाने मिट्टीमें मिले हैं, उन्हें भी ढूंढ़कर बाहर निकालना चाहिये। पूर्वजोंकी कीर्ति-रक्षा बड़े पुण्यका काम है, ऋषि-ऋणसे उऋण होना है। प्राचीनताकी दृष्टिसे ही नहीं, उपयोगिताकी दृष्टिसे भी यह कार्य कुछ कम महत्त्वका नहीं है। हमारे प्रमाद और उपेक्षासे साहित्यके अनेक रत्न नष्ट हो गये, जो बचे हैं वह भी भ्रष्ट होते जा रहे हैं, साहित्यके नामपर रसभाव-विहीन बेतुकी तुकबन्दियों और अन्य भाषाके उपन्यासोंके अनुवादोंका ढेरपर ढेर लगता जा रहा है, और हम हैं कि हिन्दी-साहित्यकी इस वृद्धिपर फूले नहीं समाते, बड़े गर्वके साथ घोषणा करते नहीं थकते कि हमारी भाषा-का साहित्य दिन-दूनी, रात-चौगुनी उन्नति कर रहा है! हमारी विकत्थनापूर्ण घोषणाओंसे चकित होकर जब कोई भिन्न-भाषा-भाषी विद्वान् हमारे वर्तमान साहित्य-भण्डारको टटोलता है तो उसे खिन्न और निराश होना पड़ता है, उसे अपनी ही भाषाके उपन्यासों और गल्पोंके हिन्दी अनुवाद और चमत्कार-विहीन तुकबन्दियां संतुष्ट नहीं कर सकते, वह तो हिन्दीमें वह चीज़ देखना चाहता है जो उसकी भाषामें नहीं है। नये ढंगका साहित्य बंगला, गुजराती

और मराठी आदि भाषाओंमें बहुत है और बहुत अच्छा है, इस विषयमें हिन्दी अभी उनकी बराबरी नहीं कर सकी।

हिन्दीकी विशेषता उसका प्राचीन साहित्य है, सहित्य-संसारमें हिन्दीको गौरव प्रदान करानेवाले, उसका मस्तक उन्नत करनेवाले सूर, तुलसी, केशव, बिहारी और मतिराम आदि प्राचीन महाकवि हैं, हिन्दीके वर्तमान लेखक और कवि नहीं। किन्हीं-किन्हीं वर्तमान लेखकोंका सम्मान यदि दूसरोंकी दृष्टिमें कहीं कुछ हुआ भी है तो वह भी इसी कारण कि वे हिन्दीके इन आदरणीय और अमर कवियोंके नामलेवा हैं—उन्हींकी कविता-लताके रसिक मधुप हैं। उनका सम्मान इस प्रसिद्ध उक्तिका उदाहरण है—

'कीटोपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः।'

दुर्भाग्यकी बात है कि हिन्दीकी इसी विशेषताको हम अपने हाथों खो रहे हैं, नये छप्पर छानेकी धुनमें पुराने महलोंको प्रमादके फावड़ेसे ढा रहे हैं और खुश हो रहे हैं कि हम साहित्यका उद्धार, प्रचार और प्रसार कर रहे हैं! साहित्य-गगनके सूर्य (सूर) का प्रकाश लुप्त हो रहा है और जुगनू चमक रहे हैं, चमकाये जा रहे हैं! इस अनर्थको देखकर सहृदय साहित्य-प्रेमी, अविवेकी-मेघको उलाहना दे रहे हैं, इस प्राचीन अन्योक्ति—सूक्तिको दोहरा रहे हैं:—

'पिकं हि मूकीकुरु धूमयोने!
भेकं च सेकै मुखरीकुरुष्व।

किन्तु त्वमिन्दोः प्रपिधाय बिम्बं,
खद्योतमुद्द्योतयसीत्यसह्यम् ॥' *

हिन्दी साहित्यके उद्धार और प्रचारका दम भरनेवाली इतनी संस्थाओंकी मौजूदगीमें क्या यह शोचनीय कलङ्ककी बात नहीं है कि साहित्यके सूर्य सूरदासकी कविताओंका एक भी शुद्ध और सुन्दर संस्करण अबतक प्रकाशित नहीं हो सका ! (और उपन्यासोंके अनुवाद दर्जनों छप गये !!)

आज-कल 'सूर-सागर' अप्राप्य हो रहा है। पहले मुद्रित जो दो एक संस्करण कहीं-कहीं पाये भी जाते हैं, तो उनमें क्षेपकोंकी और अशुद्धियोंकी इतनी भरमार मिलती है कि देखकर दुःख होता है, पैवन्दी बेरोंमें झड़-बेरीकी गुठलियां और अंगूरोंमें निमौलियां मिली हैं, परमान्नमें पङ्क—खीरमें धूल पड़ी है; जो खट्टा और मज़ा किरकिरा हो जाता है। इधर दो एक 'संक्षिप्त सूरसागर' जो निकले हैं वह 'इख़्तसारका मुख़्तसिर' हैं, इन बूंदोंसे लाघवार्थी चातक लोगोंकी चोंच तर हो सकती है, स्वल्प-सन्तोषी कविता-प्रेमियोंकी तसल्ली भले ही हो जाय, तृषित काव्यामृत-पिपासुओंकी तृप्ति नहीं हो सकती। फिर इनका संकलन और सम्पादन भी

* ओ !:धुयेंके जाये काले बादलो ! तुमने अपनी करतूतसे (पंचमके स्वरमें कूकनेवाली) कोयलको तो चुप करा दिया और (उत्साहके) छींटे दे-देकर मेंडकोंको उभार दिया—उनका कर्णकटु कोलाहल प्रारम्भ करा दिया। यहांतक तो ख़ैर तुम्हारा अत्याचार सह्य था, पर यह अंधेर तो मत मचाओ—चन्द्र-बिम्बको छिपाकर जगनूको तो मत चमकाओ, यह नहीं सहा जाता !

उन्हीं क्षेपक-पूरित अशुद्धप्राय पोथियोंके आधारपर हुआ है, टीका-टिप्पनियोंके अभावमें सर्वसाधारण इनसे यथेष्ट लाभ भी नहीं उठा सकते ।

हिन्दी-हितैषी प्रसिद्ध बंगाली विद्वान् श्रीयुत पंडित सतीश-चन्द्र राय एम० ए० महाशय, बंगलामें श्रीसूरदासजीकी कवितापर विवेचना-पूर्ण निबन्ध लिख रहे हैं, इन प्रस्तुत संक्षिप्त सूर-सागरोंसे उनकी सन्तुष्टि नहीं हुई, उन्होंने मुझे इस विषयमें कई पत्र लिखे हैं, 'सूरसागर' के किसी विशुद्ध और सुसम्पादित संस्करणका पता पूछा है, उन्हें यह जानकर—हिन्दीवालोंकी उपेक्षा और अकर्म-ण्यतापर अत्यंत निराशापूर्ण खेद हुआ कि 'सूरसागर' का कोई अच्छा संस्करण अबतक प्रकाशित नहीं हुआ ! प्राचीन साहित्यके उद्धार और सुसम्पादनकी आवश्यकतापर ज़ोर देते हुए और उद्धारका उपाय बतलाते हुए उन्होंने अपने एक पत्रमें लिखा है—

"सब भाषाओंमें ही प्राचीन काव्योंकी टीका करनी दुस्साध्य होती है, क्योंकि इसके लिये पहले तो एक आध प्रामाणिक पुरातन हस्त-लिखित आदर्श पुस्तक अपेक्षित होती है। दूसरा कठिन काम पाठोद्धारका है, तीसरा काम पाठ-संगति-पूर्वक अर्थ करना, ग्रन्थ-ग्रन्थियाँ सुलझाना है। यह अन्तिम और महत्त्वका काम समीचीन रूपसे तभी हो सकता है जब कोई उस विषयका विशेषज्ञ विवेचक प्राचीन काव्योंको ध्यानसे आद्योपान्त पढ़कर उसकी एक ऐसी शब्द-सूची तैयार करे जिसमें सब शब्दोंका अर्थ और

प्रयोग-निर्देश किया जाय, अन्यथा निश्चयके साथ कभी नहीं कहा जा सकेगा कि यही अर्थ कविका अभिप्रेत और स्वाभाविक है। यह सब काम किसी एक विशेषज्ञके लिये भी असाध्य है। प्राचीन साहित्यके उद्धारका मूलाधार प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकोंका संग्रह ही सबसे अधिक प्रयत्न-साध्य है, क्योंकि इसके लिये सारे हिन्दोस्तानके गांव-गांवमें खोज करनी होगी, और यह बहुत लोगोंकी समवेत चेष्टाका काम है, इसलिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं द्वारा ही साध्य है। मैं नहीं जानता अबतक हिन्दी संसारमें फलीभूत कामके लिये कौनसी चेष्टा की गई है।

"इस सम्बन्धमें बङ्गीय साहित्य-सम्मेलन, एशियाटिक सोसायटी, (कलकत्ता) और ढाका विश्वविद्यालयका दृष्टान्त सर्वथा अनुकरणीय है। मेरी सम्मतिमें हिन्दी साहित्य संसारको सर्व प्रयत्नसे प्राचीन पुस्तक-संग्रहके कार्यमें व्रती होना चाहिए, यदि पुस्तकें संगृहीत और सुलभ हो गईं तो उनके विशेषज्ञ भी क्रमशः बन जायंगे। प्रामाणिक और प्राचीन पुस्तक-मूलक पाठ-विचार, सूरदास और तुलसीदास आदि प्राचीन कवियोंके सम्बन्धमें अपेक्षित और अपरिहार्य है। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके कर्तृ पक्षकी दृष्टि इस आवश्यक विषयके ऊपर आकृष्ट कीजिये। केवल संक्षिप्त सूरसागर आदि ग्रन्थोंके प्रकाशनसे ही सम्मेलनका प्रकृत उद्देश्य और कार्य सफल या पूरा नहीं होगा।" ××"—

यह आदरणीय और आचरणीय परामर्श एक ऐसे भुक्तभोगी अनुभवी और साहित्य-मर्मज्ञ वृद्ध विद्वान्‌का है जिन्होंने बङ्गीय साहित्य-परिषद्‌के प्राचीन साहित्य-विभागका सम्पादन बड़ी विद्वत्ता और सफलतासे किया है, जिन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, पुरातन बङ्गीय वैष्णव कवियोंकी कविताका उद्धार किया है, और अब हिन्दीके प्राचीन साहित्यका बड़े चाव और परिश्रमसे अनुशीलन कर रहे हैं।

आपके शुभ पमरामर्श और अनुभवसे हिन्दीके कर्णधार शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। बंगाल आदि प्रान्तोंमें जहां वहांकी प्रान्तीय साहित्य संस्थाएं समष्टि-रूपसे अपने प्राचीन साहित्यके उद्धार और प्रचारमें प्रवृत्त हैं वहां अनेक विद्वान् व्यक्ति-रूपसे भी श्लाघनीय साहित्य-सेवा कर रहे हैं। दूसरे प्रान्तोंमें अनेक ऐसे साहित्य-महारथी पाये जाते हैं जिन्होंने अकेले इतना चिरस्थायी और उपयोगी कार्य कर दिखाया है, जितना हमारे प्रान्तकी प्रायः संस्थाओंसे भो अभी तक नहीं हो सका। एक एकाकी बङ्गाली विद्वान् श्रीयुत ज्ञानेन्द्र मोहनदास महाशयने "बङ्गलाभाषार अभिधान" नामक बहुत बड़ा, सुन्दर और सस्ता कोश बना डाला। वैसा एक कोश भी अभी हिन्दीमें नहीं बना, जो दा एक छोटे बड़े कोश हिन्दीमें हैं भी उनमें आम बोल चालके, प्रचलित-समाचार-पत्रोंमें व्यवहृत होने वाले शब्दोंका ही संग्रह अधिक है, प्राचीन साहित्यके शब्द बहुत ही कम हैं, प्राचीन शब्द-समूहकी दृष्टिसे ये कोश निरा दरिद्रका भंडार हैं, 'वृथा-पुष्ट' हैं। प्राचीन साहित्यके

अध्ययनमें इनसे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।* हिन्दीमें एक व्रजभाषा-कोशकी बड़ी आवश्यकता है। प्राचीन साहित्यके प्रचारमें ऐसे कोशका अभाव भी बाधक है। इस अभावकी पूर्ति करना साहित्य-सम्मेलनका प्रथम कर्तव्य है। उपन्यास-साहित्यका प्रचार तो हिन्दीके अनेक प्रकाशक कर रहे हैं, सभाओं और सम्मेलनोंको प्राचीन साहित्यकी ओर ही विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये।

इस प्रसंगमें काशीके 'भारत-जीवन' वाले स्वर्गीय बाबू रामकृष्णजी वर्माको स्मरण न करना कृतघ्नता होगी। वर्माजीने उस समय प्राचीन साहित्यके अनेक छोटे मोटे ग्रन्थ-रत्नोंको प्रकाशित करके साहित्य-सेवी समाजका उपकार किया, जब साहित्य-प्रचारका इतना ढँढोरा नहीं पीटा जाता था। हमारी साहित्य-सभाओंसे तो इतना भी न हुआ जितना अकेले बाबू रामकृष्णजी वर्मा प्राचीन साहित्यका उद्धार कर गये।

आजकल साहित्यका हो-हल्ला तो चारों ओर बहुत मचा हुआ है, पर पाससे देखा जाय तो ठोस काम कुछ नहीं हो रहा। बस प्रस्तावोंके पास करनेहीमें इतिकर्तव्यता की समाप्ति हो जाती है! साहित्यके भोजन-भवनमें, अकबरके कथनानुसार—

---

* काशी ना० प्र० सभाका 'हिन्दी-शब्द-सागर' बहु-मूल्य होनेके कारण सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं। अब सुना है सभा उक्त कोशका एक संक्षिप्त संस्करण निकालना चाहती है, यह हो जाय तो अच्छा हो।

"प्लेटोंकी सदा आती है, खाना नहीं आता।" बातोंके भोजनसे ही भूख भगानेकी कोशिश की जा रही है!

काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभाने 'रामचरित-मानस'का तथा दो एक दूसरे ग्रन्थोंका शुद्ध संस्करण प्रकाशित करके अपना जन्म सफल कर लिया है। सभाके खोज-विभागमें भी कुछ काम हो रहा है, पर काम इतना बाक़ी है कि उसे देखते हुए अभी कुछ भी नहीं हुआ। सभाके पुस्तक-संग्रह-भण्डारमें प्राचीन साहित्यके जितने अच्छे और अलभ्य ग्रन्थ संगृहीत हो चुके हैं, उनमेंसे कुछ ग्रन्थोंके प्रकाशन और सम्पादन की व्यवस्था भी साथ साथ होती रहनी चाहिये, भलेही कुछ दिनोंके लिये कोई 'मनोरञ्जन-व्यापार' स्थगित कर दिया जाय।

प्रयागके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनपर तो और भी ज़्यादा ज़िम्मेदारी है। क्योंकि वह "साहित्य-सम्मेलन" है। सम्मेलन-की सारी शक्तियां अबतक प्रचार-कार्यमें ही लगी हुई हैं, कहना चाहिये वह अभी दिग्विजयमें ही संलग्न है! वार्षिक महोत्सव, परीक्षाओंका प्रबन्ध और मद्रासमें हिन्दी प्रचार, बस इन्हीं दायरोंमें, इसी चक्करमें वह घूम रहा है। यह भी उसका एक उद्देश सही, पर सिर्फ़ इतने हीसे तो हिन्दीसाहित्यका उद्धार न हो जायगा, हिन्दीका थोड़ा बहुत प्रचार इससे भलेही हो जाय। सम्मेलनको अपने स्वरूपके अनुरूप कुछ ठोस और स्थायी काम भी अब करना चाहिये। दिग्विजयके व्यापारको कुछ दिनोंके लिये, बन्द कर दिया जाय तो कुछ हर्ज न होगा, मद्रास कहीं भाग न

जायगा, वहाँ फिर भी काम होता ही रहेगा, पहले अपने म्रियमाण प्राचीन साहित्यकी सुध तो ले ली जाय—इसे तो मरनेसे बचा लिया जाय !

और तो और, सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जो पाठ्य पुस्तकें निर्दिष्ट हैं उनमेंसे अनेक पुस्तकोंके शुद्ध और सुलभ संस्करण भी दुर्लभ हैं, इससे बेचारे परीक्षार्थियोंको कितनी असुविधा होती है, यह कोई उन्हींके जीसे पूछे । आखिर यह काम किसका है ? इसकी व्यवस्था कौन करे ? इस गड़बड़से लाभ उठानेके लिये स्वार्थी पुस्तक-व्यसायी प्रकाशक, भ्रष्ट पाठों वाली और असम्बद्ध टीकावाली अंट संट पोथियां प्रकाशित करके अपना उल्लू सीधा करते हैं और गरीब परीक्षार्थी मुफ्तमें मारे जाते हैं।

इस वर्ष सौभाग्यसे साहित्य-सम्मेलनको साहित्य-सेवाका अच्छा अवसर प्राप्त हो रहा है। सम्मेलनका अधिवेशन व्रजभाषाके केन्द्र भरतपुरमें व्रजराज श्री भरतपुराधीशके आतिथ्यमें होने जा रहा है। इस शुभ अवसर पर व्रजभाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि श्रीसूरदासजीके ग्रन्थोंके उद्धारका अनुष्ठान कर डालना चाहिये। भरतपुरके पास ही सूरदासजीकी जन्मभूमि या निवासस्थान 'रुनकता' तीर्थ है। व्रजभाषा-प्रेमी साहित्य-सेवियोंकी मण्डली वहाँ पहुंचकर इस बातका प्रण और व्रत धारण करे, सच्चे संकल्पके साथ कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय। भरतपुर-नरेश साहित्यप्रेमी और व्रजभाषाके पूर्ण पक्षपाती, प्रवीण पारखी और संरक्षक हैं। उनके शुभ नामके साथ 'व्रजराज' की विरुद विराज-

मान है, उनसे इस काममें यथेष्ट सहायता मिल सकेगी। राज्य-की सहायतासे खोज करनेपर वहाँ "सूरसागर" की प्रामाणिक और प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक भी मिलनी संभव है। भरतपुर राज्यमें व्रजभाषाका बहुतसा साहित्य छिपा पड़ा है, जो अन्यत्र दुर्लभ है, उसकी भी खोज होनी चाहिये, इससे अच्छा अवसर इस कामके लिये फिर मिलना मुश्किल है।

साहित्य-प्रेमियोंका कर्तव्य है कि अपनी समवेत-शक्तिसे सम्मेलनको इस कार्यमें दृढ़तापूर्वक संलग्न होनेके लिये प्रेरित करें, सम्मेलन आना-कानी करना चाहे तो उसे विवश करें, इस अवसरको हाथसे न जाने दें। यदि सम्मेलनके इस अधिवेशनमें यह कार्य हो गया—"सूर-सागर" के सम्पादन और प्रकाशनका व्यवस्थित और पक्का प्रबन्ध हो गया; तो सम्मेलनके, साहित्यके और भरतपुर राज्यके इतिहासमें यह एक अभूतपूर्व और चिरस्म-रणीय घटना होगी, साहित्यके एक बड़े भारी अभावकी पूर्ति हो जायगी, हिन्दी वालोंके माथेसे एक अमिट कलंक मिट जायगा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका जीवन सार्थक हो जायगा, परमात्मा ऐसा ही करें।
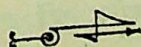
हृदयकी जीवनी

(हृदयकी लेखनीसे)

(१)

मुझसे ख़्वाहिश की गई है कि मैं अपनी 'जीवनी' लिखूं। इसमें सन्देह नहीं कि मेरे हालात फ़ायदेसे खाली न होंगे, लेकिन मुश्किल यह है कि मेरे जीवनकी अद्भुत घटनाएं, मेरे अनुभवकी विचित्र बातें, मेरी ज़िन्दगीकी मुसीबतें, लोगोंको या तो यक़ीन न आयेंगी या समझमें न आयेंगी। एक छोटीसी बात लीजिये। मैं संवेदना-शील-(असर-पज़ीर) बहुत हूं, ईश्वरने असंख्य सृष्टि रची है, सृष्टिकी उस अनन्त रचनामें मैं एक तुच्छ—अणुपरिमाण-छोटीसी चीज़ हूं। पर मैं दावेसे कह सकता हूं और बिल्कुल सच बात है, कुछ आत्मश्लाघा या गर्वोक्ति नहीं—कि इस सारी सृष्टिमें कोई वस्तु नहीं, जिसपर कि मेरी बराबर संवेदनाका प्रभाव पड़ता हो—जो मेरे बराबर 'मुतास्सर' होती हो। फिर मैं प्रत्येक छोटी बड़ी चीज़से प्रभावान्वित होता हूं। नई, पुरानी, क़ुदरती, बनावटी, खुली, छिपी, आत्मिक, शारीरिक, जानदार, बेजान, ग़रज़ कोई चीज़ हो मुझपर 'असर' करनेके लिये काफ़ी है। पर आपसे सच कहूं—और सच ही कहूंगा, या तो जीवनी लिखूंगा नहीं, या लिखूंगा तो सचाईको न छिपाऊंगा। कोई चीज़ मुझपर इतना असर नहीं करती जितना—

मैं कैसे कहूं आप सन्देह करेंगे—ज़ि—त—ना—ज़ि—त—ना—ना हु—स्न—सौं—द—र्य। मेरी बिसात मुट्ठी भरकी भी तो नहीं, पर सुन्दर (हसीन) चीज़ देखी और 'बेताब' (चंचल) हो गया, बांसों उछलने लगता हूं, धड़कने लगता हूं, मैं किसी सीनेमें—(वक्षःस्थलमें) हूं और वह 'सीना' किसी लिबासमें—(परिच्छदमें) हो—तपस्वीके वल्कलमें, महात्माके कम्बलमें, दुराचारी और शराबी की अचकनमें, कविके कोटमें, साहित्य-सेवीके चोग़ेमें, सिपाही या सैनिककी वर्दीमें, किसानके कुर्त्तेमें, या रईसके कामदार लबादेमें, खद्दरमें, रेशममें, ग़रज़ मैं कहीं छिपा हूं, वह चीज़ जिसे 'सौंदर्य' कहते हैं, मेरे सामने हुई और मैं आपेसे बाहर—अज़खुद-रफ्ता हो गया।

एक और बात है, जिससे मैं अपने हालात (वृत्तान्त) लिखते हिचकता हूं। मैंने इस दुनियामें आराम न देखा, तकलीफ़ और दर्द मेरी क़िस्मतमें था, घुलना, टुकड़े हो जाना, मेरे नसीबमें था, इस विस्तृत संसारमें हरचीज़ सुख चैनमें है, और नहीं हूं तो मैं। वजह इसकी क्या है ? यही कि और जितनी चीज़ें हैं वे उस चीज़से (उसे 'न्यामत' कहूं, या मुसीबत ! सौभाग्य समझूं, या दुर्भाग्य !) बरी हैं, जिससे मेरा रगो-रेशा बना है, यानी मैं 'संवेदना-शील',—असर-पज़ीर—हूं, वह नहीं।

(२)

सबसे पहली सुन्दर चीज़ जो मुझे याद है और जिसका ख्याल अब तक मुझपर असर करता है, वह ममता और मायाकी,

कृपा और करुणाकी, आत्मिकता, और मनुष्यताकी देवी है, जिसे मांता—(माफ़ कीजिये, मैं अब कुछ नहीं लिख सकता, इस पवित्र प्रेमपूर्ण पदके याद आते ही देखो मैं धड़कने लगा! धड़क लूं, तो लिखूं—)—कहते हैं। सौंदर्य मैंने सैकड़ों तरहके देखे, और सबमें आकर्षण पाया, पर जितनी आकर्षण-शक्ति, इस सुन्दर और कोमल पदार्थमें देखी, किसीमें न देखी, कहीं न देखी!

सृष्टिकी यह सबसे कोमल और कृपालु चीज़ मुझे बहुत ही प्यारी मालूम होती थी—और अक्सर ऐसा हुआ है कि मैं उसके प्यारे चेहरेको देखनेके लिये रोया हूं और मुझे गोदमें उठा लिया गया है, और यह ख़याल करके कि मैं भूखा हूं मुझे दूध पिलाया गया है, यद्यपि इसकी बिल्कुल ज़रूरत न थी। मैं, बस उसके देखने—घण्टों उस आनन्द-प्रद, शांतिदायक, प्रेमामृतवर्षी करुणापूर्ण मुखको—उस मुखको जो मुझे स्वर्गीय सृष्टिकी उन दिव्य मूर्तियोंकी—जिन्हें मैं अभी छोड़के आया था, याद दिलाता था—देखने का अभिलाषी था उस सुन्दर मूर्तिकी छातीसे लिपटनेकी इच्छा करता था, पर कह नहीं सकता था, सिर्फ़ हुमकता था और वह सौन्दर्यकी देवी, ममताकी मूर्ति, दिव्य भावनाका अवतार, ईश्वर ही जानता है, मेरी इच्छाको किस तरह समझ लेती थी और मुझे छातीसे लगा लेती थी। और मैं उस समय वह आनन्द अनुभव करता था जो संसारके सब आनन्दोंसे कहीं बढ़कर है। मैं जब उसकी छातीसे लगता था तो मुझे मालूम होता था और यह मालूम होकर मुझे कैसी ख़ुशी होती थी कि मैं इसकी छाती-

में—इसके सीनेमें भी धड़क रहा हूं, वहां भी तड़प रहा हूं!

दूसरी मनोहर और सुन्दर चीज़ जिसने मुझे अपनी तरफ़ खींचा वह 'शमा' (दीपक) थी। उस अलौकिक आलोककी यह छटा, यह नूरे-उरियाँ—निरावरण प्रकाश—मुझे घण्टों आश्चर्य-चकित रखता था, और कहीं समीप हुआ तो मैं उससे मिलनेके लिये, उससे लिपटनेके लिये बे-अख्त्यार उसकी तरफ़ हाथ बढ़ाता था। लेकिन यह क्या? मुझे रोकते थे, क्यों? क्यों मुझे उस 'हसीन शै'-सुन्दर चीज़से मिलने नहीं देते थे? इसलिये कि पहलीकी तरह (माताकी तरह) प्रत्येक सुन्दर चीज़ 'दयालु' नहीं है। यह भेद, यह हृदय-विदारक भेद मुझे पीछे मालूम हुआ, अच्छा होता जब ही मालूम होजाता।

चांद--वह जड़ संसारमें सबसे अधिक आह्लाद-दायक पदार्थ—यानी चौदहवीं रातका चांद—तो मुझे बिल्कुल बेताब कर देता था। उसे भी पकड़ने, उससे भी मिलनेकी ख्वाहिश होती थी। मैं उसे अपने पास, अपनी तरफ़ झुका हुआ (अभिमुख) समझता था। सब कहते थे,--'देखो देखो, कैसा टकटकी बांधे देख रहा है, आंख भी नहीं झपकती,—मैं उसे देख-देखके खिल-खिलाकर हँस पड़ता था। क्योंकि मैं उसे अपनी ओर आकृष्ट पाता था। समझता था वह मुझपर अनुरक्त है, मिलना चाहता है और फिर उसे पकड़नेके लिये हाथ बढ़ाता था, पर हाय! चांद दूर था। सौन्दर्य धोका भी देता है!

बस यह ज़माना मेरी खुशीका ज़माना था, हवामें परियाँ

(अप्सरायें) मेरे पास आया करती थीं, और मुझसे बातें किया करती थीं, और लतीफ़े कह-कहके मुझे हँसाती थीं। फ़रिश्ते (देवदूत) एक सुनहरी सीढ़ीपर आसमानसे उतरके मेरे पास आते थे; मुझसे कानाफूंसी (सरगोशियां) करते थे और मुझे गुदगुदा-के भाग जाते थे। सीढ़ी पर चढ़ने और उतरनेका तांता बँधा रहता था और मैं उन्हें देखा करता था। घरमें सती-साध्वी सुन्दरियां मुझे घेरे रहती थीं, मैं जिसकी गोदमें चाहता, जाता, और खुशी-खुशी लिया जाता, जिसके गालों (कपोलों) पर चाहता हाथ फेरता, जिसका चाहता बोसा (बाबी, मच्छी) लेता और सब मुझे चूमते थे।

(३)

इस जीवन-यात्रामें, मैं कुछ आगे और बढ़ा; चन्द क़दम और डाले। अब रंग बरंगकी तीतरियां (तितलियां) मुझे अपनी तरफ़ खींचती थीं, मैं उनकी ओर दौड़ता था, और वह उड़ जाती थीं। हुस्नकी 'बेएतनायी'—सौन्दर्यकी बेपरवाई—देखी !

एक दिन एक स्वच्छ सफ़ेद चिट्टा कबूतर मेरे हाथमें आ गया, मैं प्रेमातिरेक-फ़र्तेमुहब्बत—से उसे भींचता था, उसे चूमता था, पर वह फ़ड़फड़ाके और मेरे हाथोंसे अपने-तईं छुड़ाके उड़ गया। सौन्दर्य गुण-ग्राही नहीं है—हुस्न क़दर-ना-शनास है !

अभी मैं कम उम्र ही था, कि मुझे एक और ख़ौफ़नाक हक़ीक़त मालूम हुई, एक और भयानक भावका अनुभव हुआ। हम कतिपय 'शिशु हृदय-(नौ-उम्र दिल) ज़मीन पर बैठे हुए

खेल रहे थे, लड़के भी थे, लड़कियाँ भी थीं। मिट्टीके घरौंदे बना रहे थे, मेरे पास एक सुन्दरी चञ्चल बालिका बैठी थी, हम घरौंदे भी बनाते जाते थे, और आपसमें बातें भी करते जाते थे, न मालूम उसने कौनसी ऐसी बात कही कि मुझे बहुत ही भली मालूम हुई, और मैंने उससे बे-अख्त्यार होकर एक 'बाबी' माँगी। या तो वह मुझसे ऐसी घुल-मिलके बातें कर रही थी या इस सवालसे ऐसा मिज़ाज बिगड़ा और उसने मुझे ऐसे ज़ोरसे झिड़का, इस ज़ोरसे डाँटा कि मैं कांप उठा, और अब भी जब ख़याल आता है तो अधीर हो जाता हूं, घबरा उठता हूं। हाय रे सौन्दर्य! तेरा दर्प!

पर नहीं,—ईश्वरकी रचनामें रमणीके अतिरिक्त रचना-नैपुण्यके प्यारे और बढ़िया नमूने फूल (पुष्प) से मुझे शिकायत नहीं। उसने मुझसे संकोच नहीं किया, बल्कि मेरी ही तरफ़से उसपर ज़्यादती हुई, बजाय इसके कि वह मुझे तोड़े, मैं उसे तोड़ता था। फूल कभी 'दिल-शिकन' (दिल तोड़ने वाला)—नहीं हुआ, मैं ही अक्सर 'गुलचीं'—(फूल तोड़ने-वाला) बना। कहा जाता है कि 'मैं रईस-आज़ा' (प्रधान अङ्ग) हूं, ख़ाक भी नहीं, अगर मैं रईस-आज़ा हूं' तो मैं जब उस हुस्न-की देवी—सुन्दरता की मूर्ति-को देखकर ग़श (मूर्छित) हो जाता हूं और हुक्म करता हूं चलो उसकी पूजा करें, उसके चरणोंपर अपने-तईं डाल दें'—क्या होता है, मेरी 'रियासत' धरी रह जाती है 'रईस-आज़ा' की कोई नहीं सुनता। 'दिमाग़'

—(मस्तिष्क) वह नीति-निपुण मन्त्रिमहोदय, जिनसे ईश्वर बचावे—जिन्हें 'मसलहत नहीं'—'बुरी' बात है'—के सिवाय और कुछ आता ही नहीं—फ़रमाने लगते हैं—'बुरी बात है', 'ऐबकी बात है'—'लोग क्या कहेंगे' माना कि तुम बुरे ख्यालातसे पाक हो, लेकिन दुनिया पर कैसे साबित करोगे'—पाँव ज़मीनमें गड़ जाते हैं, मैं वहीं पिसके और गुस्सेमें खून होके, रह जाता हूं।

(४)

सृष्टिके आदिसे अबतक असंख्य अनुभव मैंने किये, और गणनातीत मनुष्योंसे पाला पड़ा, किसीको मित्र पाया, किसीको शत्रु और किसीको मेरी तरफ़से बेपरवा, उदासीन।

उन्हें, जिन्होंने मुझे अपनी तरफ़ खींचा, मैं कभी भूलूंगा थोड़ा ही। 'नज्द*' में मुझे 'लैला' ने बहुत परेशान किया। ईरानमें—'शीरीं—के हाथों मैं बहुत भटका। पर हाय 'शकुन्तला !' शकुन्तला ! वह मुझपर मेहरबान थी, लेकिन ओ 'हेलन !' तू बेपरवा थी, लाखों खल्क़े-खुदाका खून करा गई !

जीवनीमें सत्यसे पराङ्मुख न होना चाहिए। सच यह है कि बहुतोंको मैंने भी बेतरह तबाह कर दिया, जो नाच चाहा उन्हें नचाया। 'क़ैस आमर' (मजनूँ)का जब खयाल आता है तो मैं बहुत ही कुढ़ता हूँ। मैंने 'फ़रहाद'की ज़िन्दगी तल्ख़ कर दी। हिन्दके बादशाह 'जहाँगीर' को भी मैंने बहुत सताया।

जब मैं अपनी भरी जवानीके ज़ोममें मतवाला-बना, उस

---

* नज्द=अरबका एक प्रदेश, लैला और मजनूं की जन्मभूमि।

वंशीवालेकी 'कमान' (नेतृत्व) में भोलीभाली प्रेममें मतवाली गोपियों पर—हाय गोपियो ! उफ़, मैंने तुमपर कितने ज़ुल्म किये, कैसे कैसे सितम ढाये, कैसा जलाया, कुढ़ाया, रुलाया, घर-बार—कुल-परिवार – नियम, धरम, हया, शरम सबसे नाता छुड़ा, करीलकी कुंजोंमें भरमाया। बावली बना वन-वन भटकाया। मेरे जीवनकी सबसे अधिक अत्याचार पूर्ण इस करतूतके कारनामोंसे व्रजभाषाके कवीश्वर सूरदास आदिने दफ़तरके दफ़तर स्याह कर छोड़े हैं ! इसपर अधिक न कहकर इतना ही कहूंगा कि अपनी इस करतूतपर मुझे पश्चात्ताप है, दुःख है, यद्यपि इसमें मेरा नहीं, जवानी दीवानीका दोष था !

यहां प्रसङ्गानुसार बीचमें एक बात और कहना चाहता हूं। अत्याचार और क्रूरतासे—(जो वास्तवमें एक प्रकारकी 'कुरूपता' है)—मेरा सनातनका वैर है और हद्दसे ज़्यादा 'अक़्लमन्दी' से भी मुझे बेहद नफ़रत है। यही वजह है कि 'बेकन' 'बूअलीसीना' 'उक़लैदस' 'नैपोलियन' 'तैमूर' और 'चंगेज़' को अपना दुश्मन समझता हूं। ऐसे और भी बहुत हैं, किसे किसे गिनाऊं ! पर जहाँ यह मेरे दुश्मन थे वहाँ मेरे प्रशंसक, मेरे सुहृद्-सखा भी हुए हैं। 'शेक्सपियर' को मैं न भूलूंगा, 'कालिदास' 'हाफ़िज़' 'अकबर' 'कबीर'की याद मेरे मनमें हमेशा बनी रहेगी। 'सूर' 'विहारी' 'रसखान' 'आनन्दघन' 'हरिश्चन्द्र' और 'प्रतापनारायण' यह मेरे सदाके सच्चे और जीवनके पक्के सखा थे।

यह न ख़याल कीजिए कि मेरे मित्र या शत्रु अगले ज़माने

हीमें हुए, अब नहीं हैं। अब भी हैं, पर मैं नाम नहीं लेता, मिसालके तौरपर दो एक नाम गिनाये देता हूं। दुश्मनोंमें मेरे दुश्मन, क़ैसर विलयम, सर माइकेल—ओडायर, जानी दुश्मन हैं। लीडरोंमें भी कई लोग हैं और एडीटरोंमें भी, पर उन हृदय-हीनोंका—आत्म-वञ्चकों और पर-प्रतारकोंका—नाम न लूंगा।

दोस्तोंमें दोस्त मेरे प्यारे दोस्त 'इक़बाल' हैं, जिनका एक शेर (पद्य) मुझे बहुत भाता है और इसके लिए मैं इनका धन्य-वाद करता हूं—

'अच्छा है, दिलके पास रहे पासबाने-अक़्ल,
लेकिन कभी कभी इसे तनहा भी छोड़ दे।'

(५)

मैंने पूरब और पच्छिममें जो यात्राएँ की हैं, और जो अनु-भव (तजर्बे) और घटनाएँ देखी हैं, वे बहुत ही आश्चर्यजनक हैं।

सबसे पहले मुझे यह कहना है कि पूरब हो या पच्छिम, योरप हो या एशिया, मैंने हर जगह उत्पात, हर जगह लुटेरों और क़ज़्ज़ाकोंको घातमें देखा।

पूरब खासकर हिन्दोस्तानसे मुझे बहुत शिकायत है। मुझ-पर चारों ओरसे हमले होते हैं, पर किस तरह ? दिलेरीसे सामने आकर हमले (आक्रमण) नहीं किये जाते, बल्कि झाड़ियोंकी—झिल-मिलियोंमेंसे, झरोकोंमेंसे, खिड़कियोंमेंसे घूंघटोंमेंसे, आंच-लोंमेंसे, मुझपर बाण-वर्षा की जाती है। और मैं 'जवाब' नहीं दे सकता। बहुत बार आक्रमणकारियोंके 'नरग़े' में फँस गया

हूं, पर नज़र उठाकर देखता हूं—बचावकी ग़रज़से नहीं, क्योंकि इसकी ताक़त नहीं, दया-भिक्षाकी दृष्टिसे—तो 'हमला-आवरों' (आक्रमण-कारियों) का पता नहीं, पलक मारते ग़ायब, खिड़की बन्द, घूंघट खिंचा हुआ, नक़ाब पड़ी हुई है, मानो कभी हमला हुआ ही न था। यह इन्साफ़ है! न्याय है! माना युद्धमें तिरछी टेढ़ी चालें चलनी पड़ती हैं, पर शूर-वीर बहादुर, ललकारके खबरदार करके—हमला करते हैं। फिर पूरब जैसा लम्बा चौड़ा मुल्क और हर जगह मुझे फँसानेके लिए जाल बिछे हुए हैं।

एक दिन मैं ध्यानमें निमग्न, ख़यालमें डूबा दोनों लोकोंसे बेख़बर, अपनी तरफ़से और सब संसारकी ओरसे निश्चिन्त और प्रसन्न जा रहा था कि यकायक एक अँधेरे घुपमें दाख़िल हो गया। इस अँधेरे घुपमें—इस काल-कोठरीमें, जाल और वह भी काला, फैला हुआ है, अब जितनी निकलनेकी कोशिश करता हूँ, उतना ही और फँसता जाता हूँ। जितना तड़पके बाहर आना चाहता हूँ, उतने ही जालके बन्द मुझे घेरे लेते हैं। हा दैव! मैं किस बलामें फँस गया। जब मैं थक गया तो ईश्वरेच्छा समझ मैंने निकलनेकी कोशिश छोड़ दी। अँधेरा अधिक था, पहले तो मुझे दिखाई न देता था, जब दृष्टि इस अँधेरेकी आदी (अभ्यस्त) हो गई, मैंने देखा कि एक मैं ही अकेला यहाँ नहीं हूँ, बल्कि इस जालमें और भी बहुतसे 'दिल' फँसे हुए हैं। इससे कुछ ख़ातिर-जमा (तसल्ली) हुई, और ख़याल किया कि इन लोगोंसे मिलके कोई तदबीर निकलनेकी करेंगे, इसलिए मैंने उन्हें

मुख़ातब होकर कहा—भाइयो ! जिस मुसीबतमें, मैं मुब्तला हूँ, उसमें तुम मुझसे पहले फँसे हो, जैसे बने इससे छुटकारा पानेकी कोशिश करनी चाहिए। कविने कहा है,—

'दो दिल यक शवद बिशकनद कोहरा,
परागन्दगी आरद अम्बोहरा ।' *

और हम तो दो दिल नहीं, अगर मेरा अन्दाज़ा ग़लत नहीं तो सैकड़ों दिल हैं। और यह पहाड़ नहीं, निहायत बारीक जाल है, ईश्वरका नाम लेकर सब एक साथ चेष्टा करें तो क्या अजब कि इस जालको तोड़दें और रिहाई पायें। प्रेमका बन्धन—(इश्क़े-असीरी) मैंने यहीं देखा। मेरे इस उचित प्रस्तावको सुनना और उसपर आचरण करना कैसा ! सबने मुझे गालियां देनी शुरू कर दीं—"तुमसे किसने कहा था कि तुम यहाँ आओ, और आये थे तो 'नासह (शिक्षक) बनकर तो न आये होते, इस धोकेमें हम न आयँगे, बड़े आये बातें बनानेवाले, हम भी क़ायल हैं, क्या तरकीब सोची है, हमें बाहर निकालके खुद अकेले यहाँ रहना चाहते हैं। वाह क्या कहने हैं !"—मुझे निहायत गुस्सा आया, पर चुप हो रहा, अकेला था, क्या करता। लेकिन ताज्जुबकी बात सुनिये ! कुछ अर्से यहाँ रहना था कि 'ईजानिब' भी इस बन्धनसे प्रेम करने लगे, जितने जालके बन्द खिंचते जायँ उतने ही हम खुश होते जायँ, ईश्वरसे प्रार्थना करें कि ईश्वर यह बन्द कभी ढीले न हों बल्कि

* दो दिल एक हो जायं तो पहाड़को तोड़-फोड़ दें—उखाड़ डालें, और सहके-समूहको हैरान-परेशान कर दें।

और तङ्ग हों। फिर भी कभी कभी अपनी हालतपर अफ़सोस भी आता था और छुटकारा पानेकी ख्वाहिश होती थी।

एकदिन पक्का इरादा करके और निहायत ज़ोरसे फड़फड़ाके मैं वहांसे निकल आया। बाहर आया तो मालूम हुआ कि मैं 'केश-पाश' के अन्धकारमें, 'जुल्फ़ोंकी ज़ुल्मात'—में फँस गया था, इस छुटकारेपर ईश्वरका धन्यवाद कर रहा था, अँधेरेसे निकलके रोशनीमें आया था, मगर यहाँ क़दम-क़दमपर मेरा पांव फिसल जाता (ज़मीन निहायत चिकनी थी) कि यकायक अड़-अड़ा-धम्।··· मैं एक कुएँमें था, यहाँ भी केश-पाशके काले अँधेरेकी तरह और बहुतसे दिल थे। अब चूंकि मुझे इन 'हज़रात'का तजर्बा हो गया था, मैंने पहलेकी तरह उनको समझानेकी ग़लती नहीं की, बल्कि उनसे 'माज़रत'—माफ़ी—चाही और कहा कि 'मैं' 'मुख़िल'—(अनाहूत-प्रविष्ट) हुआ, पर मैं इच्छासे नहीं आया, उम्मीद है माफ़ फ़रमाया जाऊँगा, और मैं यहांसे निकलनेकी जितनी जल्द मुमकिन होगा कोशिश करूँगा—यहाँ इस क़दर रोशनी थी कि मेरी दृष्टि चौंधियाई जाती थी, और इसपर सितम यह कि कुएँके ऊपर बराबर बिजली चमकती थी, पर बिजलीकी चमकके साथ गरज न थी, बल्कि बहुत मुलायम लोचदार, सुरीली आवाज़ जिसे 'हँसी—(स्मित—हास्य) कह सकते हैं, आती थी—यहांसे मालूम नहीं, मैंने किस तरह नजात (मुक्ति) पाई, मैं तो समझता हूँ, सिर्फ़ ईश्वरकी सहायता थी। निकला तो मालूम हुआ मैं खुश क़िस्मतोंमेंसे हूं, नहीं तो 'चाहे-ज़क़न' में—पाठक समझ ही गए होंगे कि मैं—रुख़सारों-

(कपोलों) परसे फिसलके चाहे-ज़क़न—(चिबुकगर्त—ठोड़ीकी गाड़—) में गिर पड़ा था—गिरके निकलना दुश्वार है—कठिन है, मुसकराहट-की बिजली और मृदु-मन्द हास्य पागल कर देते हैं।

पूरबमें मैंने इस क़दर ठोकरें खाई थीं कि मैं यहाँसे भागा। पच्छिम (मग़रिब) में गया। सोचा, यहाँ सुख शान्ति नसीब होगी, पर सुख शान्ति कैसी, यहां भी वही उत्पात, ऊधम, वही लूट। ऊधम और बदनज़्मी, सही, फिर भी कहीं पूरब (मशरिक़)के बराबर! मुझे पच्छिमसे शिकायत नहीं। यहाँ लूट है, क़ज़्ज़ाक़ी है, ठगी नहीं। यहाँ लुटेरे डंकेकी चोट डाका डालते हैं। यहाँ मैं जहाँ जाता था, तीरोंकी बौछाड़ मुझपर होती थी, पर मुझे खबर भी दे दी जाती थी—'हम तीर (वाण) बरसाते हैं, बच सकते हो तो बचो, भागो, या सीना (छाती) आगे करो'—तीर मारनेवाले (कमनैत) तीर मारकर ग़ायब नहीं हो जाते थे, बल्कि मैं पूछता कि किसने तीर मारा ? तो जवाब कड़कके मिलता—'हमने, क्यों' ?

हमारा काम यही है, हम इसीलिए पैदा किये गये हैं, और अभी तो कमनैतीका नया अभ्यास है।' 'अभी सिर्फ़ अभ्यास ही हो रहा है ?'—'बेशक अभी सिर्फ़ अभ्यास (मश्क़) ही हो रहा है। जब लक्ष्यवेधी हो जाते हैं तो वह तीर मारते हैं कि किसीको इतना साहस ही नहीं होता कि हमसे सवाल कर सके, और हम कभी आड़के पीछे होकर तीर नहीं मारते, यह कायरपन है और हमारी युद्ध-नीतिके विरुद्ध है। ज़्यादासे ज़्यादा आड़ अगर हम

कभी करते हैं तो सिर्फ़ दस्ती पंखेको करते हैं, और बस, और यह भी सिर्फ़ लड़ाईकी शान बढ़ानेके लिए—शोभावृद्धिके लिये, वरना कोई ज़रूरत नहीं'—'तो आप इससे शर्माते नहीं कि आप तीर-न्दाज़-कमनैत हैं--लुटेरे—कज़्ज़ाक़ हैं?'

'फिर वही 'कज-बहसी'—वितण्डावाद—कह तो दिया कि हमारा काम यही है, विधाताने हमें इसीलिए पैदा किया है, क्या सूरजका काम प्रकाशकी वर्षा नहीं है, अब अगर चिमगादड़ कहे कि तू न निकल, मैं ताब नहीं ला सकती, 'ओस' कहे कि चिन-गारी न छोड़, मैं मर जाऊँगी, तो वह प्रकाश-स्वरूप भुवन-भास्कर— वह प्रचण्ड प्रभाकर, उनकी नहीं सुनेगा। यही नहीं बल्कि न सुननेपर मजबूर है, क़ानून क़ुदरतका पाबन्द है।'

'मगर गुस्ताख़ी माफ़, वह भी आपके ही 'भाई-बन्द' हैं जो मशरिक़ (पूरब) में छिप-छिपकर डर-डरके इधर-उधर देखके कि कोई देखता न हो, तीर मारते हैं, यह क्यों?'

'देखा, तीर मारनेसे वह भी नहीं चूकते, अब वह अपनी इस आदतसे शर्माते क्यों नज़र आते हैं। यह हम नहीं जानते, वह जानें और उनके तीर खानेवाले जानें।'

मगर मग़रिबमें सबसे ज्यादा ज़ालिम (फ़रियाद, फ़रियाद उनके सितमोंसे !) वे थे जो तीर मारते थे, बरछियां घबोते थे, लेकिन जब मैं शिकायत करता था तो साफ़ मुकर जाते थे। 'हमने नहीं मारा'—पहले तो इसे मैं बनावट समझा, दीन-भावसे-जिज्ञासा भरी दृष्टिसे—उनकी तरफ़ देखा और अर्ज़ किया—'मैं आपको

झूठा नहीं बनाना चाहता, लेकिन मैंने देखा कि आपने तीर मारे'—

मेरी जिज्ञासाभरी दृष्टिका मिलना था कि सैकड़ों-हजारों तीरोंकी पै-दर-पै बौछाड़ पड़ने लगी, पर इनको इस वक्त ऐन इस बौछाड़के वक्त भी अपनी बे-तक़सीरी (निर्दोषता) पर आग्रह था !

'यह हमपर बोहतान—मिथ्यादोषारोप—है, तीर-वीर कैसा ? (और आँखोंमें आंसू भर लाके) हम कहीं कुछ नहीं जानते, और हजारों बाण बरसा दिये ।'

'तुम इस क़दर ज़ख्मी क्यों नज़र आते हो, किसने घायल किया ?—और एक नज़र होश-उड़ानेवाली करुणापूर्ण दृष्टि डाली, और एक लाख बरछियोंसे मुझे छलनी कर दिया !

'है है ! इस क़दर न तड़पो ! किस निर्दयीने तुम्हें लहू-लोहान कर दिया ?'—मगर 'नजरियाकी कटरिया' से और कचोके लगा दिये !

बादमें मालूम हुआ कि वास्तवमें उन्हें अपने ज़ुल्मोंकी खबर नहीं । तीरोंकी बौछाड़ जान-बूझकर नहीं की जाती, बल्कि अपने आप होती रहती है, उफ़ उफ़, ईश्वर इन 'कमनैतों' से काम न डाले । खुलेबन्द क़ज्ज़ाक़, ज़ख्म लगाके भाग जानेवाले क़ज्ज़ाक़ या ठग, इन सबके सामने मैं छाती तानकर खड़ा हो सकता हूँ, और हुआ हूँ, पर इस तीसरी 'श्रेणि' से आँख मिलानेकी हिम्मत नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं । मग़रिबमें क्या सारी दुनियामें मैं पुराने ज़मानेके यूनानियोंसे बहुत खुश हूँ । इन्हें बुद्धिमत्ता (और

ईश्वर इस लफ़्ज़को दुनियासे उठावे) नीति-मत्तापर बड़ा ध्यान था, पर मेरी ग़िज़ा—(हुस्न)—पर वह उससे अधिक झुके थे।

वीनेन्स, वहीं निकली, और वह अन्धा मगर नटखट 'शरीर' लड़का 'क्यूपिड' जो एक हाथमें बाण और दूसरेमें कमान लिये, और कन्धोंमें पर लगाये उड़ता फिरता था, वहीं पैदा हुआ। वह मुझे घायल करता था लेकिन मैं बहुत ख़ुश होता था, क्योंकि मेरे प्रतिद्वन्द्वी (मर्द-मुक़ाबिल) क़ज़्ज़ाक़ोंको भी वह नहीं छोड़ता था। और......जहन्नुम (नरक) में जायँ आप और भाड़में जाय मेरी 'जीवनी' (सवानह-उमरी)—वह सामनेसे एक सौन्दर्यका आदर्श, लावण्यकी खान, सुकुमारताकी मूर्ति, मनोजके मनो-जव तुरङ्गपर चढ़ी गज-गामिनी भामिनी—

'ज्योत्स्नेव हृदयानन्दः सुरेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्ट—सर्वलोका नितम्बिनी॥'

—मुझे शिकार करनेके लिए आ रही है, और अब न मुझमें इतनी ताक़त और न उसकी ख़्वाहिश (इच्छा) ही, कि मैं अपने हालात बयान करूँ। आ आ कि मैं तेरी पूजा करूँ।"—

× × × × × × × × ×

(हज़रते-दिलके प्राइवेट सेक्रेटरीका नोट)—

हज़रते-दिल भले चङ्गे थे और अपने हालात (आप-बीती) लिखा रहे थे, कि यकायक 'अज़-ख़ुद-रफ़्ता हो गये—भावावेशमें आ गये—और बहकी-बहकी बातें करने लगे।

अफ़सोस है कि यह जीवनी अधूरी रह गई। पाठकवर्गसे प्रार्थना है कि उनकी सेहत (स्वास्थ्य) के लिए दुआ करें।*

---
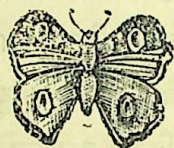
* सय्यद सज्जाद हैदर बी० ए० (नहटौरी—बिजनौरी) के 'हज़रते-दिलकी सवानह-उमरी, दिलके कलमसे' शीर्षक—लेखका अनुवाद। अनुवादमें मूल लेखककी शब्दशैली और लेखनशैलीको यथासम्भव यथास्थित रहने दिया गया है। बहुत ही कम, वह भी कहीं कहीं कुछ परिवर्तन और परिवर्धन किया गया है।

सय्यद सज्जाद हैदर साहब उर्दू के ऊंचे दर्जेके प्रतिभाशाली लेखक हैं, मौलिकता और 'जिद्दत' इनके लेखका असाधारण गुण है। इनका रास्ता (लेखपद्धति) सबसे अलग है, उसपर चलना आसान नहीं। इसलिए अनुवादमें कुछ विरूपता आ गई हो तो सहृदय पाठक क्षमा करें।

मुझे मेरे मित्रोंसे बचाओ

(एक सुलेखककी शिकायत, अपने मिलनेवालोंसे)

'और कोई तलब इबनाय-ज़मानेसे नहीं,
मुझपै अहसां जो न करते तो यह अहसां होता।'

एक दिन मैं दिल्लीके चाँदनी चौकमें जा रहा था कि मेरी नज़र एक फ़क़ीर पर पड़ी, जो बड़े मवस्सर तरीक़े—प्रभावोत्पादक प्रकारसे अपनी दीन-दशा लोगोंसे कहता जा रहा था। दो तीन मिनट बाद यह दर्दसे भरी हुई 'स्पीच' उन्हीं शब्दोंमें और उसी ढंगसे दोहरा दी जाती थी। यह तर्ज़ कुछ मुझे ऐसा ख़ास मालूम हुआ कि मैं उस शख्सको देखने और उसके शब्द सुनने-के लिए ठहर गया। इस फ़क़ीरका क़द लम्बा, शरीर ख़ूब मोटा ताज़ा था और चेहरा एक हदतक ख़ूबसूरत होता, पर बदमाशी और निर्लज्जताने सूरत बिगाड़ दी थी। यह तो उसकी शकल (आकृति) थी। रही उसकी 'सदा' (वाणी) सो मैं ऐसा शुष्क-हृदय नहीं हूं कि उसका खु.लासा लिख दूं। वह इस योग्य है कि एक एक शब्द लिखा जाय, सुनिए वह 'स्पीच' या सदा, यह थी—

"ऐ भाई खु.दातरस मुसलमानो और धर्मात्मा हिन्दुओ! खु.दाके लिए मेरा हाल सुनो, मैं आफ़तका मारा, सात बच्चोंका बाप हूं, अब रोटियोंको मोहताज हूं, और अपनी मुसीबत एक

एकसे कहता हूं, मैं भीख नहीं मांगता, मैं यह चाहता हूं कि अपने वतनको चला जाऊँ, पर कोई ख़ुदाका प्यारा मुझे घर भी नहीं पहुंचाता, हाय ! घर भी नहीं पहुंचाता।

"ऐ ख़ुदाके बन्दो ! मैं परदेसी हूं, मेरा कोई दोस्त नहीं, हाय मेरा कोई दोस्त नहीं, अरे कोई मेरी सुनो, मैं ग़रीब परदेसी हूं"—

फ़क़ीर तो यह कहता हुआ और जिन पर उसके क़िस्सेका असर हुआ, उनको ख़ैरात लेता हुआ आगे बढ़ गया। पर मेरे दिलमें कई विचार उत्पन्न हुए और मैंने अपनी हालतका मुक़ाबला उससे किया और मुझे स्वयं आश्चर्य हुआ कि बहुतसी बातोंमें मैंने उसको अपनेसे अच्छा पाया। यह ठीक है कि मैं काम करता हूं और वह मुफ्तखोरीसे दिन काटता है, मैंने शिक्षा पाई है, वह निरक्षर है। मैं अच्छे लिबासमें रहता हूं, वह फटे कपड़े पहनता है, बस यहां तक मैं उससे अच्छा हूं। आगे बढ़कर उसकी दशा मुझसे बहुत उत्तम है। मैं रातदिन चिन्तामें काटता हूं और वह ऐसी निश्चिन्ततासे ज़िन्दगी बसर करता है कि रोने और बिसूरनेकी सूरत बनाने पर भी उसके मुखपर प्रसन्नता झलकती थी। उसकी सेहत—स्वास्थ्य, पर मुझे रश्क (स्पृहा) करना चाहिए, बड़ी देर-तक मैं सोचता रहा कि इसकी यह स्पृहणीय दशा (क़ाबिले-रश्क हालत) किस वजहसे है ? अन्तमें मैं इस परिणामपर पहुंचा कि जिसे वह मुसीबत ख्याल करता है, वही उसके हक़में न्यामत है। वह खेदसे कहता है कि 'मेरा कोई दोस्त नहीं।' 'मैं दुःखसे कहता हूं कि मेरे इतने दोस्त हैं।' उसका कोई दोस्त नहीं ?

यदि यह सच है तो उसे धन्य कहना चाहिए, बधाई देनी चाहिए।

मैं अपने दिलसे ये बातें करता हुआ मकान पर आया, कैसा खुशक़िस्मत आदमी है, कहता है 'मेरा कोई दोस्त नहीं।' ऐ खुशनसीब आदमी! यहीं तो तू मुझसे बढ़ गया, पर क्या इसका यह कहना सच भी है? अर्थात् क्या वास्तवमें इसका कोई दोस्त नहीं, जो मेरे दोस्तोंकी तरह उसे दिन भरमें ५ मिनटकी भी फुरसत न दे। मैं अपने मकानपर एक लेख लिखने जा रहा हूं, पर ख़बर नहीं कि मुझे ज़रासा भी वक्त ऐसा मिलेगा कि मैं एकान्तमें अपने विचारोंको इकट्ठा कर सकूं और निश्चिन्ततासे उन्हें लिख सकूँ। या जो व्याख्यान मुझे कल देना है, उसे सोच सकूँ। क्या यह फ़क़ीर दिन-दहाड़े अपना रुपया ले जा सकता है और उसका कोई दोस्त रास्तेमें न मिलेगा और यह न कहेगा—कि 'भाई जान! देखो पुरानी दोस्तीका वास्ता देता हूं, मुझे इस वक्त ज़रूरत है, थोड़ा-सा रुपया क़र्ज़ दो'—क्या इसके मिलनेवाले वक्त बेवक्त इसे दावतोंमें खींचकर नहीं लेजाते, क्या कभी ऐसा नहीं होता कि उसे नींदके झोंके आ रहे हों, पर यार दोस्तोंकी गोष्ठी जमी है जो क़िस्से पर क़िस्सा और लतीफ़े पर लतीफ़ा कह रहे हैं और उठनेका नाम नहीं लेते, क्या इसे मित्रोंके पत्रोंका उत्तर नहीं देना पड़ता? क्या इसके प्रिय मित्रकी लिखी कोई पुस्तक नहीं, जो उसे ख्वाहमख्वाह पढ़नी पड़े और अनुकूल समालोचना लिखनी पड़े? क्या इसे मित्र-मण्डलीके

हो-हल्लड़में :शरीक होना नहीं पड़ता ? क्या मित्रोंके यहां मिलने उसे जाना नहीं पड़ता, और यदि न जाय तो कोई शिकायत नहीं करता ?

यदि इन सब आपत्तियोंसे वह बचा हुआ है तो कोई आश्चर्य नहीं जो वह ऐसा हट्टा कट्टा है, और मैं दुर्बल और कृश हूं, पर इतनेपर भी ईश्वरको धन्यवाद नहीं देता ! ईश्वर जाने वह और क्या चाहता है। लोग कहेंगे कि इसके यह कैसे बुरे विचार हैं, मित्रोंके बिना जीना दूभर हो जाता है—जीवन भार· भूत हो जाता है, और यह उनसे भागता है। पर मैं मित्रोंको बुरा नहीं कहता, मैं जानता हूं कि वह मुझे प्रसन्न करनेके लिये मेरे पास आते हैं और मेरे शुभचिन्तक हैं। पर परिणाम यह है कि मित्रोंका इरादा होता है मुझे लाभ पहुंचानेका और हो जाता है मुझे नुक़सान। चाहे मुझपर घृणा की जाय, पर मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि आजतक मेरे सामने कोई यह सिद्ध न कर सका कि बहुतसे मित्र बनाने—मित्रताका क्षेत्र विस्तृत करने-से क्या लाभ है। मैं तो यहांतक कहता हूं कि यदि संसारमें कुछ काम करना है और कोरी बातोंमें ही उम्र नहीं गुज़ारनी है तो कई अत्यन्त स्निग्ध मित्रोंको भी छोड़ना पड़ेगा, चाहे इससे मुझे कितनाही दुःख हो।

मसलन मेरे मित्र ईश्वरशरण हैं जिन्हे मैं 'भड़भड़िया' दोस्त, कहता हूं। यह बहुत भले आदमी हैं, मेरी उनकी मित्रता बहुत पुरानी और बेतकल्लुफ़ी की है, पर उनके स्वभावमें यह है

कि दो मिनट निश्चला नहीं बैठा जाता। जब आयेंगे शोर मचाते हुए, चीज़ोंको उलट पुलट करते हुए। इनका आना भूचालके आनेसे कम नहीं है। जब वह आते हैं मैं कहता हूं कोई आ रहा है, क़यामत (प्रलय) नहीं है। इनके आनेकी मुझे दूरसे ख़बर हो जाती है, यद्यपि मेरा लिखने पढ़नेका कमरा छतपर है। यदि मेरा नौकर कहता है कि 'वह इस वक्त काममें बहुत ही निमग्न हैं—'तो वह फ़ौरन चीखना शुरू कर देते हैं कि—'कमबख्तको अपने स्वास्थ्यका भी तो ध्यान नहीं' (नौकरसे) 'सोहन, कबसे काम कर रहे हैं?—'बड़ी देरसे।' शिव शिव, अच्छा, बस मैं एक मिनट इनके पास बैठूंगा, मुझे ख़ुद जाना है, छतपर होंगे न? मैं पहले ही समझता था, यह कहते हुए वह ऊपर आते हैं और दरवाज़ेको इस ज़ोरसे खोलते हैं कि मानो कोई गोला आ-कर लगा। (आजतक उन्होंने दरवाज़ा खटखटाया नहीं) और आंधीकी तरह दाख़िल होते हैं।

'अहा हा! आख़िर तुम्हें मैंने पकड़ लिया, पर देखो मेरे कारण अपना लिखना बन्द मत करो, मैं हर्ज करने नहीं आया। ओ हो, कितना लिख डाला है! कहो तबीयत तो अच्छी है? मैं तो सिर्फ यही पूछने आया था। ईश्वर जानता है मुझे कितना हर्ष होता है कि मेरे मित्रोंमें एक आदमी ऐसा है जो सुलेखक कहकर पुकारा जा सकता है,—लो अब जाता हूं, बैठूंगा नहीं, एक मिनट नहीं ठहरनेका। तुम्हारी कुशल मालूम करनी थी, बस यह कहकर वह बड़े प्रेमसे हाथ मिलाते हैं

और अपने जोशमें मेरे हाथको इस क़दर दबा देते हैं कि उँगलियोंमें दर्द होने लगता है और मैं क़लम नहीं पकड़ सकता, यह तो एक ओर रहा, अपने साथ मेरे सब विचारोंको भी लेजाते हैं, विचार-समूहको जमा करनेका प्रयत्न करता हूँ, पर अब वह कहाँ! यदि देखा जाय तो मेरे कमरेमें वह एक मिनटसे अधिक, नहीं रहे, तथापि यदि वह घन्टों रहते तो इससे ज्यादा नुक्सान न करते। क्या मैं उन्हें छोड़ सकता हूँ? मैं इससे इनकार नहीं करता कि उनकी मेरी मित्रता बहुत पुरानी है और वह मुझसे भाइयोंकी तरह स्नेह करते हैं, पर मैं उन्हें छोड़ दूंगा, हां छोड़ दूंगा, चाहे कलेजे पर पत्थर रखना पड़े।

और लीजिए, दूसरे मित्र विश्वनाथ हैं। यह बाल-बच्चों-वाले आदमी हैं, और रात दिन इन्हींकी चिन्तामें रहते हैं। जब कभी मिलने आते हैं तो तीसरे पहरके क़रीब आते हैं, जब मैं कामसे निवट चुकता हूँ। पर इस क़दर थका हुआ होता हूँ कि जी यही चाहता है कि एक घन्टे आराम कुरसी पर चुपचाप पड़ा रहूँ। पर विश्वनाथ आये हैं, उनसे मिलना ज़रूरी है, उनके पास बातें करनेके लिए सिवा अपनी स्त्री और बच्चोंकी बीमारीके और कोई मज़मून ही नहीं। मैं कितनी ही कोशिश करूँ, पर वह उस विषयसे बाहर नहीं निकलते। यदि मैं मौसमका ज़िक्र करता हूँ तो वह कहते हैं, हां बड़ा ख़राब मौसम है। मेरे छोटे बच्चेको बुखार आगया, मझली लड़की खांसीसे पीड़ित है। यदि पोलिटिक्स या साहित्य-सम्बन्धी चर्चा प्रारम्भ करता हूँ तो वह

(विश्वनाथजी) फ़ौरन फ़रमाते हैं कि भाई आजकल घर-भर बीमार है। मुझे इतनी फ़ुर्सत कहां कि अख़बार पढ़ूँ। यदि किसी सभा-सोसाइटीमें आते हैं तो अपने लड़कोंको ज़रूर साथ लिये होते हैं और हर एकसे बारबार पूछते रहते हैं कि तबीयत तो नहीं घबराती? प्यास तो नहीं मालूम होती? कभी कभी नब्ज़ भी देख लेते हैं, और वहाँ भी किसीसे मिलते हैं तो घरकी बीमारी-ही की चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार मेरे एक मुक़दमेबाज़ मित्र हैं, जिन्हें अपनी रियासतके झगड़ों-अपने प्रतिपक्षीकी बुराइयों-और जज-साहबकी स्तुति या निन्दा-(स्तुति उस दशामें जब उन्होंने मुक़दमा जीता हो) के अतिरिक्त कोई विषय ही नहीं। अपने और नाना भांतिके मित्रोंमेंसे मैं लक्ष्मणस्वरूपजी की चर्चा विशेषरूपसे करूँगा।

आप विक्रमपुरके रईस और ज़िले भरमें एक प्रतिष्ठित पुरुष हैं। उन्हें अपनी योग्यताके अनुसार साहित्यसे बहुत अनुराग है। साहित्य पढ़नेका इतना नहीं, जितना साहित्य-सेवियोंसे मिलने-जुलने और परिचय प्राप्त करनेका। उनका विचार है कि विद्वानों-का थोड़ा बहुत सत्कार करना धनिकोंका कर्तव्य है। वह एक बार मेरे यहां तशरीफ़ लाये और बड़े आग्रहसे मुझे विक्रमपुर ले गये, यह कहकर कि—'शहरमें रात-दिन कोलाहल और अशान्ति रहती है, गांवमें कुछ समय रहनेसे जलवायुका परिवर्तन भी होगा और वहां लिखनेका काम भी अधिक निश्चिन्ततासे कर सकोगे। मैंने एक कमरा ख़ास तुम्हारे लिये ठीक कराया है, जिसमें पढ़ने

लिखनेका सब सामान प्रस्तुत है। थोड़े दिन रहकर चले आना, देखो मेरी खुशी करो।'

मैं ऐसे प्रेमपूर्ण आग्रह पर मना कैसे कर सकता था। मुख्तसिर सामान लिखने पढ़नेका लेकर उनके साथ हो लिया। 'प्रतिभा'-सम्पादक से प्रतिज्ञा कर चुका था कि यथासमय एक लेख उनकी सेवामें भेजूँगा। लक्ष्मणस्वरूपजीकी कोठीपर पहुँचकर मैंने वह कमरा देखा जो मेरे लिये ठीक किया था, यह कमरा कोठीकी दूसरी मंज़िलपर था, और खूब सजाया गया था, इसकी एक खिड़की पाईं-बाग़की ओर खुलती थी—और एक अत्यन्त हृदयहारी दृश्य मेरी आंखोंके सामने होता था। प्रातःकाल मैं नाश्ता (प्रातराश) के लिए नीचे बुलाया गया। जब चायका दूसरा प्याला पी चुका तो अपने कमरेमें जानेके लिए उठता ही था कि चारों ओरसे आग्रह होने लगा—'हैं हैं, कहीं ऐसा ग़ज़ब न करना कि आजहीसे काम शुरू करदो, अपने दिमाग़को कुछ आराम तो दो, और आजका दिन तो विशेषकर इस योग्य है कि दृश्य (सीनरी) का आनन्द लिया जाय। चलिए, गाड़ी तयार कराते हैं, दरियाकी सैर होगी, फिर वहांसे दो मील दौलतपुर है आपको वहांके रईस राजा हृदयनारायणसिंहसे मिलायगे।'

मेरा माथा वहीं ठनका कि यदि यही दशा रही तो यहां भी अवकाश मिल चुका। अस्तु, इस समय तो मैं सैकड़ों बहाने बनाकर बच गया, और मेरे कारण वह भी रुक गये—न जा सके, पर मुझे बहुत जल्द मालूम होगया कि जिस दुर्लभ पदार्थ—

एकान्त वास और अवकाशके लिए मैं आतुर था, वह मुझे यहां भी प्राप्त न होगा।

मैं जल्दीसे उठकर अपने कमरेमें आया और उस समय ज़रा ध्यानसे उस मेज़के सामानको देखा जो मेरे लिखने पढ़नेके लिए तयार की गई थी। मेज़पर बहुत क़ीमती कामदार कपड़ा पड़ा हुआ था, जिसपर स्याहीकी एक बूंद गिराना 'महापाप' से कम न होगा। चांदीकी दावात, पर स्याही देखता हूँ तो सूखी हुई। अंगरेज़ी क़लम निहायत क़ीमती और दुष्प्राप्य, पर एक-आधको छोड़कर निब किसीमें नहीं। ब्लाटिंग पेपर (जाज़ब) एक मखमली जिल्दकी किताबमें, पर लिखनेके काग़ज़का—पता नहीं। इसी प्रकार बहुतसा बढ़िया बहुमूल्य सामान मेज़पर था, पर इसमेंसे बहुत कुछ मेरे कामका नहीं, और जो चीज़ें कि ज़रूरतकी थीं, वह मौजूद नहीं। अन्तमें मैंने अपना वही पुराना, पर कामका बक्स और अपनी मामूली दावात और क़लम (जिसने अब तक बड़ी ईमानदारीसे मेरी सहायताकी थी—मेरे उड़ते हुए विचारोंको बड़ी फुरतीसे पकड़कर कागजके पिंजरेमें बन्द किया था) —निकाला और लिखना शुरू किया। यह ज़रूर हुआ कि जिन कलरव मधुरभाषी पंछियोंकी प्रशंसा करते कवि नहीं कथते, उन (पंछियों) की कृपासे इस समय मैं प्रसन्न नहीं हुआ कि सबके सब नीचे वृक्षपर जमा होगये और शोर मचाना शुरू कर दिया। तथापि प्रयत्नपूर्वक मैंने उधरसे कान बन्द कर लिये, और लिखनेमें सर्वात्मना संलग्न होगया,......"तन् तनन् तन्तनाना, छन्

ततन् तन् तन तन्—" मैं ऐसा ध्यानमें मग्न था, इधर उधरकी कुछ सुध न थी कि इस तन तन्-ने चौंका दिया, ऐं यह क्या है ? ओफ़्फ़ो ! अब मैं समझा; मेरे कमरेके क़रीब लक्ष्मणस्वरूपजीके छोटे भाईका कमरा है, यह गाने बजानेमें बहुत प्रवीण हैं, इस समय सितारसे शौक़ फ़रमा रहे हैं, बहुत खूब ब जा रहे हैं—

"यमुना तलफत बीती रैन ।'

त्रिविध समीर तीर-सम लागत विषसम कोकिल बैन ।"

वाह क्या कहना है, कमाल करते हैं ।

कोई आध घन्टा उन्होंने सितार बजाकर, मेरी इच्छाके विरुद्ध मुझे गानामृत पान कराकर तृप्त किया । फिर किसी कारणसे वह अपने कमरेसे चले गये, सन्नाटा होगया तो मुझे फिर अपने कामका ध्यान आया ।

ऐ मेरे ख़यालात ! (मेरे विचारो !) तुम्हीं मेरी निधि—ख़ज़ाना हो, दया करो, मेरे मस्तिष्क (दिमाग़)में फिर आ जाओ—यह प्रार्थना करके मैंने काग़ज़पर नज़र डाली कि देखूँ कहाँ छोड़ा है, मैं इस वाक्यतक पहुंचा—'हम इस विस्तृत और गहन विषयपर जितना विचार करते और ध्यान दौड़ाते हैं उतनी ही इसकी गहनता और जटिलता'—इसके आगे मैं क्या लिखनेवाला था--'नदीकी बालुका-राशिके समान'—नहीं ऐसा साधारण और असङ्गत वाक्य तो न था, कोई उत्कृष्ट उपमा थी, बड़े सुन्दर ओजस्वी शब्द थे, ईश्वर जाने क्या था, क्या न था, अब तो दिमाग़में उसका पता भी नहीं । गानेवाले साहब तो शिकायत ही कर रहे

थे कि—'त्रिविध समीर तीर-सम लागत'—पर मेरे विचाररूप पंछी सचमुच ही इस तीरका शब्द सुनकर एकदम दिमाग़की डालीसे उड़ गये ! अच्छा, अब उस वाक्यको मुझे नये सिरसे ठीक करना चाहिए, गहनता और जटिलताकी जगह कुछ और होना चाहिए—

'हम इस विस्तृत विषयपर जितना विचार करते हैं, उतना ही इन विज्ञानरूप रत्नोंको जो हमारे देश और जातिके विद्या-कोशको भरनेके लिए पर्याप्त हैं और जिनका महत्त्व—आप कहां भूल पड़े, इतने दिनों कहां रहे ? जिनका महत्त्व—आप कहां भूल पड़े—इतने दिनों कहां रहे ?—यह क्या असम्बद्ध वाक्य हुआ ? 'आप कहां भूल पड़े, इतने दिनों कहां रहे'—यह वाक्य तो लक्ष्मण-स्वरूपजीने किसी मित्रसे कहे हैं, जो अभी उनसे मिलने आये हैं, मैं अपनी धुनमें इन्हें ही लिख गया ! हां, तो काटकर फिर ठीक करना चाहिए —'और जिनका महत्त्व, देश और जातिको अभी विदित नहीं हुआ और'—कोई दरवाज़ा खटखटाता है। कौन है ? —"जी मैं हूँ मोहन। सरकारने कहा है कि यदि आपको तक-लीफ़ न हो तो नीचे ज़रासी देरके लिए तशरीफ़ लाइए। कोई साहब आये हुए हैं और सरकार उन्हें आपसे मिलाना चाहते हैं—" जी नहीं चाहता था, पर उठा और नीचे गया। लक्ष्मणस्वरूपजीके मित्र राजा हृदयनारायणसिंह आये हुए थे, उनसे मेरा परिचय कराया गया। थोड़ी देर बाद वह तशरीफ़ ले गये, मुझे छुट्टी मिली। मैंने जी जमाकर फिर लिखना शुरू किया, थोड़ी देर

बीती थी कि मोहनने फिर दरवाज़ा खटखटाया, मालूम हुआ मेरी फिर याद हुई। हमारे मेज़बान (आतिथेय) के कोई और मित्र आये हैं और मैं उन्हें दिखाया जाऊँगा। मानो मैं भी उस अरबी घोड़ेके तुल्य था, जिसे मेरे मेज़बान मित्रने हालहीमें ख़रीदा था, और जो प्रत्येक आनेवाले मित्रको अस्तबल (घुड़साल) से मँगाकर दिखाया जाता था। इन महाशयसे छुट्टी पाकर और भागकर मैं फिर अपने कमरेमें आया। विचारशृंखला फिर विच्छिन्न होगई थी, ख़यालात ग़ायब होगये थे, वाक्य फिर नये सिरसे बनाना पड़ा। जी उचाट होगया, बड़ी कठिनतासे फिर बैठा और लिखना शुरू किया। इस बार सौभाग्यसे कोई आधा घण्टा ऐसा मिला जिसमें कोई आया गया नहीं, अब मेरा क़लम तेज़ीसे चल रहा था और मैं लिख रहा था:—

"हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे देशके सुयोग्य युवक जन जिन्हें नवीन आविष्कारों और अनुसन्धानोंसे अनुराग है और जो कोलम्बसके समान नवीन विचार और नई दुनियाकी उद्भावनामें अपनेको'—

दरवाज़ेपर फिर दस्तक- क्या है ? 'हुज़ूर खाना तयार है, परोसा जा चुका है।' अच्छा,—'अपनेको संकटमें डालनेसे भी नहीं डरते, अवश्य इस ओर ध्यान देंगे, और अपने उद्योग और परिणामसे वर्तमान,—दरवाज़ा फिर खट-खटाया गया—'हां, हुज़ूर! सरकार आपका इन्तज़ार कर रहे हैं, खाना ठंडा हुआ जाता है।' ओफ़ो मुझे ख़याल नहीं रहा, सरकारसे निवेदन करना, मेरा इन्त-

ज़ार न करें। मैं फिर खालूंगा, इस वक्त मुझे कुछ ऐसी भूख नहीं—'और आनेवाली सन्तानोंको उपकृत करेंगे, यही वह नवयुवक हैं जो जातिकी नौकाको, ईश्वरकी सहायतापर विश्वास करके आपत्तियोंसे बचाते और सफलताके किनारे लगाते हैं, जीवन और मृत्युकी कठिन समस्या'—दस्तक— क्या है ? 'सरकार कहते हैं कि यदि आप थोड़ी देरमें खायँगे तो हम भी उसी वक्त खायँगे, पर खाना ठंडा होकर ख़राब हो जायगा।' अच्छा भाई लो अभी आया, यह कहकर मैं खानेके लिए जाता हूँ, सबसे क्षमा माँगता हूँ। मेज़बान बड़े कृपापूर्ण विनीत भावसे कहते हैं, चेहरे-पर थकन मालूम होती है। क्या बहुत लिख डाला? देखो मैं कहता न था कि शहरमें ऐसी फ़ुरसत और निश्चिन्तता कहां, इसपर 'ठीक है, उचित है' के अतिरिक्त और मैं क्या कहता। अब खानेपर आग्रह होता है, जिस चीज़से मुझे रुचि नहीं, वही खिलाई जाती है। भोजनकी समाप्तिपर मेज़बान साहब फ़रमाते हैं—तीसरे पहरको तुम्हें गाड़ीमें चलना होगा, मैं तुम्हें इस वास्ते यहां नहीं लाया कि सख्त दिमाग़ी काम करके अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लो। कमरेमें वापस आकर मैं थोड़ी देर इसलिए लेटता हूं कि ख्यालात जमा कर लूं और फिर लिखना शुरू कर दूं, पर अब ख्यालात कहाँ ? मज़मून उठाकर देखता हूं 'जीवन और मृत्यु-की कठिन समस्या' के सम्बन्धमें क्या लिखनेवाला था, इन शब्दोंके पश्चात् कौनसे शब्द दिमाग़में थे ? अब कुछ याद नहीं कि इस वाक्यकी पहले वाक्योंसे किस प्रकार संगति करनी थी।

योंही पड़े-पड़े नींद आ जाती है, तीसरे पहर फिर उठता हूं तो मस्तिष्क ठीक स्वस्थ है, जीवन और मृत्युकी कठिन समस्या बिलकुल समझमें आजाती है, पूरा वाक्य दर्पणकी तरह साफ़ दिखाई देता है, मैं ख़ुशी ख़ुशी उठकर मेज़पर गया, और लिखना चाहता था कि फिर वही दस्तक ! नौकर सूचना देता है कि गाड़ी तय्यार है, सरकार कपड़े पहने आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं फ़ौरन् नीचे जाता हूँ तो पहली बात जो वह कहते हैं वह यह होती है—'आज तो दस्तेके दस्ते लिख डाले।' मैं सच्ची बात कहूँ कि कुछ भी नहीं लिखा तो वह हँसकर उत्तर देते हैं कि आख़िर इस शील-संकोचकी क्या ज़रूरत है—

'ख़ुदाके वास्ते झूठी न खाइए क़स्में,
मुझे यक़ीन हुआ और मुझको ऐतबार आया।'

मिल-मिलाकर शामको वापस आये, खानेके बाद बातें होती हैं। सोनेके वक्त अपना दिनभरका काम उठाकर देखता हूँ तो एक सफे (पृष्ठ) से ज़्यादा नहीं, वह भी असम्बद्ध। क्रोधमें आकर उसे फाड़कर फेंक देता हूँ। और दूसरे दिन अपने आतिथेय मित्रको नाराज़ करके अपने घर लौट आता हूँ। मैं कृतघ्न कहा जाऊँगा, पर मैं मजबूर हूँ। इस प्रिय कृपालु मित्रको भी छोड दूँगा। मैंने कुछ विस्तारसे इनका हाल कहा है, पर यह न सोचना कि यहीं उन मित्रोंकी संख्या समाप्त होगई है जिनसे मैं छुट्टी चाहता हूँ। नहीं, अभी बहुतसे बाक़ी हैं। यथा—एक महाशय हैं जो मुझसे कभी नहीं मिलते, जब आते हैं, मैं उनका मतलब समझ

जाता हूं, यह महाशय हमेशा क़र्ज़ मांगनेके लिए आते हैं। एक महाशय हैं जो सदा ऐसे समय आते हैं जब मैं बाहर जानेको होता हूं। एक महाशय हैं जब मुझसे मिलते हैं कहते हैं—'भाई एक अर्सेसे मेरा दिल चाहता है, तुम्हारी दावत करूं'—पर कभी अपनी इस इच्छाको पूरी नहीं करते। एक मित्र हैं, वह आते ही प्रश्नोंकी झड़ी लगा देते हैं, जब उत्तर देता हूं तो ध्यानसे सुनते नहीं, अखबार उठाकर पढ़ने लगते हैं, या गाने लगते हैं। एक साहब हैं, जब आते हैं अपनी ही कहे जाते हैं, मेरी नहीं सुनते।

यह सब मेरे हितैषी और कृपालु हैं, पर मैं अपनी तबीयतको क्या करूं? साफ़ साफ़ कहता हूं और इनमें प्रत्येकसे कह सकता हूं—

'मुझ पै अहसां जो न करते तो यह अहसां होता।'

अब जब कि मैंने यह हाल लिखना शुरू कर दिया है, उचित प्रतीत होता है कि कुछ अन्य मित्रोंके सम्बन्धमें भी अपने विचार प्रकट करदूँ। दरवाज़ेपर एक गाड़ी आकर रुकी, मैं समझ गया कि कौन साहब तशरीफ़ ला रहे हैं, मैं उनकी शिकायत न करूँगा, क्योंकि यह क्या आश्चर्य नहीं है कि मैं तीन घंटेसे यह लेख लिख रहा था और किसी कृपालुने कृपा नहीं की। इसलिए उनकी इस कृपाके उपलक्ष्यमें मैं इस लेखको इसी अपूर्ण दशामें छोड़ता हूँ और अपने मित्रका स्वागत करता हूँ। यह मित्र मेरे स्वास्थ्यका बहुत ध्यान रखते हैं, जब आते हैं मुझपर इस कारण नाराज़ होते हैं, तुम अपने स्वास्थ्यका ध्यान नहीं रखते। मैं जानता हूँ कि इस

वक्त, भी किसी नये हकीम या डाक्टरका हाल सुनायँगे, जो बड़ा अनुभवी है, या कोई अनुभूत योग (नुसख़ा) मेरे लिए किसीसे माँगकर लाये होंगे।

आइए, आइए चित्त प्रसन्न है ? बहुत दिनोंमें पधारे। †

† सय्यद सज्जाद हैदर बी० ए० (नहटौरी) के एक लेखका अनुवाद।

प्रेम-पत्रिका

(दोस्तका खत)

तू प्यारे दोस्तका प्यारा खत है, तुझमें वह कौनसी बिजली भरी है जो मेरे दिलको धड़काती है ! तुझे खोलते वक्त हाथ क्यों कांपने लगते हैं ? आख़िर तुझमें और काग़ज़ोंसे क्या बरतरी (श्रेष्ठता) है ! तू भी काग़ज़का टुकड़ा, वह भी काग़ज़के टुकड़े, बल्कि वह तुझसे ज़्यादा बड़े हैं। हाँ, इस गर्व और मोहका कारण यही है न कि दोस्तने तुझे लिखा, पान खाए हुए ओठोंसे उफ़—पान खाये ओठोंसे—लिफ़ाफ़ा बन्द किया। बेशक बेशक, यह बहुत बड़ी 'महिमा' है। अच्छा, मैं तेरी परीक्षा लेता हूं, तुझे नंबर देता हूं। १०० में देखूं तुझे कितने नंबर मिलते हैं—

उनके हाथोंसे छुये जानेके—	४०
इस बातके कि काग़ज़के दस्तेमेंसे तुझे ही चुना—	५०
उन ओठोंसे लिफ़ाफ़ेको बन्द किया—	७०
	१६०

हैं ! तूने सौ से ज्यादा नंबर पाये ! नहीं, यह इम्तहान ठीक नहीं हुआ। दूसरे तरीक़ेसे शुमार होना चाहिये—

इस बातके कि तुझे मेरे लिये चुना, और किसीके लिए नहीं चुना—	६०
इस बातके कि उनके क़लमकी तहरीर तुझपर है—	४०

इस बातके कि उनके चेहरेका अक्स (मुखका प्रतिबिम्ब) तुझपर पड़ा, क्योंकि वह फ़र्माते हैं कि यह ख़त रातको लिखा है—

५००

६००

क्या फिर सौ से ज़्यादा हो गये! यह ठीक नहीं। अच्छा तीसरी बार फिर इम्तहान—

इस बातके कि तू उनकी कुशल और प्रसन्नताके समाचार लाया— ८०

इस बातके कि तुझे चाक कर देनेका हुक्म है— १०००

यह क्या, नम्बर तो सौ से फिर बढ़ गये!

नहीं, नहीं; मैं बेफ़ायदा कोशिश नहीं करनेका, तू परीक्षासे ऊपर, जांचसे ऊंचा और समतासे स्वतंत्र, प्यारे मित्रका प्यारा, प्यारा—हाय मैं कैसे ज़ाहिर करूं कितना प्यारा—पत्र है। तू छातीसे लगाया जायगा, तू दूसरोंकी दृष्टिसे बचाया जायगा, पर तू चाक नहीं किया जायगा, तू मेरे पास सुरक्षित रहेगा, और मैं हज़ारों बार तुझे एकान्त कोनेमें पढ़ूंगा।*

---

* सैयद सज्जाद हैदर बी०ए० नहटौरी के 'ख़यालस्तान' से।

बुढ़िया और नौशेरवां

बहुतसे लोगोंका खयाल है कि प्रजा तन्त्र शासन-प्रणालीकी जननी नवीन सभ्यता ही है, राजशासनमें प्रजाके मतामतको जान-कर कार्य करना, योरपके लोगोंने ही संसारको सिखाया है। एशि-याके पुराने शासकगण स्वेच्छाचार-परायण और निरे उद्दण्ड होते थे, उनकी शख्सी हुकमतमें किसीको चूं करने, या दम मारनेकी मजाल न थी, प्रजाका जान-माल और उनकी ज़िन्दगी मौत खुद-मुख़्तार राजा और बादशाहोंकी एक 'हां' या नहीं' पर मौक़ूफ़ थी। ज़रासी नाराज़गी या हुक्म-उदूलीपर क़त्ले-आम और 'बिज़न' बोल दिया जाता था। ज़रा ज़रासी बातपर आनकी आनमें गाँवके गांव शासकोंकी क्रोधाग्निमें फुँककर भस्म हो जाते थे, उनके मुंहसे जो बुरा-भला निकल गया, बस वह ईश्वरेच्छाकी तरह अमिट था, फिर चाहे जो भी हो, पर उनका हुक्म ज़रूर पूरा हो, उनकी उद्दण्डा-ज्ञाके आगे हुत्कार निकालना—'जो हुक्म हजूर' के सिवा कुछ और ननु नच करना, वक्तसे पहले मौतको बुलाना था। राजा और ईश्वरका एक दर्जा था—जिस तरह वह बड़ा 'ईश्वर' अपना कोई काम किसीसे पूछकर नहीं करता, वह जो कुछ भी रहम या क़हर अपने बंदोंपर नाज़िल करे उसे शुक्र और सब्रके साथ बरदाश्त करनेके सिवा कुछ चारा नहीं, इसी तरह छोटा 'ईश्वर' (राजा)

भी शासनमें सब प्रकारसे स्वतंत्र और—'कुर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः'—समझा और माना जाता था। "हुक्मे-हाकिम मर्गे-मफ़ाजात" यह मशहूर कहावत उसी ज़मानेकी एक यादगार है।

सम्भव है एशियाके पुराने तर्ज़ हुकूमतके बारेमें नई रोशनी-वालोंका यह ख़याल किसी हद तक ठीक हो, और यह भी दुरुस्त हो कि पहले यहाँ हुकूमतका पार्लिमेंटरी तरीक़ा बिल्कुल आजकलका तरह कभी जारी न था। यद्यपि बहुतसे विद्वानोंने यह सिद्ध करनेका प्रमाण-पुरःसर प्रयत्न किया है कि पुराने भारतमें भी इस समयके ढंगसे ही मिलता जुलता प्रजातन्त्र प्रणालीका शासन भी प्रचलित था। यहांका पुराना शासन इस समयके प्रजातंत्र शासनसे भिन्न प्रकारका था, या बिल्कुल ऐसा ही था, और वह इससे अच्छा था, या बुरा, इस विषयपर हम यहां विवाद करना नहीं चाहते। यहांका पुराना शासन-प्रकार चाहे किसी ढंग-का था, पर उसमें यह बात नहीं थी जैसा कि आजकलकी नई-रोशनीके परवाने कितनेक महाशयोंका ख़याल है कि—'भारतके पुराने शासक निरे 'गवरगण्ड राजा' के क्लासके होते थे, न्यायमें उनकी इच्छा ही सब कुछ थी।'—पुराने इतिहासोंमें ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं है, जिनसे अच्छी तरह सिद्ध होता है कि न्यायके लिये प्रजाकी पुकार पर पूरा ध्यान दिया जाता था, साधारणसे साधारण और तुच्छातितुच्छ व्यक्ति भी कभी कभी न्यायके बलपर बड़े बड़े सम्राटोंके सामने डट जाते थे, और उनके न्याय-संगत पक्षसे

उन स्वच्छन्द शासकोंको पराहत होना पड़ता था। आज हम ऐसा ही एक पुराना ऐतिहासिक उदाहरण पाठकोंके सामने रखना चाहते हैं, जिसकी मिसाल बीसवीं सदीके पार्लिमेन्टरी, रिपबलिक या प्रजातन्त्र प्रणालीके शासनमें भी शायद ही कहीं मिले। यह घटना एशिया खण्डान्तर्गत फारस (ईरान) देशके सुप्रसिद्ध बादशाह 'नौशेरवां-आदिल' के सम्बन्धकी है।

मशहूर है कि नौशेरवांके शाही महलकी बगलमें एक बुढ़िया-फूंस भड़भूँजनकी फूंसकी झोंपड़ी थी। जब महलकी नींव डाली जाने लगी तो बुढ़ियासे उसकी झोंपड़ी मांगी गई, झोंपड़ीके बिना-मिलाये महल सीधा न बनता था। उसके बदलेमें बुढ़ियाको बढ़ियासे-बढ़िया मकान और मुँह मांगे दाम देनेको कहा गया, पर उस ज़िद्दन बुढ़ियाने किसी तरह अपनी झोंपड़ीको छोड़ना पसन्द न किया। वह बराबर यही कहती रही कि "मैं अपनी झोपड़ी पर बादशाहके सारे महलोंको निछावर करके फेंक दूंगी, भाड़की आगसे फूंक दूंगी पर अपनी यह झोंपड़ी न छोड़ूंगी।" लाचार होकर बुढ़िया-की झोंपड़ी छोड़ दी गई, और ख़म देकर महल बनाया गया। महल बननेके बाद जब यह देखा गया कि बुढ़ियाको झोंपड़ीके उठते हुए धुएंसे शाही महलका कोना काला होता है तो बुढ़ियासे कहा गया कि तू भाड़ चढ़ाना बंद कर, और चूल्हा मत फूंक, क्योंकि इससे महलका कोना काला हुआ जाता है, तेरे लिये शाही लंगरसे अच्छेसे अच्छा खाना मिल जाया करेगा, पर बुढ़ियाने यह भी स्वीकार न किया, उसने कहा कि 'मैं कोई भिखारिन

या अपाहज नहीं हूं जो शाही लंगरकी रोटियोंसे अपना पेट पालूं।

बुढ़ियाके भाड़ और चूल्हेका धुआं बराबर महलको काला करता रहा, पर आदिल-नौशेरवांके अदल (न्याय) ने इस बातकी आज्ञा न दी कि उसे जबरन् बन्द करा सके।

नौशेरवांका वह तिरछा और बुढ़ियाकी झोंपड़ीके उठते हुए धुएँसे मैला महल, नौशेरवांके न्यायकी समताको और उसके शशि-शुभ्र यशके प्रकाशको अबतक संसारमें फैला रहा है! नौशेरवांका वह आकाशको छूनेवाला महल और बुढ़ियाकी झुकी हुई झोंपड़ी, दोनों ही समयपर आकर खाकमें मिल गये, बादशाह और बुढ़िया भी कभीके संसारसे विदा हो गये, पर उनकी यह न्याय कहानी अबतक ज़िन्दा है। ऐसे ही सत्कार्योंने नौशेरवांके नामको अजर अमर बना दिया है, इसीलिये वह आदर्श "आदिल" (न्याय करनेवाला) कहलाता है—'शेख़शादी' ने इसीलिये यह कहा है और बिल्कुल ठीक कहा है:—

'क़ारूं हिलाक शुद के चहल ख़ाना गन्ज दाश्त,
नौशेरवां न मुर्द के नामे-निको गुज़ाश्त।'*

---

* नौशेरवां— ५ वीं सदी ईसवीमें फ़ारिसका बादशाह था, वह एक आदर्श न्यायकारी राजा था, न्याय-परायणताके कारण ही उसकी 'आदिल' उपाधि थी। इसने ही अपने एक विद्वान् दरबारीको भारतमें भेजकर 'पञ्चतन्त्र' का फ़ारसीमें अनुवाद कराकर अपने यहां प्रचरित किया था।

—क़ारूं* हिलाक होगया—मर गया, यद्यपि उसके पास चालीस कोठरियाँ ख़ज़ानेकी थीं, नौशेरवां नहीं मरा, क्योंकि वह अपना नेक-नाम दुनियामें छोड़ गया—"कीर्तिर्यस्य स जीवति"—
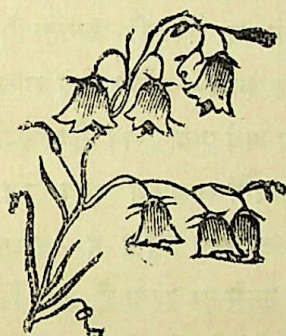
* क़ारूं—हज़रत मूसा पैग़म्बरके चचाका लड़का और मूसाका दामाद था। यह पहले कोरा कंगाल था, कहते हैं इसकी कंगाली पर तरस खाकर मूसाने इसे कीमिया (रसायन) का लटका बता दिया, जिससे यह ऐसा धनाढ्य हो गया कि अबतक 'क़ारूंका ख़ज़ाना' मशहूर चला आता है। इसकी बाबत मशहूर है कि चालीस कोठरियोंमें इसके ख़ज़ानोंकी सिर्फ़ कुञ्जियां भरी थीं!

गीताके एक श्लोकका अर्थ

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

—जो सब प्राणियोंके लिये रात्रि है जिसमें सब सोते हैं—उसमें संयमी, योगी या विवेकी जागता है; और जिसमें सब प्राणी जागते हैं, वह ज्ञानी—मुनिके लिये रात्रि है।

इस श्लोकका अर्थ प्रायः सब टीकाकारोंने यही किया है कि जिन सांसारिक कार्योंमें साधारण पुरुष उलझे रहते हैं, उनकी ओरसे ज्ञानी पुरुष उदासीन रहता है—बन्धनका कारण जानकर उनमें नहीं फँसता, उनसे दूर रहता है; तथा जिस परमार्थ-पथ या ज्ञानमार्गकी ओरसे संसारी जीव बेपरवा रहते हैं—सोते रहते हैं, उसमें ज्ञानी पुरुष जागता है—अर्थात् इस आलङ्कारिक वर्णनमें रात्रि या सोनेसे मतलब 'काम्य कर्म' हैं; और जागनेसे अभिप्राय 'ज्ञान' है।

परन्तु एक विद्वान् और संयमी योगीने अपने निजी अनुभवके आधारपर इस श्लोकका जो भाव बतलाया है वह बिलकुल विलक्षण पर अत्यन्त सुसंगत प्रतीत होता है। गीताप्रेमी भगवद्भक्तोंकी जानकारीके लिये योगी-महाराजका अनुभूत अर्थ प्रायः उन्हींके शब्दोंमें लिखता हूं—

इस भगवदुक्तिका अभिप्राय हृदयङ्गम करनेके लिये 'ज्ञान'

और 'अज्ञान' तथा 'स्वप्न' और 'जाग्रदवस्थाका' स्वरूप और भेद समझ लेना आवश्यक है।

'ज्ञान' उस दशाका नाम है जिसमें कि प्रकृतिका सम्बन्ध-लेश भी न हो। कैवल्यभाव, प्रत्यगवस्था, तुर्यावस्था, स्वरूप-निष्ठा और आत्मस्थिति, इसी 'ज्ञान'के पर्याय हैं।

इसके विपरीत जो है वह 'अज्ञान' है। अब विचारणीय विषय यह है कि जिसे 'जाग्रदवस्था' कहा जाता है वह ज्ञानावस्था है या अज्ञानावस्था? वास्तवमें जाग्रदवस्था अज्ञानावस्था है, क्योंकि इसमें मन, शरीर आदिके सम्बन्धसे ही व्यवहार होता है।

वेदान्तमतमें संसार स्वप्न है या स्वप्नवत् है। स्वप्नकी चार ही अवस्था हैं—स्वप्नावस्थामें ये चार ही प्रकारके स्वप्न देखे जाते हैं, प्रकारान्तरकी कल्पनाका अन्तर्भाव इन्हीं चारोंमें हो जाता है। स्वप्नकी ये दशाएं और इनका क्रम इस प्रकार है—

(१) जब मनुष्य सोने लगता है तो क्रमशः बाह्य व्यापार बन्द होने लगते हैं। पहले दूरस्थ व्यापारसे मन उपरत होता जाता है, फिर सन्निहित (आस-पासके) मकान और घट, पट आदि वस्तुओंसे; पश्चात् शरीरका भान भी नहीं रहता और आत्मा सहसा एक दूसरे संसारमें पहुंच जाता है।

इस प्रथम प्रकारके स्वप्नकी अन्तिम दशामें 'अन्नमय कोश' का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, केवल शरीराध्यासकी वासना बनी रहती है। इस प्रथम स्वप्नमें जो दृश्य हमारे सामने आते हैं उनके सम्बन्धमें इष्ट अनिष्टकी कल्पना मन करता है और इच्छा-

निष्टका निर्णय बुद्धि करती है, इष्टके ग्रहण (प्राप्ति) और अनिष्टके परिहारके लिये मन, प्राणको प्रेरणा करता है, इस दशामें स्वप्न-दृष्ट सिंह सर्प आदि अनिष्ट पदार्थोंसे स्वप्नद्रष्टा भागना चाहता है तो सोते सोते अनायास पांव हिलने-कांपने लगते हैं। कभी कभी उठकर चलने भी लगता है। जीवात्मा यह स्वप्न-व्यापार प्राणमय कोश पर्यन्तके अध्याससे करता है—यद्यपि इस अवस्थामें प्रधान व्यापार प्राणमय कोशहीका रहता है पर इससे अगले तीन कोशों (मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय) के व्यापारका सम्बन्ध भी रहता है, क्योंकि ये तीनों कोश सूक्ष्मताके तारतम्यसे परस्पर सम्बद्ध हैं। यथा—क्रिया—भागना, चलना आदि, प्राणमय कोशका काम है, कल्पना—यह इष्ट है या अनिष्ट इत्यादि मनोमय कोशका; इष्टानिष्टका निर्णय विज्ञानमय कोश (बुद्धितत्त्व) का और इष्टमें आनन्द-प्रतीति 'आनन्दमय कोश' का कार्य है।

(२) स्वप्नकी दूसरी दशा यह है कि द्रष्टा, सिंह आदि अनिष्ट पदार्थको देखकर भागना चाहता है, पर पांव काम नहीं देते, चल नहीं सकता, किसीको पुकारना चाहता है पर ज़बान नहीं खुलती, इसका कारण यह है कि इस दशामें आत्मासे प्राण-मय कोशका अध्यास छूट जाता है—(क्रिया प्राणमय कोशके सहारे होती है, इसलिये ऐसा होता है)—इस अवस्थामें शेष तीनों कोशोंका काम बराबर जारी रहता है, अर्थात् मनकी कल्पना, बुद्धिका निर्णय और इष्टमें आनन्दका भान, यह सब होता रहता है। उक्त दोनों प्रकारके स्वप्न सर्वसाधारणको होते हैं।

(३) स्वप्नकी तीसरी दशा यह है कि वस्तु (स्वप्न-दृष्ट) इष्ट या अनिष्ट सामने है, पर उसके सम्बन्धमें ग्रहण या परिहारकी कल्पना नहीं होती। द्रष्टा, तटस्थ बना देखता रहता है, यह 'विज्ञानमय कोश'का काम है, इसमें वस्तुका बोधमात्र होता है और यह स्वप्न प्रायः सत्यही होता है। इसी स्थितिकी उत्कृष्ट दशाका नाम योगमें 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा है। इसी प्रज्ञाके द्वारा वेदादिशास्त्रोंका यथार्थ भान होता है, इसमें सात्त्विक वासनाका लेश होता है।

(४) स्वप्नकी चौथी अवस्था वह है जिसमें 'दृश्य' कुछ नहीं होता, केवल आनन्दका आभास होता है क्योंकि इस अवस्थामें बुद्धिका व्यापार बन्द हो जाता है। यह दशा आनन्दमय कोशकी है, इसमें अन्य किसी कोशका सम्बन्ध-लेश भी नहीं रहता।

यह अन्तिम दोनों स्वप्न (३ रा, ४ था,) सिर्फ संयमी पुरुषको ही होते हैं। इसे ही 'सबीज' या 'सविकल्प' समाधि भी कह सकते हैं।

इन उक्त प्रकारके चारों स्वप्नोंकी दशासे परे पहुंचने पर जो भी अवस्था रहती है वही आत्मस्वरूपकी दशा, प्रत्यगवस्था अथवा विशुद्ध ज्ञान है।

इस प्रकार विचार करनेपर सिद्ध हुआ कि ये चारों स्वप्न हमारे विशुद्ध स्वरूपके मार्गके 'पड़ाव' हैं, जिन्हें पार करते—लांघते हुए हम अपने स्वरूपकी दशामें पहुंच सकते हैं, और वह निज-स्वरूप ही हमारी वास्तविक जाग्रदवस्था है। अर्थात्—जिसे संसार

भूलसे स्वप्न समझ रहा है वही विवेकी या मुनिकी दृष्टिमें जाग्रद्-वस्था है, क्योंकि विवेकीकी दृष्टि सदा अपने स्वरूपपर ही रहती है, बाह्य शारीरिक व्यापार करता हुआ भी मुनि अपने स्वरूप या लक्ष्यसे च्युत नहीं होता—सदा जागता रहता है—इसे ही 'जीव-न्मुक्त' दशा भी कहते हैं।

"शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।"

यह भगवदुक्ति ऐसे ही मुनिके सम्बन्धमें है।

उपसंहार—

स्वरूप-च्युतिकी चरमावस्था ही संसार है, जिसका यह प्रकार है—

स्वरूपावस्थासे ज़रा च्युत होकर जीव जब आनन्दमय कोशके सहारे आनन्दका अनुभव करता है—यद्यपि वह आनन्द अपने ही स्वरूपका है तथापि आनन्दमयाध्यासके कारण उसे अपनेसे पृथक् समझकर बाहर ढूँढनेका प्रयत्न करता है, और प्रयत्नके साधनोंमें सन्निहित विज्ञानमय कोश या बुद्धितत्त्वमें अध्यस्त होकर तादात्म्य भावको प्राप्त होकर भी उसे उस आनन्दके मूल कारणका पता नहीं चलता तो और आगे बढ़कर मनोमय कोशमें पहुंचता है और वहां तद्रूप हो रहता है, जब उसके संकल्प विकल्पसे भी कुछ पता नहीं चलता तो और आगे प्रयत्नके साधन-प्राणमय कोशमें जा पहुंचता है और उसमें अभिन्न हो रहता है, उसकी चेष्टासे भी जब काम नहीं चलता तो स्थूल व्यापारके साधन अन्नमय कोशकी शरणमें पहुंचता और उसके स्वरूपमें

अध्यस्त होकर पूरा 'बहिर्मुख' हो जाता है, और यही वह पांचवां स्वप्न या संसार है जो अज्ञानीकी 'जाग्रदवस्था' है।

उक्त श्लोकद्वारा भगवान्‌ने इसी निगूढ तत्त्वका उपदेश दिया है।

कैसा विचित्र व्यापार है कि समस्त प्राणी जिस दशामें अपने स्वरूप-मार्गकी ओर अग्रसर होते हैं उस असली 'जाग्रदवस्था' को तो 'स्वप्न' कहा जाता है और जो अपने स्वरूपसे पांचवीं मंज़िल इधर है, उसका नाम 'जाग्रदवस्था' रख दिया है!

वास्तविक स्वप्नका सिलसिला इस तरह शुरू होता है—कि अपने असली स्वरूपसे ज़रा सरककर आनन्दमय कोशको सीमामें पहला मनोहर स्वप्न देखता है। उसी आनन्दमय स्वप्नमें दूसरा स्वप्न विज्ञानमयका देखता है। फिर उसके अन्दर तीसरा मनोमय स्वप्न और इस तीसरेके भीतर चौथा प्राणमय तथा उसके आगे सबसे निकृष्ट स्वप्न 'अन्नमय'का है, और यही वह घोर संसारमय स्वप्न है जिसे हम जाग्रदवस्था समझकर धोका खा रहे हैं! इसमें संयमी सो रहा है—यही उसके लिये अन्धतमस रात्रि है, जिसमें देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता। जीवन्मुक्त संयमीका देखना सुनना आदि व्यापार ऐसा ही है जैसे अचेत सोते हुए बच्चेको उठाकर अचेतावस्थामें ही दूध पिला दिया जाता है, जिसके स्वाद आदिकी प्रतीति उसे नहीं होती, जागनेपर जब पूछा जाता है तो इन्कार करता है कि मुझे तो याद नहीं कब दूध पिया था!

ॐ ॐ ॐ
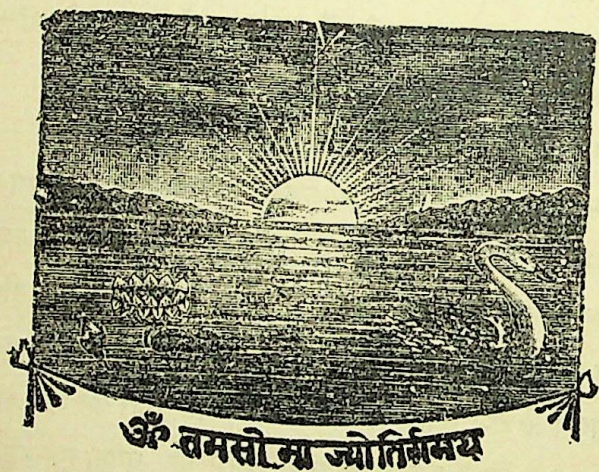
शुद्धि-पत्र

—:*:—

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मेल	मेले	१३	११
बदल	बदले	१३	२१
धमस्य	धर्मस्य	१४	१८
ग्लानिभवति	ग्लानिर्भवति	१४	१८
किई	क्रिया	२४	६
कनेकी	करनेकी	३६	१८
विद्यदादि	विद्यु दादि	५२	१७
अनठो	अनूठी	५२	२२
भट्टाचाय	भट्टाचार्य	५३	१
महानुमावों	महानुभावों	५३	११
अलङ्कत	अलङ्कृत	५४	१६
घूम	धूम	५५	२
दुघटना	दुर्घटना	५७	६
नातिक	नीतिक	७४	१३
अहयोग	असहयोग	७६	१६
ओर म० म०	ओरसे म० म०	८७	३
वैसो वैसी	वैसी	६२	२
धुनने	घुमते	६२	५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
गले	गये	९३	१८
याग	योग	९४	१७
पाबन्द थे	पाबन्द न थे	९५	२२
शर्वशून्या	सर्वशून्या	९६	७
पद रहे	पदपर रहे	१०२	६
सभ्यास	अभ्यास	१०३	१४
अम्बन्ध	सम्बन्ध	१०५	१२
तारा	तार	११०	२१
थवे	थके	११६	१०
सर्वा	सर्वो	११७	२०
श्वास श्वास	श्वास प्रश्वास	१२०	१२
पुसांससभ्येति	पुमांसमभ्येति	१२०	१४
छोड़ा	छोड़ो	१२२	८
दिग्गज न	दिग्गज लीडरोंसे भी न	१२५	७
पचड़में	पचड़ेमें	१२६	१४
सिन्दूरका	सिन्दूरको	१३४	१२
दसरी	दूसरी	१३६	२
रन	रैन	१४०	१
सायगा	सायगी	१४१	२२
होंगा	होंगी	१४२	४
अभिनान	अभिमान	१४२	१४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
वाको	वाकी	१४४	१
थोथो	थोथी	१४४	२
लखानो	लखानो है	१४८	३
प्यार	प्यारे	१४८	४
एक आज्ञा	यह आज्ञा	१६२	१६
जाती ही	जाती रही	१७१	२२
खालना	खोलना	१७३	२०
टट	टूट	१७४	१
ओर	और	१७४	१५
द्वितोयाद्	द्वितीयाद्	१७५	२१
आर	और	१८१	१
आर	और	१८३	७
ओचित्य	औचित्य	१८५	१३
मश्किल	मुश्किल	१८५	१७
की	कही	१८६	३
हक़गा	हक़गो	१८६	१६
वा	वो	१८७	६
कलमका	कलमको	१६२	१३
अथ	अर्थ	१६४	२२
उधर उधर	इधर उधर	२००	२३
उस्तरखवां	[illegible]	२०[illegible]	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सोफ़द	सोज़द	२१२	३
रहा	रही	२१४	५
जेसा	जैसा	२१५	५
मेरे	तेरे	२१६	६
दानशे	दानिशे	२२३	६
निष्टा	निष्ठा	२२६	३
गनदेम्	गन्देम्	२३५	२२
व्यसनकी	व्यसनका	२३६	२
परिमाण	परिणाम	२४४	११
अन्य भक्त	अनन्य भक्त	२४५	८
गलेमें	है ! गलेमें	२४६	२
जो अन्य	जो प्रायः अन्य	२५०	१६
के दूकानदार	दूकानदार	२५१	१५
मोलाना	मौलाना	२५३	१
दीघ	दीर्घ	२५४	१५
आवत	आवर्त	२५६	२४
विवत	विवर्त	२५६	२५
ख़शीके	ख़ुशीके	२५७	१७
नाक़स	नाक़ूस	२६५	७
देहादून	देहरादून	२६८	११

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
साहबक	साहबके	२७४	२१
उर्द	उर्दू	२७५	१५
उर्द	उर्दू	२७५	१६
कता	करता	२८०	१४
क	कि	२८६	१७
दपण	दर्पण	२६२	२२
चुटकीली	चुटकी ली	२६५	७
शिकयात	शिकायत	२६६	१३
कोमिटा	को मिटा	३००	१३
खद	खुद	३०१	१०
बालता	बोलता	३०३	११
ओर	और	३ ३	६
हा	हो	३१५	३
विश्वविद्यायमें	विश्वविद्यालयमें	३१७	२०
महावरोंमें	मुहावरोंमें	३२०	६
चाह	चाहे	३२०	२२
प्रयोग किया है	प्रयोग किया जाता है	३२१	१४
हा सकता	हो सकता	३२१	२३
बारन	धारन	३२७	१५
उर्दू के लेखक	उर्दू के लेखकों	३२८	१०
'ब रसना-	व रसना-	३३०	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
देश आर	देश और	३३१	१३
कल्पद्रम	कल्पद्रुम	३३३	१५
आगे बढ़	आगे बढ़ूँ	३३५	२३
३३	३३६	३३६	(पृष्ठ संख्या)
क़दमा	क़ुदमा	३४०	१५
खुशीसे	ख़ुशीसे	३४५	५
परेपा्	परेषाम्	३५५	१४
रचनाका	रचनाको	३४८	३
आ सकता	आ सकती	३५१	५
उमीदबार	उम्मीदवार	३५१	२३
नहीं	नहीं	३५२	१४
और वा	और	३५२	२१
माधर्य	माधुर्य	३५२	२३
वाम	काम	३५६	२०
गेदन	रोदन	३५७	६
कवियांने	कवियोंने	३५७	२३
विषयाँमें	विषयोंमें	३५६	२
हिन्दीने अभी	हिन्दीने भी	३६२	२
मौतविर	मौतबिर	३६५	१८
'हिन्दी	'हिन्दी'	३६८	६
ाहन्दोको	हिन्दीको	३६३	५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ट	पंक्ति
जा खट्टा	जी खट्टा	३८४	१३
मवाओ	मचाओ	३८४	२३
वन्द्रबिम्व	चन्द्रबिम्ब	३८४	२३
जगंनू	जुगनू	३८४	२४
नहां	नहीं	३८६	३
कतृपक्ष	कर्तृ-पक्ष	३८६	२०
दा एक	दो एक	३८७	१६
दरिद्रका भंडार	दरिद्रताका भंडार	३८७	२३
टथा पुष्ट	वृथा पुष्ट	३८७	२३
खशीका	ख़ुशीका	३६५	२३
ताड़ने	तोड़ने	३६७	१७
मूर्तिकी	मूर्तिको	३६७	२०
माइकेल—ओडायर	माइकेल-ओडायर	४००	४
सामन	सामने	४००	१६
द सकता	दे सकता	४००	२३
'नासह	'नासह'	४०२	१३
ओर	और	४०३	२
जुलफ़ोंकी	ज़ुल्फ़ोंकी	४०३	५
यनानियोंसे	यूनानियोंसे	४०६	२२
मिलायगे	मिलायेंगे	४१६	१८
सहायताकी	सहायता की	४१७	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ट	पंक्ति
थ	था	४२६	१
उदाहण	उदाहरण	४२६	२
शेखशादी	शेखसादी	४३०	१४
१३१	४३१	(पृष्ठ-संख्या)	

——

नोट—पाठक विश्वास करें प्रूफ, पढ़ने और शुद्धि-पत्र बनानेमें कमी नहीं की गई; फिर भी मनुष्य-स्वभाव-सुलभ प्रमादसे और कलकतिया टाइपकी क्षण-भङ्गुर मात्राओंके टूटनेसे अशुद्धियोंका निराकरण न हो सका, इसका खेद है। बची खुची अशुद्धियोंको पाठक अपनी समझसे ठीक कर लें। प्रेस औए प्रूफकी अशुद्धियोंके सम्बन्धमें श्रद्धेय पं० 'अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयीका यह कहना बिलकुल ठीक है कि भांगको कितना ही घोटा जाय फिर भी फोक निकलता ही है—प्रूफको कितना ही ध्यानसे देखा जाय तो भी अशुद्धियां रही जाती हैं!

——

पुस्तक-पारिजात-माला

हम इस पत्र-द्वारा हिन्दी प्रेमियोंका ध्यान एक ऐसी ग्रन्थमाला-की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिसके विषयमें हमें विश्वास है कि वह अपने गुणोंके कारण अवश्य ही उनके प्रेम और आदरकी वस्तु बन सकेगी। हमारी विनम्र प्रार्थना है कि वे हमारे इस प्रयत्नको अपनी परखकी कसौटीपर एक बार कसें और यदि इसमें उन्हें कुछ भी विशे-षता जान पड़े तो इसे अपनाकर हमारा उत्साह बढ़ाते हुए हिन्दीके हित-साधनमें सहायक हों।

अपनी भाषामें उच्च कोटिके साहित्यकी कैसी आवश्यकता है यह साहित्य-प्रेमियोंसे छिपा नहीं है। इस अभावकी पूर्ति भगीरथ-प्रयत्न बिना असम्भव है, पर उत्साह, उद्योग और साहित्य-सेवियोंके सहयोगसे हम उस पूर्तिकी दिशामें बहुत दूर जा सकते हैं। पुस्तक-पारिजात-मालाके आयोजनका उद्देश्य हिन्दी भाषाका भण्डार भरनेके लिये अच्छीसे अच्छी सामग्री जुटाना है। साहित्यिक दृष्टिसे जो वस्तु उत्कृष्ट नहीं है वह इसमें स्थान न पायेगी। सरलसे सरल और गहनसे गहन विषयोंपर इसमें पुस्तकें प्रकाशित होंगी, पर प्रत्येक पुस्तकके लेखक अपने विषयके पारंगत विद्वान् होंगे और उसका सम्पादन भी उसी कोटिके विद्वानसे कराया जायगा। शीघ्र ही इस सीरीज़में कई अच्छे मौलिक उपन्यास भी प्रकाशित होनेवाले हैं।

इस पुस्तक-मालाका प्रवेश-फ़ी ।।) है।

स्थायी ग्राहकोंको सभी पुस्तकें नियमानुसार पौन मूल्यपर मिलेंगी।

हमारे यहांकी पुस्तकें इन पतोंपर मिल सकती हैं :—

(१) भारती-पब्लिशर्स, लिमिटेड—मुरादपुर, पटना

(२) सरस्वती सदन, कल्यानी, मुंजफ़्फ़रपुर

(३) रामनाथ शर्म्मा, काव्यकुटीर-कार्यालय—
नायक नगला, पो० चांदपुर, (बिजनौर, यू० पी०)

मुरादपुर, पटना (बिहार) } निवेदक भारती-पब्लिशर्स लिमिटेड

पण्डित श्रीपद्मसिंह शर्मा-रचित

अन्य पुस्तकें—

१—विहारीकी सतसई (भूमिका भाग) २)

२—विहारीकी सतसई सञ्जीवन भाष्य २॥)

३—पद्म-पराग—विविध विषयक-लेख-संग्रह (प्रथम भाग) २॥।)

४—पद्म-पराग—समालोचनात्मक लेख-संग्रह द्वितीय भाग (छपता है)

५—प्रबन्ध-मञ्जरी—प० हृषीकेश भट्टाचार्यके संस्कृत निबन्धोंका संग्रह (छपता है)

पुस्तक-विक्रेताओंको यथेष्ट कमीशन दिया जाता है ।

पुस्तकें मँगानेवालोंको अपना पता साफ़ देवनागराक्षरोंमें लिखना चाहिए ।

पुस्तकें मँगानेका पता—

रामनाथशर्मा, C/o पं० काशीनाथ शर्मा काव्यतीर्थ,

काव्यकुटीर-कार्यालय,

गांव—नायक नगला,

पो० आ० चांदपुर

ज़िला—बिजनौर (यू० पी०) Chandpur, P. O.

(Bijnor, U. P.)

रेलवे-स्टेशन—चांदपुर स्याऊ, ई० आई० आर०,

Ry St. Chandpur Siau,

E. I. R.